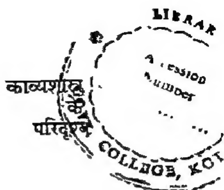
काव्यशास्त्र के परिदृश्य



उन सब ग्रन्थकारों को,

जिन्होंने मुझे जीवन में नई राहें दिखायीं

— सत्यदेव चौधरी

— समसर्वगुणौ सन्तौ सुहृदाविव संगतौ ।
परस्परस्य शोभायै शब्दार्थौ भवतो यथा ॥

— कुन्तक

— यदवक्रं वचः शास्त्रे लोके च वच एव तत् ।
वक्रं यदर्थवादादौ तस्य काव्यमिति स्मृतिः ॥

— भोजराज

—येषां काव्यानुशीलनाभ्यासवशाद् विशदीभूते मनोमुकुरे वर्णनीयतन्मयीभवनयोग्यता, ते हृदयसंवादभाजः सहृदयाः ।

— अभिनवगुप्त

— दृष्टपूर्वा ह्यर्था काव्ये रसपरिग्रहात् ।
सर्वे नवा इवाभान्ति मधुमास इव द्रुमाः ॥

— आनन्दवर्धन

— यस्मिन्नशेषविद्यास्थानार्थविभूतयः प्रकाशन्ते ।
संहत्य, स साहित्यप्रकाश एतादृशो भवति ॥

—भोजराज



काव्यशास्त्र के परिदृश्य

[वैदिक युग से आधुनिक युग तक]

डॉ० सत्यदेव चौधरी
शास्त्री, एम ए (संस्कृत, हिन्दी), पीएच डी
पूर्व रीडर, हिन्दी विभाग, दिल्ली विश्वविद्यालय
पूर्व प्रोफ़ेसर, इन्स्टीच्यूट आफ इण्डॉलोजी, ट्यूबिगन युनिवर्सिटी (जर्मनी)

परिमल पब्लिकेशन्स
दिल्ली



प्रकाशक·
परिमल पब्लिकेशन्स
२७/२८, शक्तिनगर
दिल्ली ११०००७


प्रथम संस्करण १९८३
द्वितीय परिवर्द्धित संस्करण १९९४

मूल्य २५० रुपये

मुद्रक राज आफसैट प्रेस
आजादपुर, दिल्ली



द्वितीय संस्करण

लगभग दस वर्ष पूर्व 'काव्यशास्त्र के परिदृश्य' ग्रन्थ को अलकार प्रकाशन, दिल्ली ने प्रकाशित किया था, और अब 'परिमल प्रकाशन, दिल्ली' इसका पुनर्मुद्रण कर रहे हैं। इस संस्करण मे हिन्दी-काव्यशास्त्र-विषयक चार लेख सम्मिलित नही किये गए, और सस्कृत-काव्यशास्त्र से सम्बद्ध तीन नए लेख जोड दिये गये हैं। मेरा 'भारतीय काव्यशास्त्र' नामक ग्रन्थ सस्कृत काव्यशास्त्र का सिद्धान्तपक्ष प्रस्तुत करता है तथा 'भारतीय शैलीविज्ञान' इस शास्त्र का व्यवहार पक्ष। इधर, इस ग्रन्थ में इस शास्त्र से सम्बद्ध बहुविध सामग्री प्रस्तुत की गई है। अपने इन तीनो ग्रन्थों मे गुण निसन्देह औरों के हैं, और दोष मेरी समझ के। विद्वानों के सत्परामर्श का मैं अभिलाषी हूँ—

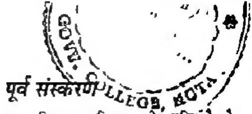
आ परितोषाद् विदुषां न साधु मन्ये प्रयोग-विज्ञानम्

(नही समझता प्रयोग को अपने, सफल मै तब तक,

मर्मज्ञ कला के, तोष न पाए, इससे जब तक।)

२ अक्टूबर, १९९४ —सत्यदेव चौधरी

मर्मज्ञैः काव्यतत्त्वस्य कृतं यदि विमर्शनम्।
सर्वथा स्याच्छिरोधार्यं मम तुष्टिप्रदं परम्॥



पूर्व संस्करण

मेरे इस ग्रन्थ में भारतीय-काव्यशास्त्र विषयक बहुविध सामग्री संकलित है, और साथ ही इसकी कालावधि भी काफी लम्बी है—वैदिक युग से लेकर आधुनिक युग तक ।

इस ग्रन्थ में २१ लेख हैं, जिनमें से अधिकतर पिछले लगभग डेढ दशक में समय-समय पर लिखे गये हैं । ग्रन्थ तीन खण्डों में विभक्त है, और इनमें क्रमश ५, ९ और ७ लेख हैं। पहले खण्ड में काव्यशास्त्र के विविध पक्षों पर प्रकाश डाला गया है । दूसरे और तीसरे खण्ड के २ लेखों—क्रम-सख्या १३ और १४—को छोड कर शेष १४ लेख या तो किसी एक ग्रन्थ अथवा ग्रन्थ-वर्ग से सम्बद्ध हैं, या फिर, किसी एक आचार्य अथवा आचार्य-वर्ग से। दूसरे खण्ड में सस्कृत-भाषा मे लिखित काव्यशास्त्रीय सामग्री का विवेचन है और तीसरे खण्ड में हिन्दी, बँगला और अग्रेजी में लिखित सामग्री का । इस ग्रन्थ के अधिकतर लेख मेरे पूर्व प्रकाशित ग्रन्थ 'भारतीय काव्यशास्त्र' में स्थान नही पा सकते थे, क्योंकि उसमें विषयानुरूप एक भिन्न क्रम का निर्वहण किया गया है । अत इन्हें पृथग् रूप से प्रस्तुत किया जा रहा है ।

इन लेखों में प्रस्तुत सामग्री के चयन और उसके व्यवस्थापन से ही यदि आपको सन्तोष मिल जाए तो इसी में मुझे प्रसन्नता होगी—'मौलिकता' नाम की वस्तु तो सचमुच एक प्रविरल एव दुर्लभ वस्तु है ।

दिल्ली-११०००९ —सत्यदेव चौधरी
२ अक्तूबर, १९८३

तत्र पूर्वमनन्यात्म तुच्छात्म तदनन्तरम् ।
तृतीयं तु प्रसिद्धात्म नान्यसाम्यं त्यजेत्कविः ॥

ध्वन्यालोक – ४।३१



विषय-सूची

(खण्ड १)

(खण्ड २)

१. संस्कृत के प्रमुख काव्यशास्त्री



सस्कृत के काव्यशास्त्रीय उपलब्ध ग्रन्थो के आधार पर भरत मुनि को काव्य-शास्त्र का प्रथम आचार्य माना जाता है। उनका समय ३य-२य शती ई० पू० और २य-३य शती ईस्वी के बीच माना गया है। इस परम्परा के अन्तिम उद्भावक आचार्य पण्डितराज जगन्नाथ (१७वी शती) है। इस प्रकार लगभग डेढ-दो सहस्र वर्षों का यह शास्त्रीय साहित्य अपनी व्यापक विषय-सामग्री, अपूर्व एव तर्क-सम्मत विवेचन-पद्धति और अधिकांशतः प्रौढ एव गम्भीर शैली के कारण, तथा विशेषतः नूतन मान्यताओं को प्रस्तुत करने के बल पर भारतीय वाङ्मय मे अपना विशिष्ट स्थान रखता है। जहाँ तक इन आचार्यों मे से भरत, भामह, वामन, आनन्दवर्द्धन, कुन्तक, महिमभट्ट, जगन्नाथ आदि जैसे उद्भावक आचार्यों द्वारा प्रस्तुत मान्यताओ एवं धारणाओं का प्रश्न है, वे सम्भवतः विद्वद्गोष्ठियों मे भी प्रचलित रही होंगी। किन्तु ग्रन्थाकार-रूप मे इन्हे प्रस्तुत करने का श्रेय इन्ही आचार्यों को ही है। सम्भावना यह भी है कि अनेक ग्रन्थ उपलब्ध न भी हो, किन्तु उनकी अनुपलब्धि-पर्यन्त इन्ही आचार्यों को यह श्रेय मिलता रहेगा।

कतिपय प्रख्यात एवं उद्भावक आचार्यों का सक्षिप्त परिचय इस प्रकार है :

१. भरत

भरत मुनि की ख्याति नाट्यशास्त्र के प्रणेता के रूप मे है, पर उनके जीवन और व्यक्तित्व के विषय मे इतिहास अभी तक मौन है। इस सम्बन्ध मे विद्वानो का एक मत यह भी है कि भरत वस्तुतः एक काल्पनिक मुनि का नाम है। संस्कृत के प्राचीन महाकाव्यों के उल्लेखानुसार नाटक के नट को 'भरत' कहा जाता था। नाट्यविधान के जो तत्त्व समय-समय पर निर्मित होते गये, उनका संग्रह 'भरत' (नाटकीय नट) के नाम पर कर दिया गया। सग्रहकारो मे विशेष उल्लेखनीय नाम कोहल का है, और उसके पश्चात् शाण्डिल्य, दत्तिल और मतंग का। सम्भव है कि भरत नामक किसी मुनि का भी इस संग्रह को प्रस्तुत करने मे प्रमुख हाथ रहा हो। अस्तु ! इस ग्रन्थ का संग्रह-काल ३य शती ई० पू० से लेकर ३य शती ई० के बीच माना जाता है।

नाट्यशास्त्र के दो संस्करण उपलब्ध हैं—(१) काव्यमाला बम्बई (निर्णय-सागर) का संस्करण, और (२) काशी संस्कृत-सीरीज काशी (चौखम्बा) का संस्करण। इनमें क्रमशः ३६ और ३७ अध्याय हैं। बड़ौदा से भी गायकवाड़ ओरिएण्टल-सीरीज़ में 'अभिनवभारती' सहित नाट्यशास्त्र का प्रकाशन दो खण्डों (नं० ३६ और ६८) में हुआ है, पर वह अभी तक अपूर्ण है। रायल-एशियाटिक सोसाइटी आफ बंगाल द्वारा नाट्यशास्त्र के प्रथम २७ अध्यायों का अंग्रेज़ी-अनुवाद भी प्रकाशित हो चुका है। अनुवादक हैं—श्री० एम. एन. घोष। इसके अतिरिक्त दिल्ली विश्वविद्यालय के हिन्दी-विभाग द्वारा 'हिन्दी अभिनवभारती' नाम से नाट्यशास्त्र के प्रथम, द्वितीय तथा षष्ठ अध्यायों की हिन्दी-व्याख्या मूल-पाठ तथा टीका-भाग सहित प्रकाशित करायी गयी है। व्याख्याकार हैं—आचार्य विश्वेश्वर।

नाट्यशास्त्र नाट्यविधानों का एक अमर विश्वकोश है। नाट्य की उत्पत्ति, नाट्यशाला, विभिन्न प्रकार के अभिनय, नाटकीय सन्धियाँ, वृत्तियाँ, संगीतशास्त्रीय सिद्धान्त आदि इसके प्रमुख विषय हैं। इनके अतिरिक्त ६ठे, ७वें और १७वें अध्यायों में काव्यशास्त्रीय अंगों—रस, गुण, दोष, अलंकार तथा छन्द का भी निरूपण हुआ है। नायक-नायिका-भेद का भी इस ग्रन्थ में निरूपण है। स्वाधीनपतिका आदि आठ नायिकाओं का उल्लेख सर्वप्रथम इसी ग्रन्थ में उपलब्ध है। ग्रन्थकार रसवाद का पूर्ण समर्थक है। रस-स्वरूप-निर्देशक प्रसिद्ध सूत्र, तथा रसनिष्पत्ति-विषयक अन्य प्रचुर सामग्री भी इसी ग्रन्थ में उपलब्ध है। विषय के स्पष्टीकरण के लिए इसी प्रसंग में गद्य का भी आश्रय लिया गया है।

नाट्यशास्त्र के प्राचीन व्याख्याकारों में से निम्नोक्त नाम प्रसिद्ध हैं—उद्भट, लोल्लट, शंकुक, भट्टनायक, भट्टतौत (तोत) और अभिनवगुप्त। इन में से केवल अभिनवगुप्त की ही टीका 'अभिनवभारती' उपलब्ध है। शेष टीकाकारों का उल्लेख सर्वप्रथम इसी टीका में मिलता है। सम्भावना यह भी है कि इन टीकाकारों की टीकाएं स्वतन्त्र ग्रन्थों के रूप में कभी निर्मित ही न हुई हों। केवल इनके मान्य सिद्धान्त ही मौखिक रूप में प्रचलित रहे हों। अस्तु !

२. भामह

भामह काश्मीर-निवासी कहे जाते हैं। इनका जीवन-काल षष्ठ शतक ई० का मध्यकाल माना गया है। इनका प्रसिद्ध ग्रन्थ काव्यालंकार है। इसका अन्य नाम भामहालंकार भी है। इस ग्रन्थ में ६ परिच्छेद हैं और कुल ४०० श्लोक। इसमें इन विषयों का निरूपण किया गया है—काव्यशरीर, अलंकार, दोष, न्याय-निर्णय और शब्दशुद्धि।

भामह अलंकारवाद के समर्थक थे। इन्होंने 'वक्रोक्ति' को सब अलंकारों का मूल माना है। काव्य का लक्षण सर्वप्रथम इन्होंने प्रस्तुत किया है। दस के स्थान पर

तीन काव्यगुणों की स्वीकृति भी इन्होंने सर्वप्रथम की है, तथा वैदर्भ और गौड नामक काव्यरीतियों के 'प्रदेशाभिधान' का भी इन्होंने सर्वप्रथम खण्डन किया है। इनके ग्रन्थ की महत्ता का प्रमाण इससे भी ज्ञात होता है कि उद्भट जैसे उद्भट आचार्य ने 'भामह-विवरण' नाम से इनके ग्रन्थ पर भाष्य लिखा था। आज यदि यह भाष्य उपलब्ध हो तो उसमें भामह-सम्मत सिद्धान्तों के स्पष्टीकरण में अत्यधिक सहायता मिलती।[1] अलङ्कारवाद के अन्य प्रस्थान आचार्य दण्डी भी भामह के अधिकांश रूप में ऋणी हैं। इनके अतिरिक्त उद्भट ने अपने ग्रन्थ 'काव्यालंकारसारसंग्रह' के निर्माण में दण्डी के अतिरिक्त भामह का भी आधार ग्रहण किया है।

३ दण्डी

दण्डी का समय सप्तम शती का उत्तरार्द्ध माना गया है। इनके तीन ग्रन्थ उपलब्ध हैं—काव्यादर्श, दशकुमारचरित और अवन्तिसुन्दरीकथा। प्रथम ग्रन्थ काव्यशास्त्र-विषयक है, और शेष दो गद्य-काव्य हैं। काव्यादर्श में तीन परिच्छेद हैं और श्लोकों की कुल संख्या ६६० है। प्रथम परिच्छेद में काव्य-लक्षण, काव्य-भेद, रीति और गुण का निरूपण है और द्वितीय परिच्छेद में अलंकारों का। तृतीय परिच्छेद में यमक, चित्र-बन्ध और प्रहेलिका के अतिरिक्त दोषों का भी निरूपण किया गया है।

दण्डी अलंकारवाद के समर्थक थे। काव्य के विभिन्न अंगों का अलंकार में ही अन्तर्निहित समझना इनका मान्य सिद्धान्त था। यहां तक कि रस, भाव आदि को भी इन्होंने रसवदादि अलंकार माना है। भामह के समान इन्होंने भी वैदर्भ और गौड ये दो काव्य-रूप माने हैं, तथा इन्हें 'मार्ग' नाम दिया है। गौड मार्ग की अपेक्षा वैदर्भ मार्ग इन्हें अधिक प्रिय था, फिर भी गौड मार्ग को इन्होंने सर्वथा हेय और त्याज्य नहीं कहा। हां, अपेक्षाकृत हीन अवश्य माना है। अलंकारों के लक्षणों में इन पर भामह का प्रभाव है। दस गुणों और दस दोषों के स्वरूप-निर्धारण में इन्होंने भरत से साक्षात् अथवा असाक्षात् रूप में सहायता ली प्रतीत होती है।

काव्यादर्श अत्यन्त लोकप्रिय ग्रन्थ रहा है। [कहा जाता है कि सिंहली और कन्नड भाषाओं के काव्यशास्त्रीय ग्रन्थों, क्रमशः 'सिय-बस-लकर' और 'कविराजमार्ग', पर काव्यादर्श का स्पष्ट प्रभाव है।] संस्कृत में इस ग्रन्थ पर अनेक टीकाएं रची गयीं। तरुणवाचस्पति की टीका के अतिरिक्त हृदयंगमा, प्रभा आदि टीकाएं विशेष उल्लेखनीय हैं। एस. के. बेलवल्कर महोदय ने इस ग्रन्थ का अंग्रेजी में भी

---

१. सम्भवतः अब 'चौखम्बा' से प्रकाशित।

अनुवाद प्रस्तुत किया है। हिन्दी में इस ग्रन्थ के अनेक अनुवाद उपलब्ध है—जैसे श्री ब्रजरत्नदास, श्री रामचन्द्र मिश्र आदि के।

४ उद्भट

उद्भट कश्मीरी राजा जयापीड के सभा-पण्डित थे। इनका समय नवम शती का पूर्वार्द्ध है। इनके तीन ग्रन्थ प्रसिद्ध हैं—काव्यालंकारसारसंग्रह, भामह-विवरण और कुमारसम्भव। इनमें से केवल प्रथम ग्रन्थ उपलब्ध है, जिसके ६ वर्गों में अलंकारों के लक्षण-उदाहरण प्रस्तुत किये गये हैं। अलंकारों के स्वरूप-निर्देश में प्रायः भामह का आश्रय लिया गया है। कुछ अलंकारों के उदाहरण स्वरचित कुमारसम्भव काव्य से भी लिये गये हैं। उद्भट अलंकारवादी आचार्य थे। दण्डी के समान ये भी रस, भाव आदि को रसवदादि अलंकारों के अन्तर्गत मानते थे। इन अलंकारों को सर्वप्रथम व्यवस्थित रूप देने का श्रेय इनको है। अनुप्रास अलंकार के अन्तर्गत उपनागरिका आदि वृत्तियों के निरूपण करने की जो शैली आगे चलकर मम्मट ने चलायी, उसका मूलाधार भी यही ग्रन्थ काव्यालंकारसारसंग्रह है। इस ग्रन्थ पर दो टीकाएं उपलब्ध हैं—राजानक तिलक की उद्भट-विवेक और प्रतिहारेन्दुराज की लघुवृत्ति।

उद्भट-प्रणीत 'भामह-विवरण' अप्राप्य है[१], पर आनन्दवर्द्धन, प्रतिहारेन्दुराज, अभिनवगुप्त, रुय्यक, मम्मट, जगन्नाथ आदि ने उद्भट-सम्मत जिन सिद्धान्तों का उल्लेख बार-बार बड़े समादर के साथ किया है, उनका मूल स्रोत यही ग्रन्थ प्रतीत होता है।

५. वामन

उद्भट के समान वामन भी कश्मीरी राजा जयापीड के सभा-पण्डित थे। इनका समय ८०० ई० के आसपास है। इनका प्रसिद्ध ग्रंथ काव्यालंकारसूत्रवृत्ति है। काव्यशास्त्रीय ग्रन्थों में यह पहला सूत्र-बद्ध ग्रन्थ है। सूत्रों की वृत्ति भी स्वयं वामन ने लिखी है। इस ग्रन्थ में ५ अधिकरण हैं। प्रत्येक अधिकरण में कुछ अध्याय हैं, और हर अध्याय में कुछ सूत्र। ग्रन्थ के पाँचों अधिकरणों में अध्यायों की संख्या १२ है, और सूत्रों की संख्या ३१९। प्रथम अधिकरण में काव्य-प्रयोजनादि के उल्लेख के उपरान्त रीति के तीन भेदों तथा काव्य के विभिन्न प्रकारों का निरूपण है। अगले तीन अधिकरणों में क्रमशः दोष, गुण और अलंकारों का विवेचन है, तथा अन्तिम अधिकरण में शब्दशुद्धि-समीक्षा है।

वामन रीतिवादी आचार्य थे। इन्होंने रीति को काव्य की आत्मा माना है। इनके मतानुसार गुण रीति के आश्रित हैं। गुण काव्य के नित्य अंग हैं, और अलंकार अनित्य अंग। रस को इन्होंने 'कान्ति' नामक गुण से अभिहित किया है। वामन पहले आचार्य हैं, जिन्होंने वक्रोक्ति को लक्षणा का पर्याय मानते हुए इसे अर्थालंकारो मे स्थान दिया है।

काव्यालंकारसूत्रवृत्ति के संस्कृत, अंग्रेजी और हिन्दी तीनो भाषाओ मे अनुवाद अथवा भाष्य प्रकाशित हो चुके हैं। हिन्दी-भाष्य आचार्य विश्वेश्वर ने प्रस्तुत किया है, तथा इसकी सारगर्भित, गम्भीर एवं विस्तृत भूमिका डॉ० नगेन्द्र ने लिखी है।

६. रुद्रट

रुद्रट नाम से कश्मीरी आचार्य मालूम पड़ते हैं। इनका जीवन-काल नवम शती का आरम्भ माना जाता है। इनके ग्रन्थ का नाम काव्यालंकार है, जिसमे १६ अध्याय हैं और कुल ७३४ पद्य। १६ अध्यायो मे से ८ अध्यायो में अलंकारो को स्थान मिला है, और शेष अध्यायो में काव्यस्वरूप, काव्यभेद, रीति, दोष, रस और नायक-नायिका-भेद का निरूपण है। यद्यपि रुद्रट अलंकारवादी युग के आचार्य हैं, किन्तु भरत के उपरान्त रस का व्यवस्थित और स्वतंत्र निरूपण इनके ग्रन्थ मे उपलब्ध है। नायक-नायिका-भेद का विस्तृत निरूपण भी इन्होंने सर्वप्रथम किया है। नायिका के प्रसिद्ध तीन भेद स्वकीया, परकीया और सामान्या का उल्लेख सर्वप्रथम इसी ग्रन्थ मे मिलता है। प्रेयान् रस की सर्वप्रथम चर्चा भी रुद्रट ने की है, तथा अलंकारों का वर्गीकरण भी सबसे पहले इन्होंने प्रस्तुत किया है। इस प्रकार रुद्रट काव्यशास्त्रीय आचार्यों मे अपना विशिष्ट स्थान रखते हैं। कुछ विद्वान् इन्हें अलकारवादी मानते हैं, किन्तु अलकार की अपेक्षा रस के प्रति इनका झुकाव कहीं अधिक है। वस्तुत., रुद्रट उधर ध्वनि-पूर्ववर्ती और इधर ध्वनि-परवर्ती आचार्यों के बीच एक अनिवार्य कड़ी हैं। इस ग्रन्थ की दो हिन्दी-व्याख्याएं उपलब्ध हैं। व्याख्याकार हैं—(१) इस ग्रन्थ के लेखक, तथा (२) आचार्य रामदेव मिश्र।

७. आनन्दवर्द्धन

आनन्दवर्द्धन कश्मीर के राजा अवन्तिवर्मा के सभापण्डित थे। इनका जीवन-काल नवम शती का मध्य भाग है। इनकी ख्याति 'ध्वन्यालोक नामक अमर ग्रन्थ के कारण है। ग्रन्थ के दो प्रमुख भाग हैं—कारिका और वृत्ति। यद्यपि इस विषय में विद्वानो का मतभेद है कि इन दोनो भागो का कर्त्ता एक व्यक्ति है या दो हैं, पर अधिकतर विद्वान् आनन्दवर्द्धन को ही दोनों भागों का कर्त्ता मानते हैं।

इस ग्रंथ मे चार उद्योत हैं, और ११७ कारिकाएं। प्रथम उद्योत मे तीन प्रकार के ध्वनिविरोधियों—अभाववादी, भक्तिवादी और अलक्षणीयतावादी—का खण्डन

अनुवाद प्रस्तुत किया है। हिन्दी मे इस ग्रन्थ के अनेक अनुवाद उपलब्ध हैं—जैसे श्री ब्रजरत्नदास, श्री रामचन्द्र मिश्र आदि के।

४ उद्भट

उद्भट कश्मीरी राजा जयापीड के सभा-पण्डित थे। इनका समय नवम शती का पूर्वार्द्ध है। इनके तीन ग्रन्थ प्रसिद्ध हैं—काव्यालंकारसारसंग्रह, भामह-विवरण और कुमारसम्भव। इनमे से केवल प्रथम ग्रन्थ उपलब्ध है, जिसके ६ वर्गों मे अलंकारो के लक्षण-उदाहरण प्रस्तुत किये गये हैं। अलंकारो के स्वरूप-निर्देश मे प्रायः भामह का आश्रय लिया गया है। कुछ अलंकारो के उदाहरण स्वरचित कुमारसम्भव काव्य से भी लिये गये हैं। उद्भट अलंकारवादी आचार्य थे। दण्डी के समान ये भी रस, भाव आदि को रसवदादि अलंकारो के अन्तर्गत मानते थे। इन अलंकारो को सर्वप्रथम व्यवस्थित रूप देने का श्रेय इनको है। अनुप्रास अलंकार के अन्तर्गत उप-नागरिका आदि वृत्तियो के निरूपण करने की जो शैली आगे चलकर मम्मट ने चलायी, उसका मूलाधार भी यही ग्रन्थ काव्यालंकारसारसंग्रह है। इस ग्रन्थ पर दो टीकाएं उपलब्ध हैं—राजानक तिलक की उद्भट-विवेक और प्रतिहारेन्दुराज की लघुवृत्ति।

उद्भट-प्रणीत 'भामह-विवरण' अप्राप्य है[१], पर आनन्दवर्द्धन, प्रतिहारेन्दु-राज, अभिनवगुप्त, रुय्यक, मम्मट, जगन्नाथ आदि ने उद्भट-सम्मत जिन सिद्धान्तो का उल्लेख बार-बार बड़े समादर के साथ किया है, उनका मूल स्रोत यही ग्रन्थ प्रतीत होता है।

५. वामन

उद्भट के समान वामन भी कश्मीरी राजा जयापीड के सभा-पण्डित थे। इनका समय ८०० ई० के आसपास है। इनका प्रसिद्ध ग्रंथ काव्यालंकारसूत्रवृत्ति है। काव्यशास्त्रीय ग्रन्थो मे यह पहला सूत्र-बद्ध ग्रन्थ है। सूत्रो की वृत्ति भी स्वयं वामन ने लिखी है। इस ग्रन्थ मे ५ अधिकरण हैं। प्रत्येक अधिकरण मे कुछ अध्याय हैं, और हर अध्याय में कुछ सूत्र। ग्रन्थ के पाँचो अधिकरणो मे अध्यायो की संख्या १२ है, और सूत्रो की संख्या ३१९। प्रथम अधिकरण में काव्य-प्रयोजनादि के उल्लेख के उपरान्त रीति के तीन भेदों तथा काव्य के विभिन्न प्रकारो का निरूपण है। अगले तीन अधिकरणो मे क्रमशः दोष, गुण और अलंकारो का विवेचन है, तथा अन्तिम अधिकरण मे शब्दशुद्धि-समीक्षा है।

---

१ देखिए पृष्ठ १३, पा० टि० १

वामन रीतिवादी आचार्य थे। इन्होंने रीति को काव्य की आत्मा माना है। इनके मतानुसार गुण रीति के आश्रित हैं। गुण काव्य के नित्य धर्म हैं, और अलंकार अनित्य धर्म। रस को इन्होंने 'कान्ति' नामक गुण से अभिहित किया है। वामन पहले आचार्य हैं, जिन्होंने वक्रोक्ति को लक्षणा का पर्याय मानते हुए इसे अर्थालंकारो मे स्थान दिया है।

काव्यालंकारसूत्रवृत्ति के संस्कृत, अंग्रेजी और हिन्दी तीनों भाषाओं मे अनुवाद अथवा भाष्य प्रकाशित हो चुके हैं। हिन्दी-भाष्य आचार्य विश्वेश्वर ने प्रस्तुत किया है, तथा इसकी सारगर्भित, गम्भीर एवं विस्तृत भूमिका डॉ॰ नगेन्द्र ने लिखी है।

६. रुद्रट

रुद्रट नाम से कश्मीरी आचार्य मालूम पड़ते हैं। इनका जीवन-काल नवम शती का आरम्भ माना जाता है। इनके ग्रन्थ का नाम काव्यालंकार है, जिसमे १६ अध्याय हैं और कुल ७३४ पद्य। १६ अध्यायों मे से ८ अध्यायों मे अलंकारों को स्थान मिला है, और शेष अध्यायों मे काव्यस्वरूप, काव्यभेद, रीति, दोष, रस और नायक-नायिका-भेद का निरूपण है। यद्यपि रुद्रट अलंकारवादी युग के आचार्य हैं, किन्तु भरत के उपरान्त रस का व्यवस्थित और स्वतन्त्र निरूपण इनके ग्रन्थ में उपलब्ध है। नायक-नायिका-भेद का विस्तृत निरूपण भी इन्होंने सर्वप्रथम किया है। नायिका के प्रसिद्ध तीन भेद स्वकीया, परकीया और सामान्या का उल्लेख सर्वप्रथम इसी ग्रन्थ मे मिलता है। प्रेयान् रस की सर्वप्रथम चर्चा भी रुद्रट ने की है, तथा अलंकारों का वर्गीकरण भी सबसे पहले इन्होंने प्रस्तुत किया है। इस प्रकार रुद्रट काव्यशास्त्रीय आचार्यों मे अपना विशिष्ट स्थान रखते हैं। कुछ विद्वान् इन्हें अलंकारवादी मानते हैं, किन्तु अलंकार की अपेक्षा रस के प्रति इनका झुकाव कहीं अधिक है। वस्तुतः, रुद्रट उधर ध्वनि-पूर्ववर्ती और इधर ध्वनि-परवर्ती आचार्यों के बीच एक अनिवार्य कड़ी हैं। इस ग्रन्थ की दो हिन्दी-व्याख्याएं उपलब्ध हैं। व्याख्याकार हैं—(१) इस ग्रन्थ के लेखक, तथा (२) आचार्य रामदेव मिश्र।

७. आनन्दवर्द्धन

आनन्दवर्द्धन कश्मीर के राजा अवन्तिवर्मा के सभापण्डित थे। इनका जीवन-काल नवम शती का मध्य भाग है। इनकी ख्याति 'ध्वन्यालोक' नामक अमर ग्रन्थ के कारण है। ग्रन्थ के दो प्रमुख भाग हैं—कारिका और वृत्ति। यद्यपि इस विषय में विद्वानों का मतभेद है कि इन दोनों भागों का कर्त्ता एक व्यक्ति है या दो हैं, पर अधिकतर विद्वान् आनन्दवर्द्धन को ही दोनों भागों का कर्त्ता मानते हैं।

इस ग्रंथ में चार उद्योत हैं, और ११७ कारिकाएं। प्रथम उद्योत में तीन प्रकार के ध्वनिविरोधियों—अभाववादी, भक्तिवादी और अलक्षणीयतावादी—का खण्डन

किया गया है, तथा ध्वनि का स्वरूप प्रतिपादित किया गया है। द्वितीय और तृतीय उद्योत में ध्वनि-भेदों का विस्तृत निरूपण है। प्रसंगवश गुण, अलंकार, संघटना और रस-विरोधी तत्त्वों (दोषों) का भी इसी उद्योत में यथेष्ट निरूपण है। अभिधा और लक्षणा के होते हुए भी ध्वनि की स्थिति क्यों आवश्यक है, इस विषय पर भी तृतीय उद्योत में प्रकाश डाला गया है, तथा गुणीभूतव्यंग्य-काव्य और चित्र-काव्य का स्वरूप भी निर्दिष्ट किया गया है। चतुर्थ उद्योत में ध्वनि से सम्बद्ध स्फुट प्रसंगों का पर्याप्त विवेचन है।

काव्यशास्त्रीय आचार्यों में आनन्दवर्द्धन एक युगान्तकारी आचार्य हैं। इन्होंने ध्वनि को काव्य की आत्मा माना। यद्यपि इन्होंने रस को ध्वनि का ही भेद माना है, पर रसध्वनि के प्रति अन्य ध्वनि-भेदों की अपेक्षा इन्होंने अधिक समादर प्रकट किया है। यही कारण है कि अब अलंकार बाह्य आभूषण के रूप में रस के उपकारक मात्र बन गये और वह भी अनिवार्य रूप से नहीं। गुण रीति के विशिष्ट धर्म न होकर रस के ही नित्य धर्म बन गये। रीति संघटना-मात्र तथा रसोपकर्त्री बन गयी। दोषों का अनौचित्य तथा उनकी नित्यानित्य-व्यवस्था रस पर ही आधृत हो गयी। निष्कर्ष यह कि इन्होंने काव्यशास्त्रीय विधान को नयी दिशा की ओर मोड़ दिया। अब भामह, दण्डी, उद्भट और वामन के सिद्धान्त इनके ध्वनि-सिद्धान्त के आगे न केवल बदल गये अपितु मन्द पड़ गये। इनके प्रतिभाशाली व्यक्तित्व ने काव्यशास्त्रीय आचार्यों में विभाजन-रेखा खींचकर इन्हें दो भागों में विभक्त कर दिया—पूर्वध्वनिकालीन आचार्य और उत्तरध्वनिकालीन आचार्य।

ध्वन्यालोक के प्रधान टीकाकार अभिनवगुप्त हैं। टीका का नाम 'लोचन' है। ध्वन्यालोक के प्रथम उद्योत का अंग्रेजी-अनुवाद, तथा सम्पूर्ण ग्रन्थ की हिन्दी-व्याख्या प्रकाशित हो चुकी है। व्याख्याकार आचार्य विश्वेश्वर हैं। 'लोचन' टीका-सहित इस ग्रन्थ की हिन्दी-व्याख्या डॉ० रामसागर त्रिपाठी ने प्रस्तुत की है।

८ अभिनवगुप्त

अभिनवगुप्त दशम शती के अन्त और एकादश शती के आरम्भ में विद्यमान थे। इनका काव्यशास्त्र के साथ-साथ दर्शन-शास्त्र पर भी समान अधिकार था। यही कारण है कि काव्यशास्त्रीय विवेचन को आप अत्यन्त उच्च स्तर पर ले गये—ध्वन्यालोक पर 'लोचन' और नाट्यशास्त्र पर 'अभिनव-भारती' नामक टीकाएँ इसके प्रमाण हैं। इन टीकाओं के गम्भीर एवं स्वस्थ विवेचन तथा मार्मिक व्याख्यान के कारण इन्हें स्वतन्त्र ग्रन्थ का ही महत्त्व प्राप्त है, और अभिनवगुप्त को टीकाकार के स्थान पर 'आचार्य' जैसे महामहिमशाली पद से सुशोभित किया जाता है। 'लोचन' और 'अभिनवभारती' में स्थान-स्थान पर इनके गुरुओं—भट्टेन्दुराज और

भट्टतौत (तौत) के सिद्धान्तों का उल्लेख भी बड़े समादर के साथ किया गया है। इनके अतिरिक्त भरत-सूत्र के अन्य व्याख्याताओं—शंकुक, लोल्लट तथा भट्टनायक के सिद्धान्तों की चर्चा भी इन टीकाओं में की गयी है। इस प्रकार ये दोनों टीकाएँ सैद्धान्तिक क्रमिक विकास को प्रतिपादित करने की दृष्टि से अत्यन्त महत्त्वपूर्ण बन गयी हैं। अभिनवगुप्त का 'अभिव्यक्तिवाद' रससिद्धान्त में एक प्रौढ एवं व्यवस्थित वाद है, यद्यपि इस वाद का समय-समय पर खण्डन किया गया, किन्तु फिर भी यह वाद अद्यावधि अचल बना हुआ है।

'अभिनवभारती' (१म, २य, ६ठ अध्याय) की हिन्दी-व्याख्या आचार्य विश्वेश्वर-कृत उपलब्ध है। 'लोचन' की हिन्दी-व्याख्या डॉ० रामसागर त्रिपाठी ने प्रस्तुत की है। अभिनवगुप्त-प्रणीत दर्शनशास्त्र के कतिपय ग्रन्थों के नाम हैं—ईश्वर-प्रत्यभिज्ञा-विमर्शिणी, तन्त्रसार और परमार्थसार।

६. राजशेखर

राजशेखर विदर्भ (बरार) के निवासी थे, और कन्नौज के प्रतिहारवंशी महेन्द्रपाल और महीपाल के राजगुरु थे। इनका जीवन-काल दशम शती का प्रथमार्द्ध माना गया है। काव्यशास्त्र से सम्बद्ध काव्यमीमांसा नामक इनका एक ग्रन्थ प्रसिद्ध है, जो १८ भागों या अधिकरणों में विभक्त है, पर अभी तक 'कविरहस्य' नामक एक ही भाग प्राप्त हो सका है, जिसे सर्वप्रथम गा० ओ० सी० बड़ौदा ने, और फिर बिहार-राष्ट्रभाषा-परिषद् ने हिन्दी-अनुवाद-सहित प्रकाशित कराया। इस भाग में १८ अध्याय हैं, जिनमें काव्य-स्वरूप, काव्य-भेद, काकु-वक्रोक्ति, रीति-प्रकार, कवि-भेद, आलोचक-भेद, कविचर्या, राजचर्या, राजदरबारी वैभव, शब्दहरण, अर्थहरण, कवि-समय, काल-विभाग आदि नवीन एवं पुरातन विषयों का अद्भुत और विशद सग्रहात्मक निरूपण है। इनके अतिरिक्त स्थान-स्थान पर भौगोलिक तथ्यों का उल्लेख आचार्य की 'यायावर'[1] वंश से उत्पत्ति की सार्थकता घोषित करता है। साहित्यविद्यावधू और काव्य-पुरुष की यात्रा की काल्पनिक कथा में एक ही साथ काव्य के तीन अंगों—वृत्ति, रीति और प्रवृत्ति का देशपरक स्वरूप-निर्देश किया गया है। इससे राजशेखर की इतिहास-प्रवृत्ति, भूगोल-रुचि तथा साहित्यिक कल्पना-शक्ति का भी परिचय मिलता है। इस ग्रन्थ के आरम्भ में अनेक अप्रख्यात आचार्यों का नामोल्लेख है, जो कि भारतीय काव्यशास्त्रकी विशाल परम्परा और उसके महान् साहित्य का परिचायक है। निस्सन्देह अपने प्रकार का यह सग्रह-ग्रन्थ एक निराला एवं अभिनव प्रयास है, जो कि अनेक दृष्टियों से ऐतिहासिक महत्त्व रखता है।

---

१. निरन्तर चलने फिरने वाले गृहस्थ ऋषि।

राजशेखर के अन्य ग्रन्थ हैं—बालरामायण, बालभारत, कर्पूरमंजरी (प्राकृत) और विद्धशालभंजिका।

१० धनंजय और धनिक

कहा जाता है कि धनंजय और धनिक दोनों भाई थे। वे दसवीं शती के अन्त में विद्यमान थे। धनंजय का ग्रन्थ दशरूपक है, और धनिक ने उस पर 'अवलोक' नामक टीका लिखी है, जो विद्वत्तापूर्ण और सारगर्भित है। दशरूपक नाट्यशास्त्र से सम्बद्ध ग्रन्थ है। इसमें चार प्रकाश और लगभग ३०० कारिकाएँ हैं। प्रथम प्रकाश में सन्धि आदि नाटकीय अंगों का निरूपण है, और द्वितीय प्रकाश में नायक-नायिका-भेद का। तृतीय प्रकाश में दृश्य काव्य का सांगोपांग निरूपण है, और अन्तिम प्रकाश में रस-विवेचन है। रसनिष्पत्ति के विषय में इन्होंने व्यंजनावाद को अस्वीकृत कर तात्पर्यवाद का समर्थन किया है। 'साधारणीकरण' के प्रसंग में इन्होंने सर्वप्रथम कवि-तत्त्व का समर्थ शब्दों में निर्देश किया है। शान्त रस को ये काव्य में तो ग्राह्य मानते हैं, पर नाटक में नहीं।

भरतमुनि का नाट्यशास्त्र एक तो विशाल ग्रन्थ था, तथा दूसरे कई शताब्दियों तक केवल काव्यशास्त्रीय ग्रन्थों का ही अविरत सर्जन होता रहा। इन दोनों कारणों से पाठक नाट्यविधानों से अपरिचित-सा होता जा रहा था। धनंजय ने अपने इस लघु किन्तु सारगर्भित ग्रन्थ द्वारा साहित्य-मर्मज्ञों को नाट्यशास्त्रीय विधान की ओर आकृष्ट किया। परिणाम-स्वरूप सागरनन्दी और रामचन्द्र-गुणचन्द्र जैसे आचार्यों ने नाट्यशास्त्र-सम्बन्धी ग्रन्थ लिखे, तथा विश्वनाथ जैसे आचार्य ने अपने सकल-काव्यांगनिरूपक ग्रन्थ साहित्यदर्पण में नाट्य-विधान से भी सम्बद्ध एक परिच्छेद सम्मिलित कर दिया। अस्तु।

इस ग्रन्थ की संस्कृत में कई टीकाएँ हैं। इधर हिन्दी में भी दो टीकाएँ उपलब्ध हैं—एक, डॉ॰ गोविन्द त्रिगुणायत द्वारा प्रणीत, और दूसरी, डॉ॰ भोलाशंकर व्यास द्वारा प्रणीत।

११ कुन्तक

कुन्तक का समय दशम शती का अन्त तथा एकादश शती का आरम्भ माना जाता है। इनकी प्रसिद्धि 'वक्रोक्तिजीवितम्' नामक ग्रन्थ के कारण है। इसमें चार उन्मेष हैं। प्रथम उन्मेष में काव्य का प्रयोजन तथा वक्रोक्ति का स्वरूप और उसके छह भेद निर्दिष्ट किये गये हैं। द्वितीय उन्मेष में वक्रोक्ति के प्रथम तीन भेदों—वर्ण-विन्यासवक्रता, पदपूर्वार्द्धवक्रता तथा प्रत्ययवक्रता का वर्णन है। तृतीय उन्मेष में वाक्यवक्रता का विस्तृत निरूपण है, तथा अन्तिम उन्मेष में अन्तिम दो भेदों—प्रकरणवक्रता और प्रबन्धवक्रता का विवरण है।

कुन्तक प्रतिभासम्पन्न आचार्य थे। इन्होने वक्रोक्ति को काव्य का 'जीवित' माना। इसके उक्त छह भेदो मे काव्य के सभी अगो को अन्तर्भूत किया। कुन्तक की मौलिकता स्तुत्य है। इन्होने सर्वप्रथम अलकारो की वर्द्धमान सख्या को स्थिर करने का मार्ग दिखाया। स्वभावोक्ति अलकार के सम्बन्ध मे इनकी धारणा साहसपूर्ण है, और रसवदादि अलकारो का विवेचन नितान्त मौलिक है। वैदर्भादि मार्गों के 'प्रदेशाभिधानवाद का इन्होने प्रबल शब्दो मे खण्डन किया है, तथा परम्परा से हट कर इन्होने नवीन गुणो का उल्लेख किया है।

उपलब्ध प्रतियो मे ग्रन्थ के प्रथम दो उन्मेष तो पूर्ण है, पर अन्तिम दो खण्डित हैं। इस ग्रन्थ का आचार्य विश्वेश्वर-प्रणीत हिन्दी भाष्य भी उपलब्ध है। इसके मूलपाठ मे अधिकतर खण्डित पाठ को आचार्य जी ने अपने विचारानुसार जोड दिया है, तथा कही-कही शुद्ध भी किया है। इसकी गम्भीर एव मार्मिक भूमिका डॉ० नगेन्द्र ने लिखी है।

१२. महिम भट्ट

महिम भट्ट कश्मीर-निवासी प्रतीत होते हैं। इनका समय ११वी शती का प्रथम चरण है। इनकी कृति का नाम व्यक्तिविवेक है, जिसका शाब्दिक अर्थ है व्यक्ति अर्थात् व्यजना का विवेक। ग्रन्थ मे तीन विमर्श हैं। महिम भट्ट अनुमानवादी आचार्य थे। किन्तु इन्होने इस ग्रन्थ का नाम 'अनुमानवाद' से सम्बन्धित न करके व्यक्ति (व्यजना) से किया है, पर आज का समालोचक एव मनोवैज्ञानिक इसे हीन-भावना की प्रतिक्रिया कहेगा। अस्तु।

इस ग्रन्थ के प्रथम और तृतीय विमर्श मे इन्होने आनन्दवर्द्धन-सम्मत ध्वनि-सिद्धान्त को अनुमान मे अन्तर्भूत करके अपने विलक्षण पाण्डित्य का परिचय दिया है। पर महिमभट्ट के अनुमानवाद का अनुसरण नही हुआ। यहा तक कि इस ग्रन्थ के ही टीकाकार रुय्यक ने, जो ध्वनिवाद के समर्थक थे, इस वाद का खण्डन तथा उपहास किया है। द्वितीय विमर्श का सम्बन्ध दोष से है, जिसे इन्होने 'अनौचित्य' नाम दिया है। मम्मट ने जिन दोषो को अपने ग्रन्थ मे निरूपित किया है, उनमे से पाच दोषो के लिए वे महिम भट्ट के ऋणी है। यह ग्रन्थ गम्भीर गद्य-शैली मे लिखित होने के कारण पर्याप्त रूप मे जटिल है। इस ग्रन्थ का हिन्दी-विवेचन डॉ ब्रजमोहन चतुर्वेदी ने प्रस्तुत किया है।

१३. क्षेमेन्द्र

क्षेमेन्द्र कश्मीर-निवासी थे। वे ११वी शती के उत्तरार्द्ध मे विद्यमान थे। इन के तीन ग्रन्थ प्रसिद्ध हैं—औचित्यविचारचर्चा, सुवृत्ततिलक और कविकण्ठाभरण।

प्रथम ग्रन्थ में प्रौचित्य को लक्ष्य में रखकर इन्होंने वाणी के विभिन्न अंगों—वाक्य, गुण, रस, क्रिया, करण, लिंग, उपसर्ग, देश, स्वभाव आदि का स्वरूप निर्धारित किया है। द्वितीय ग्रन्थ में छन्द के औचित्य का निर्देश है। तीसरा ग्रन्थ कवि-शिक्षा से सम्बद्ध है। इस ग्रन्थ की ५ सन्धियों में क्रमशः कवित्व-प्राप्ति के उपाय, कवियों के भेद, काव्य के गुण तथा दोष का विवेचन है। क्षेमेन्द्र के ये ग्रन्थ लघुकाय है, पर इनमें काव्य के बहुविध अंगों पर प्रकाश डाला गया है। यद्यपि 'औचित्य' कोई नया तत्त्व नहीं है, आनन्दवर्द्धन 'औचित्य' शब्द को और महिम भट्ट 'अनौचित्य' शब्द को अपने दोष-प्रकरणों में स्थान दे आये थे, पर इसी के आधार पर समस्त काव्यांगों को निर्धारित कर देना क्षेमेन्द्र की मौलिक प्रतिभा का परिचायक है। कुछ विद्वान् प्रौचित्य को भी काव्यशास्त्र का एक सिद्धान्त मानने लगे हैं, पर हमारे विचार में यह काव्यशास्त्रीय विधानों में से एक आवश्यक विधान है, यह कोई स्वतन्त्र सिद्धान्त नहीं है। इस ग्रन्थ की हिन्दी-टीका डॉ० मनोहरलाल गौड़ ने प्रस्तुत की है। डॉ० सूर्यकान्त शास्त्री ने अंग्रेजी में 'क्षेमेन्द्र स्टडीज' नाम से, और श्री रामपाल विद्यालंकार ने हिन्दी में 'क्षेमेन्द्र की औचित्य-दृष्टि' नाम से, क्षेमेन्द्र की मान्यताओं पर विशिष्ट प्रकाश डाला है।

१४ भोजराज

भोजराज धारा के नरेश थे। इनका जीवन-काल ११ वीं शती का प्रथमार्द्ध है। भोज कवियों के आश्रयदाता होने के अतिरिक्त स्वयं भी प्रगाढ़ आलोचक एवं काव्यशास्त्री थे। काव्यशास्त्र से सम्बद्ध इनके दो ग्रन्थ उपलब्ध हैं—सरस्वतीकण्ठा-भरण और शृंगारप्रकाश। ये दोनों ग्रन्थ विशाल-काय है। प्रथम ग्रन्थ में पांच परिच्छेद हैं। इनमें दोष, गुण, अलंकार और रस का विशद और संग्रहात्मक विवेचन है। स्थान-स्थान पर प्राचीन आचार्यों के उद्धरणों से यह ग्रन्थ भरा पड़ा है। शृंगार-प्रकाश में ३६ प्रकाश हैं। प्रथम आठ प्रकाशों में व्याकरण-सम्बंधी सिद्धान्तों का प्रति-पादन है। अगले चार प्रकाशों में गुण, दोष, महाकाव्य और नाटक का विवेचन है, तथा अन्तिम २४ प्रकाशों में रस का सांगोपांग विशद निरूपण है। भोज का प्रमुख सिद्धान्त है—केवल शृंगार रस की मान्यता तथा इसी में अन्य रसों का अन्तर्भाव। पर शृंगार के विषय में भोज की धारणा परम्परागत शृंगार रस से नितान्त विभिन्न है। शृंगारप्रकाश अभी तक अप्रकाशित है, पर डॉ० राघवन के अंग्रेजी भाषा में लिखित प्रबंध भोज'स् शृंगारप्रकाश से इस ग्रन्थ का सम्यक् परिचय मिल जाता है। भोजराज के उपर्युक्त दोनों ग्रन्थों को 'काव्यशास्त्रीय विश्वकोष' कहना चाहिए। सरस्वतीकण्ठाभरण पद्यबद्ध ग्रन्थ है, और इस की शैली सरल सुबोध है, किन्तु शृंगारप्रकाश गम्भीर और प्रौढ शैली में रचित गद्य-पद्यबद्ध ग्रन्थ है। इन दो विभिन्न शैलियों को देखकर सहज अनुमान होता है कि इन ग्रन्थों के कर्ता कदाचित् भिन्न-भिन्न व्यक्ति हैं, और यह अनुमान भोजराज जैसे आश्रयदाता के विषय में

ठीक भी हो सकता है। सम्भव है दो विभिन्न आचार्यों ने ये ग्रन्थ लिखकर भोजराज के नाम पर समर्पित कर दिये हों, किन्तु फिर भी निश्चयपूर्वक कुछ नहीं कहा जा सकता। हिन्दी में भोज के इन दोनों ग्रन्थों की हिन्दी-व्याख्या अत्यन्त अपेक्षित है।

१५ मम्मट

मम्मट कश्मीर के निवासी माने जाते हैं। इनका जीवनकाल ११वीं शती का उत्तरार्द्ध है। इनकी प्रख्याति 'काव्यप्रकाश' के कारण है, जिसमें दस उल्लास हैं। प्रथम उल्लास में काव्यलक्षण, काव्यप्रयोजन, काव्यहेतु तथा काव्यभेदों की चर्चा है। अगले दो उल्लासों में शब्दशक्ति का विवेचन है। चतुर्थ उल्लास में ध्वनिभेदों तथा उनके अन्तर्गत रस-भावादि का गम्भीर विवेचन है। पंचम उल्लास में गुणीभूतव्यंग्य-काव्य के भेदों के स्वरूप-निर्देश के उपरान्त ध्वनि की स्थापना की गयी है। षष्ठ उल्लास में चित्र-काव्य का संक्षिप्त-सा परिचय है, तथा अन्तिम चार उल्लासों में क्रमशः दोष, गुण, शब्दालंकार तथा अर्थालंकार का निरूपण है। अनुप्रास नामक शब्दालंकार के अन्तर्गत वृत्तियों अथवा रीतियों की भी चर्चा की गयी है। इस प्रकार उनका यह ग्रन्थ सर्वाङ्गपूर्ण बन गया है।

काव्यशास्त्र के आचार्यों में मम्मट का योगदान अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है। इनके निरूपण की प्रमुख विशेषता है अपने समय तक की काव्यशास्त्रीय सभी विषय-सामग्री का स्वच्छ एवं उपादेय संकलन, तथा उसका ध्वनि-सम्प्रदाय की दृष्टि से व्यवस्था-पूर्ण सम्पादन। यह ग्रन्थ इतना सुव्यवस्थित और सुसम्बद्ध है कि अद्यावधि इसके अध्ययन के बिना काव्यशास्त्र का ज्ञान अपूर्ण समझा जाता है। मम्मट ने ध्वनि-सम्प्रदाय की पुष्टि करने के लिए अनुमानवादी, अभिधावादी, लक्षणावादी आदि आचार्यों का प्रबल तर्कों द्वारा खण्डन प्रस्तुत कर ध्वनि की स्थापना की है। अभिनव-गुप्त की 'अभिनवभारती' अथवा अन्य स्रोतों से भरतसूत्र के चार व्याख्याताओं, भट्ट लोल्लट आदि, के व्याख्यान को इन्होंने अत्यन्त संक्षिप्त किन्तु सारगर्भित एवं सुसम्बद्ध शैली में इतनी परिपूर्णता से प्रस्तुत किया है कि काव्यशास्त्र के विद्यार्थी को मूल स्रोत के अध्ययन की विशेष आवश्यकता नहीं रहती। इससे एक हानि भी हुई—मूल स्रोत धीरे-धीरे लुप्त हो गये। पर हाँ, इससे मम्मट की प्रतिष्ठा में क्षति होने के स्थान पर वृद्धि ही हुई है।

काव्यप्रकाश की अन्य विशेषता है—तीन गुणों की स्वीकृति और उनमें वामन-सम्मत २० गुणों का समाहार। दोष-निरूपण का विस्तार इस ग्रन्थ की अन्य उल्लेखनीय विशेषता है। ध्वनि-सम्प्रदाय के समर्थक होने के नाते इन्होंने आनन्द-वर्द्धन के समान अन्य काव्याङ्गों का स्वरूप रस-ध्वनि के आधार पर स्थिर किया है।

मम्मट की इन विशिष्टताओं का प्रभाव आगामी आचार्यों पर भी पड़ा। विश्वनाथ जैसे आचार्य ने, जिसने मम्मट के काव्यलक्षण का बुरी तरह से खण्डन किया है, अपने ग्रन्थ के निर्माण के लिए कुछ-एक स्थलों को छोड़कर प्रायः शेष सामग्री काव्य-प्रकाश से ही लेकर उसे पद्यबद्ध कर दिया है। इधर हिन्दी के रीतिकालीन सर्वांग-निरूपक आचार्यों को भी साक्षात् अथवा असाक्षात् रूप से काव्यप्रकाश की शरण लिये बिना अन्य मार्ग नहीं सूझा।

इस ग्रन्थ की ख्याति और उपादेयता का परिचय इससे भी मिलता है कि संस्कृत में इस पर ७० से अधिक टीकाएँ रची गयी हैं, जिनमें से मौलिकता की दृष्टि से गोविन्द ठक्कुर की 'काव्यप्रदीप' टीका सर्वश्रेष्ठ है, और सरलता की दृष्टि से भट्ट वामन की बालबोधिनी। हिन्दी में भी कई टीकाएँ उपलब्ध हैं। इस महान् ग्रन्थ की हिन्दी-व्याख्याएँ आचार्य विश्वेश्वर तथा डा० सत्यव्रतसिंह ने प्रस्तुत की हैं। आचार्यजी की व्याख्या अनेक दृष्टियों से महत्त्वपूर्ण है। इस ग्रन्थ के अंग्रेजी में भी कई अनुवाद उपलब्ध हैं।

१६ रुय्यक

रुय्यक काश्मीर-निवासी थे। इनका समय १२वीं शती का मध्यकाल है। इनका प्रसिद्ध ग्रन्थ 'अलंकारसर्वस्व' है। इन्होंने 'व्यक्तिविवेक' पर भी टीका लिखी थी। पर इसमें उन्होंने महिम भट्ट के अनुमानवाद का खण्डन दरसाया है, तथा इस स्थान पर उसका उपहास भी किया है। अलंकारसर्वस्व अलंकारों का प्रौढ़ एवं प्रामाणिक ग्रन्थ है। इसमें दो नवीन अलंकारों—विकल्प और विचित्र का समावेश किया गया है। अलंकारों की पृथक्सत्ता अथवा अर्थान्तरता का आधार मम्मट ने 'अन्वयव्यतिरेक-सम्बन्ध' को माना था, किन्तु रुय्यक ने 'आश्रयाश्रयिभाव' को माना है। रुय्यक के ग्रन्थ की एक अन्य विशिष्टता है इसके आरम्भ में अपने पूर्ववर्ती आचार्यों के विभिन्न सिद्धान्तों के सम्बन्ध में सारगर्भित, सामिक और तुलनात्मक समीक्षण का समावेश। यह समीक्षण जितना संक्षिप्त है, उतना ही महत्त्वपूर्ण और सुसम्बद्ध है। इनका ग्रन्थ अलंकार-विषयक है, किन्तु इसी आधार पर इन्हें भामह आदि के समान अलंकारवादी नहीं कहना चाहिए। ये अलंकार-निरूपक तो हैं, पर इन्हें अलंकारवादी किसी रूप में नहीं कहना चाहिए।

१७ विश्वनाथ

विश्वनाथ कदाचित् उड़ीसा के निवासी थे। इनका समय १४वीं शती का पूर्वार्द्ध है। इनकी ख्याति साहित्यदर्पण नामक ग्रन्थ के कारण हुई है। इसमें दस परिच्छेद हैं। प्रथम परिच्छेद में काव्यस्वरूप काव्यभेद आदि का निरूपण है द्वितीय में शब्दशक्ति का, और तृतीय में रस और नायक-नायिका-भेद का। चतुर्थ

परिच्छेद मे ध्वनि तथा गुणीभूतव्यंग्य के प्रकारो का विवेचन है। पचम परिच्छेद में व्यजना वृत्ति की स्थापना की गयी है। षष्ठ परिच्छेद मे दृश्य काव्य का सागोपाग निरूपण है। अन्तिम चार परिच्छेदो मे क्रमश- दोप, गुण, रीति और अलकार का निरूपण है।

विश्वनाथ ने मम्मट, आनन्दवर्द्धन, कुन्तक, भोजराज आदि के काव्य-लक्षणो का खण्डन प्रस्तुत करने के उपरान्त रस को काव्य की आत्मा घोषित करते हुए काव्य का लक्षण निर्धारित किया है। सब से घोर खण्डन मम्मट के काव्यलक्षण का किया गया है, किन्तु फिर भी अपने ग्रन्थ की अधिकाश सामग्री के लिए वे मम्मट के ही ऋणी हैं। आश्चर्य तो यह है कि रस को काव्य की आत्मा मानते हुए भी इन्होने आनन्दवर्द्धन तथा मम्मट के समान रस को ध्वनि के एक भेद—'असलक्ष्य-क्रमव्यग्य' ध्वनि का अपर नाम—माना है। अलकारो के स्वरूप-निर्देश के लिए इन्होने मम्मट के अतिरिक्त रुय्यक से भी सहायता ली है।

साहित्यदर्पण अत्यन्त लोकप्रिय ग्रन्थ रहा है। इस का एक ही कारण है काव्यप्रकाश की सूत्रबद्ध और समास-प्रधान शैली की तुलना मे सुबोध शैली मे प्राय: पद्यबद्ध सिद्धान्त-प्रतिपादन। इसी विशेषता के द्वारा विश्वनाथ ने अपना विशिष्ट स्थान बना लिया है। पर मौलिक प्रतिभा और आचार्यत्व की दृष्टि से इन की देन अधिक नही है। मम्मट और विशेषत. आनन्दवर्द्धन एव कुन्तक के काव्य-लक्षणो के खण्डन मे इतना सार नही है, जितना दुराग्रह अथवा पूर्वाग्रह है। वस्तुत वे खण्डन केवल खण्डन के लिए ही हैं। इनके ग्रन्थ की उल्लेखनीय विशिष्टता है—नायक-नायिका-भेद तथा दृश्य काव्य के भेदोपभेदो का समावेश। इन प्रसगो के लिए वे धनजय के ऋणी हैं, पर यहा भी सुबोध शैली इनकी अपनी है।

साहित्यदर्पण पर जीवानन्द शास्त्री की सस्कृत-टीका तथा शालग्राम शास्त्री की 'विमला' नामक हिन्दी-टीका अति प्रख्यात है। इसकी हिन्दी-व्याख्या डॉ॰ सत्यव्रत-सिंह ने भी प्रस्तुत की है। विश्वनाथ का दूसरा ग्रन्थ है—काव्यप्रकाशदर्पण, जिसमे काव्यप्रकाश पर टीका लिखी गयी है, पर वह अनुपलब्ध है।

१८. जगन्नाथ

जगन्नाथ का यौवनकाल दिल्ली के प्रसिद्ध शासक शाहजहा के दरबार में बीता था। शाहजहा ने ही इन्हे 'पण्डितराज' की उपाधि से विभूषित किया था। अत इनका समय १७वी शती का मध्यभाग है। इनकी प्रसिद्ध रचना 'रसगगाधर' है, जो अपूर्ण है। इसमे दो आनन हैं। प्रथम आनन मे काव्य-लक्षण, काव्यहेतु तथा काव्यभेदो के निरूपण के पश्चात रस, रसदोप तथा गुण आदि का सागोपाग विशद व्याख्यान है। द्वितीय आनन मे ध्वनि के विभिन्न भेदोपभेदो के विवेचन के उपरान्त

अभिधा तथा लक्षणा का विवेचन है, और इसके बाद अलंकार-निरूपण प्रारम्भ हो जाता है। ७० अलंकारों के निरूपण के पश्चात् ग्रन्थ का अगला भाग उपलब्ध नहीं है। अधिक सम्भावना यही है कि इसके आगे ग्रन्थ लिखा ही न गया हो।

जगन्नाथ का काव्यलक्षण अधिकांशत परिपूर्ण तथा सुबोध है। इन्होंने काव्य के चार भेद माने हैं—उत्तमोत्तम, उत्तम, मध्यम तथा अधम। ये ध्वनि-वादी आचार्य थे, फिर भी रस के प्रति इन्होंने अधिक समादर प्रकट किया है। भरत-सूत्र पर उपलब्ध ग्यारह व्याख्याओं का विशुद्ध संकलन भी इसी ग्रन्थ में किया गया है। इन्होंने सर्वप्रथम गुण को रस के अतिरिक्त शब्द, अर्थ और रचना का भी धर्म समान रूप से स्वीकार किया है।

जगन्नाथ की समर्थ भाषा-शैली, सिद्धान्त-प्रतिपादन की अद्भुत एवं परिपक्व विचार-शक्ति, और खण्डन करने की विलक्षण प्रतिभा इन्हें प्रौढ़ एवं सिद्धहस्त आचार्य मानने को बाध्य करती है। भाषा की कठिनता के कारण विद्वानों की ज्ञान-परीक्षा के लिए रसगंगाधर ग्रन्थ भले ही एक निकष रहा हो, पर सामान्य पाठक इसे नहीं अपना सके। किन्तु इससे पण्डितराज के गम्भीर पाण्डित्य की कोई क्षति नहीं होती। इस ग्रन्थ की अनेक हिन्दी-व्याख्याएं उपलब्ध हैं। जैसे, एक पुरुषोत्तम शर्मा चतुर्वेदी द्वारा प्रणीत और दूसरी प० मदनमोहन झा द्वारा प्रणीत।

रसगंगाधर के अतिरिक्त काव्यशास्त्र से सम्बद्ध इनका एक अन्य ग्रन्थ भी उपलब्ध है—चित्रमीमांसा-खण्डन। इसमें अप्पय्यदीक्षित के अलंकार-विषयक ग्रन्थ चित्रमीमांसा की कटु शैली में किन्तु यथार्थ आलोचना प्रस्तुत की गयी है।

• • •

२. वैदिक साहित्य में काव्यशास्त्र के स्रोत

काव्य के अध्ययन के दो सहज परिणाम हैं—आस्वाद-प्राप्ति और गुण-दोष-परीक्षण, और ये दोनो परस्पर असम्पृक्त तथा अन्योन्याश्रित हैं। अध्ययन करते समय हम गुण-दोष-परीक्षण करते चलते हैं तथा उसी के अनुरूप साथ ही साथ हमें काव्यास्वाद भी प्राप्त होता रहता है। आस्वाद-प्राप्ति के पश्चात् जब कभी हम किसी काव्य का गुण-दोष-परीक्षण करने लगते हैं तो आस्वाद-प्राप्ति पृष्ठाधार बनकर इस कार्य मे हमारी सहायता करती है। इस प्रकार काव्य का समीक्षण और आस्वादन परस्पर असम्पृक्त हैं, किन्तु नामकरण उसी का होता है जिसका प्राधान्य रहता है। जो अप्रधान होता है वह आधार, पोषक एव साधन बना रहता है, और जो प्रधान होता है वह आधेय, पोष्य एव साध्य।

काव्य-समीक्षा का आरम्भ भरत मुनि के नाट्यशास्त्र से माना जा सकता है, यद्यपि जनश्रुति एव दन्तकथा इसकी परम्परा शिव से स्वीकृत करती है,[1] किन्तु नाट्यशास्त्र से इतर किसी काव्यशास्त्रीय ग्रन्थ की उपलब्धि-पर्यन्त यह श्रेय भरत मुनि को मिलता रहेगा। इनसे पूर्व निस्सन्देह कोई काव्यशास्त्रीय ग्रन्थ तो उपलब्ध नही है, पर काव्य-समीक्षा-विषयक सकेत एव स्रोत वैदिक साहित्य से ही मिलना आरम्भ हो जाते है। कुछ स्थल लीजिए—

—देवकृत काव्य को देखो जो कि अमर तो है ही, यह कभी जीर्णता को भी प्राप्त नही होता। —देवस्य पश्य काव्यम्, न ममार न जीर्यति। (अथर्ववेद १०.८.३२) *। वाल्मीकि और कालिदास, शेक्सपियर और मिल्टन, तुलसी और प्रसाद, आदि* महान् ऋषियों के काव्य भी अजर-अमर है।

—काव्य के मर्म को सहृदय ही जानता है, बेचारा असहृदय, काव्य का पाठमात्र करने वाला व्यक्ति, जो कि अर्थों को नही जानता, तो बस उस स्तम्भ के समान है जो केवल भार उठाये हुए है। उसकी स्थिति ऐसे है जैसे अग्नि के बिना ईंधन का ढेर पड़ा हो—रूखा-सूखा और दीप्ति-हीन।[2] किन्तु जो अर्थ को—वास्तविक मर्म को—जानता है वही 'भद्र' (सुकल्याण : काव्यास्वाद) का भोगी है। वही ज्ञान के द्वारा

१. काव्यमीमासा (राजशेखर), पृष्ठ ३, देखिए आगे पृष्ठ ३६

२. यद् गृहीतमविज्ञातं निगदेनैव शब्द्यते।
अनग्नाविव शुष्कैधो न तज्ज्वलति कर्हिचित्॥

सकल पापों—सांसारिक पूर्वाग्रहों से—विमुक्त होकर [काव्यानन्द-रूपी] स्वर्ग को प्राप्त करता है।[1]

—[काव्य के मर्म का अज्ञाता] अन्धा भी है और बहरा भी। वह तो वाणी (काव्य) को देखता हुआ भी नहीं देखता, इसे सुनता हुआ भी नहीं सुनता। किन्तु जो इसका ज्ञाता है उसके आगे तो यह वाणी अपना सर्वस्व खोलकर रख देती है—ठीक ऐसे, जैसे एक ऋतु-स्नाता पत्नी अपने पति को चाहती हुई उसे अपना सर्वस्व समर्पित कर देती है।[2]

—जो मन्त्रों के अक्षरों और अर्थों को नहीं जानता, वह केवल ऋचाओं [के पाठमात्र] से भला क्या लाभ प्राप्त कर सकता है?[3] इधर काव्यशास्त्रीय ग्रन्थों में काव्य को भी शब्द और अर्थ के सहितभाव पर आधारित मानकर उसके बहुविध लक्षण स्थिर करने के प्रयास किये गये हैं। 'वागर्थ' के इस 'सम्पृक्तभाव' का स्रोत कदाचित् उपर्युक्त प्रकार के वेद-वचन माने जा सकते हैं।

काव्य-समीक्षा का एक ध्येय यह भी होता है कि पाठक को चुनी हुई अर्थात् उत्कृष्ट सामग्री का ज्ञान हो जाए, जिससे कि वह प्रत्येक प्रकार के काव्य-पठन के श्रम से बच सके। समीक्षक उत्कृष्ट साहित्य को पाठक के आगे ऐसे उपस्थित कर देता है जैसे कि छालने में से छने हुए सत्तू। वस्तुत: स्वयं कवि भी काव्य-रचना करते समय शब्द-चयन करता चलता है। अनेक पर्यायवाची शब्दों में से वह एक ऐसे शब्द का प्रयोग करता है जो उसके अभीष्ट भाव को प्रकट करता है—शब्द और अर्थ का यह सहित-भाव, जिसके कारण साहित्य 'साहित्य' कहाता है, कवि की चयन-शक्ति पर आधारित रहता है। वैदिक ऋषि मानो इसी भाव को लक्षित करते हुए कहता है—*'जो धीर जन अपने मन से वाणी को इस प्रकार से छानते हुए, जैसे कि कोई छलनी*

---

१ स्थाणुरयं भारहारः किलाभूदधीत्य वेदं न विजानाति योऽर्थम्।
योऽर्थज्ञ इत सकलं भद्रमश्नुते, नाकमेति ज्ञानविधूतपाप्मा॥
तुलनार्थ—

काव्ये × × × नाट्ये च × × × निविडनिजमोहसंकटता-निवारणकारिणा, विभावादिसाधारणीकरणात्मना अभिधातो द्वितीयांशेन भावकत्व-व्यापारेण भाव्यमानो रसः। —हिन्दी अभिनवभारती, पृष्ठ ४६४

२. उत त्वः पश्यन्न ददर्श वाचमुत त्वः शृण्वन्न शृणोत्येनाम्।
उतो त्वस्मै तन्वं विसस्रे जायेव पत्य उशती सुवासाः॥ ऋग्वेद १०.७१.४

३ ऋचो अक्षरे परमे व्योमन् यस्मिन् देवा अधि विश्वे निषेदुः।
यस्तन्न वेद किमृचा करिष्यति य इत् तद् विदुस्ते अमी समासते॥
—अथर्व० ९.१०.१८

द्वारा वस्तु को छानता है, प्रयोग करते हैं, उनकी वाणी में सुकुमाली 'लक्ष्मी' (काव्य-पक्ष में आह्लादकता) वास करती है'—

> सक्तुमिव तितउना पुनन्तो यत्र धीरा मनसा वाचमक्रत।
> अत्रा सखायः सख्यानि जानते भद्रैषां लक्ष्मीर्निहिताधि वाचि॥
>
> —ऋग्वेद १०.७१.२

—कवि अपने वाग्वैदग्ध्य के आधार पर वर्ण्य विषय को बहुविध चमत्कृति प्रदान करता है तथा उसे स्वच्छ रूप में प्रस्तुत कर देता है। वैदिक ऋषि के शब्दों में—'सहस्रधारे वितते पवित्र आ वाचं पुनन्ति कवयो मनीषिणः।'[1]

—काव्यभाषा यथावसर रूप में मधुर होनी चाहिए। लालित्य उसकी काम्य-सम्पदा है। शृङ्गार और करुण, अद्भुत और शान्त रसों में माधुर्य गुण अपेक्षित रहता है। वैदिक ऋषि भी वाणी की इस विशिष्टता की कामना करता हुआ कहता है—मेरी जिह्वा के अग्र भाग में मधुरता हो और जिह्वा के मूल में मधुरता हो × × × मैं जो भाषा बोलूँ वह मधुर हो[2]। काव्य-रचना का क्षण कवि की तन्मयता एवं आत्मविभोरावस्था का क्षण होता है। उसका एक के बाद एक भाव शब्द के रूप में स्वतः निःसृत होता चला आता है। उसे इन्हें सजाने, सँवारने की आवश्यकता नहीं पड़ती। काव्यशोभा के उपकरण-स्वरूप अलङ्कार प्रतिभावान् कवि के आगे मानो हाथ बाँधे चले आते हैं—अलङ्कारान्तराणि हि निरूप्यमाणदुर्घटनान्यपि रससमाहितचेतसः प्रतिभानवतः कवेरहंपूर्विकया परापतन्ति। (ध्वन्यालोक २.१६ : वृत्ति)। इसी भाव को उधर वैदिक ऋषि ने इन शब्दों में व्यक्त किया था, 'हे इन्द्राग्नी, तुम दोनों के लिए मेरी पूर्व-स्तुति इस प्रकार स्वतः निःसृत हो चली थी, जैसे कि बादलों से वृष्टि'—पूर्व्यस्तुतिः अभ्राद् वृष्टिरिवाजनि,[3] और ऐसी [काव्य-] वाणी मधु की लहरों का स्रवण करने वाली होती है।[4] हृदय के भीतर रहती हुई यह वाणी मन से छन कर जब बाहर निकलती है तो सरिता के समान प्रवहमान होने लगती है।[5] यह वाणी

१. एक अन्य वचन भी—
सहस्रधारः परिषिच्यते हरिः पुनानो वाचम्। ऋग्वेद ९.८६.३२

२. जिह्वाया अग्रे मधु मे जिह्वामूले मधूलकम्।
× × ×
वाचा वदामि मधुमद् भूयासं मधुसन्दृशः॥ अथर्ववेद १.३४

३. इयं वामस्य मन्मन इन्द्राग्नी पूर्व्यस्तुतिः।
अभ्राद् वृष्टिरिवाजनि। ऋग्वेद ७.९४.१

४. वां मध्व ऊर्मिं दुहते सप्त वाणीः। ऋग्वेद ८.२६.३

५. सम्यक् स्रवन्ति सरितो न धेना अन्तर्हृदा मनसा पूयमानाः। ऋग्वेद ४.५८.६

हृदय-रूपी समुद्र से उद्भूत होती है, [तथा इतनी आकर्षक होती है] कि शत्रु भी इसकी उपेक्षा नहीं कर सकते,[1] [अर्थात् वह निज और पर का भेद मिटा कर सार्वभौमिक एवं सार्वकालिक बन जाती है, और इस प्रकार सहृदय को रसास्वादन-सक्षम बनाने में समर्थ होती है।] काव्य वर्ण्य विषय को अमर बना देता है। तभी वैदिक ऋषि ने कवियों से कहा, 'अमरता के लिए वाणियों द्वारा प्रयास करो। देवताओं की स्तुति में गुह्य पदों को बनाओ। इसी से वे अमरता को प्राप्त करेंगे'—

> सतो नूनं कवय. स शिशीत वाशीभिर्याभिरमृताय तक्षथ।
> विद्वांस. पदा गुह्यानि कर्तन, येन देवासो अमृतत्वमानशु ॥ ऋग्वेद १० ५३.१०

रस (काव्यानन्द) को ब्रह्मास्वाद-सहोदर कहा गया है। इसके आस्वादन के क्षण में प्रमाता निज और पर के भावों से, तथा राग-द्वेष से विमुक्त होकर तन्मयता एवं आत्मविभोरता की स्थिति में पहुँच जाता है। काव्यशास्त्र की इस मान्यता की तुलना निम्नोक्त उपनिषद्-वचन से कीजिए—

> तमेव विदित्वाऽतिमृत्युमेति। आश्चर्यवत् पश्यति वीतशोक.।
> ये पश्यन्ति यतय क्षीणदोषाः। तमात्मस्थं येऽनुपश्यन्ति धीराः॥

नाट्यशास्त्र काव्यशास्त्र का अभिन्न अंग है। इसके स्रोत के सम्बन्ध में स्वयं भरत मुनि ने चारों वेदों के प्रति आभार प्रकट करते हुए कहा—ऋग्वेद से पाठ्य लिया गया, सामवेद से गान, यजुर्वेद से अभिनय तथा अथर्ववेद से रस।[2] नाटक के चार अंग माने गये हैं—संवाद, गीत, संगीत और नृत्य। इनमें से संवाद का स्रोत ऋग्वेद के निम्नोक्त संवाद माने जा सकते हैं—विश्वामित्र-नदी-संवाद, यम-यमी-संवाद, सरमा-पणिस्-संवाद, इन्द्र-वरुण-संवाद आदि। इसी प्रकार शेष तीनों अंगों के स्रोत भी वैदिक साहित्य में उपलब्ध हो जाते हैं।

ऋग्वेद में अनेक स्थलों पर वाक् के सात रूप भी माने गये हैं,[3] और तीन रूप भी।[4] भाष्यकारों के अनुसार सात रूपों से आशय सात स्वरों अथवा छन्दोभेदों से है, और तीन रूपों से आशय है—ऋक्, यजु और साम से, जो कि काव्य के

---

१ एता अर्षन्ति हृद्यात् समुद्राच्छतव्रजा रिपुणा नावचक्षे। ऋग्वेद ४.५८ ५

२. जग्राह पाठ्यं ऋग्वेदात्सामेभ्यो गीतमेव च।
यजुर्वेदादभिनयान् रसानथर्वणादपि ॥ (नाट्यशास्त्र)

३. एकं गर्भं दधिरे सप्त वाणी। ऋग्वेद ६ १ ६.
आ मातरा विविशु. सप्त वाणी।—वही ७ १ १

४ तिस्रो वाच प्रवद ज्योतिरग्रा।—वही ७. १०१. १.
तिस्रो वाच उदीरते।—वही ६ ३३. ४
प्रसवे ते उदीरते तिस्रो वाचो मखस्युव। वही ६. ५०. २.

क्रमशः गद्य, पद्य और गेय—इन तीनों रूपों के प्रतीक हैं। इस प्रकार पद्यबद्ध और गद्यबद्ध—काव्य के पहले ये दो भेद होते हैं। पद्यबद्ध काव्य के फिर दो भेद—गेय और अगेय। फिर गेय काव्य, स्वरों अथवा छन्दों के आधार पर, सात प्रकार का होता है। चाहे तो इन स्थलों को काव्यशास्त्रीय ग्रन्थों में निर्दिष्ट काव्य-भेदों का स्रोत मान सकते हैं।

वेद सदोष वाणी को गर्हित मानता है। इन्द्र के शत्रुओं (अनार्यों) को 'मृध्रवाच'[1] कहा गया है, क्योंकि वे मृध्र अर्थात् म्लेच्छ अथवा भ्रष्ट वाणी को बोलने वाले हैं। उन्हें 'वध्रिवाच'[2] भी कहा गया है, क्योंकि अनार्यों की भाषा आर्यों के लिए वध्रि (बाँझ) के समान है। इस प्रकार 'मृध्र' शब्द के आधार पर 'अशुद्ध उच्चारण' पहला दोष है, और 'वध्रि' शब्द के आधार पर दूसरा दोष है—'अभीष्ट अर्थ की अभिव्यक्ति में असमर्थता।' यही स्थिति काव्य पर भी घटित होती है। वह काव्य भी क्या जो अशुद्ध रूप में उच्चरित तथा अर्थगम्यता में असमर्थ हो? काव्य-शास्त्र पहले दोष को 'च्युतसंस्कृति' के अन्तर्गत मान सकता है और दूसरे दोष को 'असमर्थता' के अन्तर्गत। यहाँ यह उल्लेख्य है कि वेदों के मन्त्रों के अशुद्ध उच्चारण करने वाले को—चाहे वह अशुद्धता स्वरों और वर्णों की भी क्यों न हो—शिक्षाकार ने यजमान का घातक, अतएव दण्ड का भागी ठहराया है।[3] ठीक इसी प्रकार की धारणाएँ काव्यशास्त्रियों ने भी प्रस्तुत की हैं।[4]

---

१ वधो विश इन्द्र मृध्रवाचः ।—वही ५. २९. १०
यो वाचा विवाचो मृध्रवाचः ...... ।—वही, १०. २३. ५

२ .. इन्द्र ..यमित्रानरन्धयन् मानुषे वध्रिवाचः । वही, ७.१८.१

३. मन्त्रो हीनः स्वरतो वर्णतो वा मिथ्याप्रयुक्तो न तमर्थमाह ।
स वाग्वज्रो यजमानं हिनस्ति यथेन्द्रशत्रुः स्वरतोऽपराधात् ॥
—महाभाष्य (पस्पशाह्निक)

४. (क) सर्वथा पदमप्येकं न निगाद्यमवद्यवत् ।
विलक्ष्मणा हि काव्येन दुःसुतेनेव निन्द्यते ॥
नाकवित्वमधर्माय व्याधये दण्डनाय वा ।
कुकवित्वं पुनः साक्षान्मृतिमाहुर्मनीषिणः ॥
—काव्यालङ्कार (भामह) १.११.१२.

(ख) गौर्गौः कामदुघा सम्यक् प्रयुक्ता स्मर्यते बुधैः ।
दुष्प्रयुक्ता पुनर्गोत्वं प्रयोक्तुः सैव शंसति ॥
तदल्पमपि नोपेक्ष्यं काव्ये दुष्टं कथंचन ।
स्याद् वपुः सुन्दरमपि श्वित्रेणैकेन दुर्भगम् ॥ काव्यादर्श १. ६, ७

अब वेदार्थ-निरूपक 'निरुक्त' नामक वेदांग को लीजिए। इसमें अलंकारों के मूलाधार उपमा अलंकार का पर्याप्त विवेचन किया गया है, जो कि संक्षेप में इस प्रकार है। यास्क के अनुसार उपमा का लक्षण है—'यदतत् तत्सादृश्यम्', अर्थात् एक दूसरे से भिन्न उपमेय और उपमान को समान बतलाना उपमा कहाता है। उपमा के तीन अंग हैं—उपमेय, उपमान और सादृश्य। सादृश्य-कथन दो प्रकार का सम्भव है—(क) किसी श्रेष्ठ गुण से, अथवा अत्यन्त प्रसिद्ध [कर्म या व्यक्ति] से किसी हीन गुण अथवा अप्रसिद्ध [कर्म या व्यक्ति] की समानता बताना। (ख) किसी हीन गुण वाले [उपमान] से अधिक गुण वाले [उपमेय] की समानता बताना। सादृश्यवाचक शब्द ये हैं—इव, न, चित्, नु, भूत, आदि, तथा इनके आधार पर उपमा के अनेक भेद सम्भव हैं।[1]

काव्यशास्त्र के प्रमुख विषयों में से एक है शब्दशक्ति। इसके सम्बन्ध में भी निरुक्त में स्पष्ट संकेत मिलते हैं। निम्नांकित स्थल लीजिए

अणीयस्त्वाच्च शब्देन संज्ञाकरणं व्यवहारार्थं लोके।

अर्थात् अपने व्यवहार को सुचारु रूप में चलाने के लिए [विभिन्न पदार्थों का] *नामकरण किया जाता है जो कि शब्दरूप (ध्वन्यात्मक, नादात्मक, उच्चारण-गम्य)* होता है। स्पष्ट है कि 'संज्ञाकरण' शब्द में अभिधाशक्ति-विषयक संकेत निहित है। —'*अंशुं दुहन्तो अध्यासते गवि*', '*गोभिः सन्नद्धा पतति प्रसूता*'[2]—ऋग्वेद के इन दो वाक्यों में से प्रथम वाक्य में 'गो' शब्द से अभिप्रेत है—'गौ के चर्म से बना आसन', और द्वितीय वाक्य में 'गो' शब्द से अभिप्रेत है—'गौ की आंत'।[3] ये दोनों अर्थ वाच्यार्थ न होकर लक्ष्यार्थ हैं। इस प्रकार निरुक्त में लक्षणाशक्ति-विषयक संकेत भी उपलब्ध हो जाते हैं।

इस प्रकार वैदिक साहित्य में उपलब्ध काव्यशास्त्र-विषयक सामग्री का यह एक दिग्दर्शन मात्र है। यही धारणाएं आगे चलकर धीरे-धीरे पनपती और विकसित होती चली गयीं, और अन्ततः काव्यशास्त्र का रूप धारण कर गयीं। वेदों में काव्य-चमत्कारपूर्ण स्थल तो यत्र-तत्र बहुसंख्या में मिल जाते हैं, जिनमें से कुछ एक इसी लेख में आगे प्रस्तुत किए जा रहे हैं। किन्तु स्पष्ट है कि उपर्युक्त काव्यशास्त्रीय धारणाएं इन स्थलों को लक्ष्य में रखकर नहीं, अपितु स्वतन्त्र रूप में, और वह भी प्रकारान्तर से, प्रतिपादित हुई हैं।

---

१. निरुक्त (यास्क) ३ १३

२ सोम को दुहते हुए गाय (अर्थात् गाय के चर्म से बने आसन) पर बैठते हैं।

३. फेंका हुआ [तीर, जो कि] गाय (अर्थात् गाय की आंत) से मढ़ा हुआ है, [दूर] जा पड़ता है। निरुक्त २ ५

काव्यसौन्दर्य-द्योतक स्थल

अब अन्त में वैदिक साहित्य[1] से कुछ ऐसे स्थल लिये जा रहे हैं जिनमें काव्य-सौन्दर्य लक्षित होता है। यो चाहें तो हम इन्हें शब्दशक्ति, रस, अलकार आदि के भेदों के उदाहरण-स्वरूप स्वीकार कर सकते हैं। इनमें लक्षणा अथवा व्यञ्जना की छ्रुति मिलेगी। शृगार, करुण आदि रसों की चमत्कृति उपलब्ध होगी, तथा उपमा, रूपक, उत्प्रेक्षा, रूपकातिशयोक्ति आदि बहुविध अलकारों की सुन्दरता तो अनेक स्थलों में देखने को मिलेगी। किन्तु यहाँ इन्हें इस उद्देश्य से प्रस्तुत किया जा रहा है कि हम इनमें काव्य-सौन्दर्य देख सकें, इनमें काव्यशास्त्रीय विभिन्न तत्त्वों को ढूँढने की दृष्टि से ये स्थल प्रस्तुत नहीं किये जा रहे।

अब कुछ मन्त्र ऋग्वेद से लीजिए—

कन्येव तन्वा शाशदाना एषि देवि देवमियक्षमाणम् ।
संस्मयमाना युवतिः पुरस्तादाविर्वक्षांसि कृणुषे विभाती ॥ ऋग्० १ १२३ १०

तरुणी उषा का मन अपने वल्लभ सूर्य को देखकर नाच उठा। वह स्मित-वदना अपने प्रिय को उसका अभीष्ट [सुख] प्रदान करने के लिए उसके सम्मुख खड़ी हो गयी और उसने अपने वक्ष स्थल को खोल दिया।

जायेव पत्य उशती सुवासा उषा हस्रेव निरिणीते अप्सः। ऋग्० १. १२४. ७

उषा लोगों को अपना रूप उस प्रकार दिखा देती है, जिस प्रकार कामयुक्त नारी ऋतुकाल में सुन्दर वस्त्र धारण कर पति को अपना रूप दिखाती है, तथा उषा अपने भीतर छिपे हुए सब द्रव्यों के रूपों को उस प्रकार दिखा देती है, जिस प्रकार हँसती हुई अथवा हास्य स्वभाव वाली कोई नारी हँसकर अपने दाँतों को दिखाती है।

ता इन्न्वेव समना समानीरमीतवर्णा उषसश्चरन्ति ।
गूहन्तीरभ्वमसितं रुशद्भिः शुक्रास्तनूभिः शुचयो रुचानाः ॥ ऋग्० ४.५१.९

ये उषायें—जो कि अब भी वैसे के वैसे हैं, वैसे ही अपनी चमकती हुई आकृतियों से युक्त हैं, वैसे ही जाज्वल्यमान हैं तथा वैसे ही इनमें किरणें फूट रही हैं, इनके वर्ण में कोई अन्तर नहीं आया—[आगे की ओर] बढ़ रहे हैं तथा [बड़े समय] काले राक्षस [के समान अन्धकार] को ढकते चले जा रहे हैं।

वयः सुपर्णा उपसेदुरिन्द्रं प्रियमेधा ऋषयो नाधमानाः ।
अप ध्वान्तमूर्णुहि पूर्धि चक्षुर्मुमुग्ध्यस्मान्निधयेव बद्धान् ॥ ऋग्० १०. ७३. ११

---

१. यहाँ हम केवल ऋग्वेद तथा कतिपय उपनिषदों से कुछ स्थल प्रस्तुत कर पाये हैं। सुधी पाठक समग्र वैदिक साहित्य से ऐसे स्थलों का चयन कर सकते हैं।

जब मेघ ने नभोमण्डल को घेर लिया तब जल को खींचने वाली रश्मियाँ इन्द्र (मेघ प्रेरक वायु) के पास आकर बोलीं, हे इन्द्र ! हमारी गति ऐसी हुई है जैसी कि जाल में बन्धे हुए पुरुष की। इस अन्धकार को हटाइये जिससे हम देख सकें।

तत्सूर्यस्य देवत्वं तन्महित्वं मध्याकर्त्तोविततं संजभार।
यदेदयुक्त हरितः सधस्थादाद्रात्री वासस्तनुते सिमस्मै॥ ऋग्० १. ११५. ४

यही सूर्यदेव का महत्त्व है कि वह सायंकाल के समय विस्तृत रश्मिजाल को समेट लेता है—और जहाँ इसने अपने रश्मिजाल को अथवा घोड़ों को लौटाया कि रात्रि अपनी चादर चारों ओर फैला देती है।

तम आसीत्तमसा गूढमग्रेऽप्रकेतं सलिलं सर्वमा इदम्।
तुच्छ्येनाभ्वपिहितं यदासीत्तपसस्तन्महिना जायतैकम्॥ ऋग्वेद १०. १२९. ३

सृष्टि की उत्पत्ति से पूर्व प्रगाढ़ अन्धकार ही अन्धकार था। कुछ भी पता नहीं चलता था—ऐसे, जैसे जल के भर जाने से नीचे की वस्तुओं का पता नहीं चलता। यह सब उस [सत्य ब्रह्म] की महिमा से उत्पन्न हुआ है।

नाहं तन्तुं न विजानाम्योतुं न यं वयन्ति समरेऽतमानाः।
कस्यस्वित्पुत्र इह वक्त्वानि परो वदात्यवरेण पित्रा॥ ऋग्वेद ६. ९१. २

इन दोनों मन्त्रों का भावार्थ कुछ इस प्रकार है—सूर्य वैश्वानर के पास न तन्तु हैं, न ताना है, न बाना है, न वह बुनना जानता है, तथापि वह इस दिन रूपी विस्तृत वस्त्र को बुन डालता है—यही आश्चर्य है। रात्रि भी तन्तु आदि सामग्री के बिना अपना *विस्तृत अन्धकारमय पट बुन डालती है, और प्रातः होते ही बुने हुए* लम्बे वस्त्र को लपेट लेती है।

इयं शुष्मेभिर्बिसखा इवारुजत्सानु गिरीणां तविषेभिरूर्मिभिः।
पारावतघ्नीमवसे सुवृक्तिभिः सरस्वतीमा विवासेम धीतिभिः॥
—ऋग्वेद ६. ६१. २

यह सरस्वती—जल वाली नदी—बड़े हुए वेग वाले जल के कारण पहाड़ों के शिखरों को ऐसे काटती हुई आ रही है जैसे पत्थर काटने वाला [व्यक्ति] अपनी छैनी से पत्थर को तोड़ता-फोड़ता है। इस पार और अवार को तोड़ने वाली नदी से बचने के लिए हम [कोई] बाधा डालें।

तनूत्यजेव तस्करा वनर्गू रशनाभिर्दशभिरभ्यधीताम्। ऋग्वेद १० ४.६

[हे अग्ने !] जिस प्रकार जंगल में घूमने वाले, और [समय आ पड़ने पर] अपने शरीर को छोड़ने वाले, अर्थात् मृत्यु की चिन्ता न करने वाले, दो तस्कर दस (अनेक) रस्सियों से [पथिकों को] बाँध डालते हैं, उसी प्रकार [अग्नि-मन्थन करते समय] अध्वर्यु की दोनों बाहुओं ने दस अँगुलियों से तुम्हें *(अग्नि को)* बाँध लिया है।

कुह स्विद् दोषा, कुह वस्तोरश्विना
कुहाभिपित्वं करत , कुहोषतु: ।
को वां शयुत्रा विधवेव देवरं मर्यं न
न योषा कृणुते सधस्थ आ ॥ ऋग्वेद १० ४०.२

[बहुत दिनों बाद आये अश्विदेवों से काक्षीवती घोषा पूछती है—'हे अश्विनो! कहाँ रात को [रहे] ? कहाँ दिन में [रहे] ? [यह] आना-जाना कहाँ करते हो ? कहाँ रहते हो ? वह कौन है जो तुमको शयन में बुलाता है—ऐसे, जैसे—विधवा [भाभी] अपने देवर को बुलाती है, अथवा घर में स्त्री (पत्नी) [अपने] पुरुष को बुलाती है ।

० ०

अब कुछ स्थल उपनिषदों से प्रस्तुत हैं—

ऊर्ध्वमूलो ऽवाक्शाख एषोऽश्वत्थः सनातन । कठोपनिषद् ३.१

[यह जगत्] ऐसा सनातन पीपल का पेड़ है जिसका मूल-भाग ऊपर की ओर है और शाखाएँ नीचे की ओर है ।

आत्मानं रथिनं विद्धि शरीरं रथमेव तु ।
बुद्धिं तु सारथिं विद्धि मन. प्रग्रहमेव च ॥ कठोपनिषद् ३.३

आत्मा को रथी जान, शरीर को रथ जान, बुद्धि को सारथि और मन को लगाम जान ।

अरण्योर्निहितो जातवेदा गर्भ इव सुभृतो गर्भिणीभिः । कठोपनिषद् ४ ८

[यह वह तत्त्व है जो कि] ऐसे गुप्त रहता है जैसे दो अरणियों मे अग्नि गुप्त रहती है, अथवा गर्भिणी स्त्री के शरीर में गर्भ स्थित रहता है ।

अग्निर्यथैको भुवनं प्रविष्टो रूपं रूपं प्रतिरूपो बभूव ।
एकस्तथा सर्वभूतान्तरात्मा रूपं रूपं प्रतिरूपो बहिश्च ॥ कठोपनिषद् ५ ९

जैसे एक ही अग्नि जगत् के भिन्न-भिन्न पदार्थों में प्रविष्ट होने पर उनके विभिन्न रूपों को धारण कर लेता है, उसी प्रकार एक ही अन्तरात्मा अनेक भूतों में प्रवेश करके अनेक रूपों में व्यक्त होता है। वह [उन प्राणियों के] बाहर भी है।

अविद्यायामन्तरे वर्तमाना स्वयं धीराः पण्डितं मन्यमाना. ।
जंघन्यमाना.[1] परियन्ति मूढा अन्धेनैव नीयमाना यथान्धा: ॥ मुण्डकोप० २.८

---

१. कठोपनिषद् में 'जंघन्यमाना:' के स्थान पर 'दन्द्रम्यमाणा:' पाठ है, अर्थात् इधर-उधर भटकते हुए ।

अविद्या के मध्य मे रहने वाले और अपने आपको बुद्धिमान् तथा पण्डित मानने वाले वे मूढ पुरुष अन्धे से ले जाये जाते हुए अन्धे के समान पीडित होते सब ओर भटकते रहते हैं।

उत्सेक उदधेर्यद्वत्कुशाग्रेणैकबिन्दुना ।
मनसो निग्रहस्तद्वद् भवेदपरिखेदत ॥ माण्डूक्योपनिषद् ३.४१

जिस प्रकार कुशा के अग्र भाग से एक-एक बूद द्वारा समुद्र को उलीचा जा सकता है उसी प्रकार सब प्रकार की खिन्नता का त्याग कर देने पर मन का निग्रह हो सकता है।[1]

अनिश्चिता यथा रज्जुरन्धकारे विकल्पिता ।
सर्पधारादिभिर्भावैस्तद्वदात्मा विकल्पित ॥ माण्डूक्योप० २.१७

जिस प्रकार [अपने स्वरूप से] निश्चय न की हुई रज्जु अन्धकार मे सर्पधारा आदि भावो से कल्पित की जाती है, उसी प्रकार आत्मा मे भी तरह-तरह की कल्पनाएं हो रही है।

यथैकस्मिन् घटाकाशे रजोधूमादिभिर्युते ।
न सर्वे सप्रयुज्यन्ते तद्वज्जीवा सुखादिभि ॥ माण्डूक्योप० ३.५

जिस प्रकार एक घटाकाश के धूलि और धुएँ आदि से युक्त होने पर समस्त घटाकाश उनसे युक्त नही होते, उसी प्रकार [एक जीव के सुखादिमान् होने पर सब] जीव भी सुखादि धर्मों से लिप्त नही होते।

अजामेकां लोहितशुक्लकृष्णां बह्वी प्रजाः सृजमाना सरूपा ।
अजो ह्येको जुषमाणो ऽनुशेते जहात्येना भुक्तभोगामजोऽन्यः ॥
—श्वेताश्वतरोपनिषद् ४.५

प्रकृति को—जो कि एक-समान आकार वाली बहुत सी प्रजा (पदार्थों) को उत्पन्न करने वाली है, तथा तेज, अप् और अन्न रूपा है—एक जीव तो सेवन करता हुआ भोगता है, किन्तु दूसरा जीव गुरूपदेश-रूप प्रकाश से अविद्या-रूप अन्धकार के नष्ट होते जाने के कारण उसी प्रकृति को छोड देता है। इसी आशय को उपनिषत्कार ने निम्नोक्त रूप मे प्रस्तुत किया है—[इस] एक बकरी (पक्षे—प्रकृति) को, जो कि अपने अनुरूप बहुत सी प्रजा उत्पन्न करने वाली है, तथा लोहित, शुक्ल और कृष्ण वर्ण की है, अर्थात् चित्र-विचित्र है (पक्षे—प्रकृति भी चित्र-विचित्र होती है), एक बकरा (पक्षे—जीव) सेवन करता हुआ भोगता है और दूसरा अज (पक्षे—जीव) उस भुक्तभोगा को (पक्षे—माया-स्वरूपिणी को) त्याग देता है।[2]

---

१. स्पष्ट है कि यहाँ उपमान-वाक्य नितान्त असम्भव है।

२ उक्त अर्थ शकर-भाष्य के आधार पर प्रस्तुत किया गया है।

अंगाद् अंगात् संभवसि हृदयादधिजायसे ।
स त्वमंगकषायोऽसि दिग्धविद्धामिव मादयेमामम् मयीति ॥[1]

—बृहदारण्यकोपनिषद् ६.४.६

[हे वीर्य !] तुम मेरे प्रत्येक अंग से प्रकट होते हो, [विशेषतः मेरे] हृदय से तुम्हारा प्रादुर्भाव होता है। [अतः] जिस प्रकार विष लगाये हुए बाण से घायल हिरणी मूर्च्छित हो जाती है, उसी प्रकार तुम इसको (मेरी पत्नी को) मेरे प्रति उन्मत्त बना दो।

× × ×

इस प्रकार हमने देखा कि वैदिक साहित्य में काव्य-सौन्दर्य-द्योतक स्थल बहु-संख्या में उपलब्ध हो जाते हैं। स्पष्ट है कि वैदिक ऋषियों का ध्येय काव्य-ग्रन्थों का निर्माण करना नहीं था। ऋग्वेद में विभिन्न देवताओं तथा उपनिषदों में ब्रह्म एवं आत्मा के स्वरूप-प्रतिपादन में, अथवा किसी भी प्रकार के अन्य प्रसंगों में, जहाँ ऋषि भावातिरेक की स्थिति में आ गये वहाँ उनके मुख से काव्योपम स्थल स्वतः प्रस्फुटित हो गये। यही कारण है कि ऐसे स्थल सर्वत्र नहीं हैं, ढूंढने पर ही मिलते हैं, फिर भी इनकी संख्या पर्याप्त है। इसके अतिरिक्त प्रस्तुत लेख में हमने यह देखा कि वैदिक साहित्य में काव्यशास्त्रीय धारणाएँ भी यत्र-तत्र उपलब्ध हो जाती हैं, किन्तु, जैसा कि ऊपर निर्दिष्ट कर आये हैं, काव्यशास्त्रीय धारणाएँ उपर्युक्त, अथवा ऐसे अन्य काव्यसौन्दर्य-द्योतक, स्थलों को लक्ष्य में रखकर प्रतिपादित नहीं हुईं, अपितु स्वतन्त्र रूप में—काव्यसौन्दर्य-द्योतक स्थलों से नितान्त निरपेक्ष रहकर—स्वतः प्रतिपादित हो गयी हैं। वस्तुतः, किसी प्रकार के काव्य सौन्दर्य को लक्ष्य में रखकर काव्य-सिद्धान्तों को निर्दिष्ट करना किसी भी मन्त्र-द्रष्टा को अभीष्ट था भी नहीं। फिर भी, यही धारणाएँ आगे चलकर धीरे-धीरे विकसित होते-होते 'काव्यशास्त्र' नामक विद्या का रूप धारण कर गयीं—और इस प्रकार वैदिक साहित्य को—विशेषतः ऋग्वेद को—अन्य विद्याओं के समान, इस विद्या का भी स्रोत मान सकते हैं—साक्षात् रूप से न सही, किन्तु प्रकारान्तर से तो अवश्य मान सकते हैं।

○ ○ ○

१. निरुक्त में दूसरी पंक्ति इस प्रकार प्रस्तुत हुई है—"आत्मा वै पुत्रनामासि स जीव शरदः शतम् ।" (निरुक्त ३.४.२)। दायाद-भाग के प्रसंग में उद्धृत इस वचन में पुत्र को सम्बोधित किया गया है।

३. काव्यशास्त्र के उद्भव के सम्बन्ध में दन्तकथाएं
—राजशेखर के अनुसार[1]

[१]

अब काव्य का विवेचन उस रूप में प्रस्तुत करते हैं, जैसा कि शिव जी ने ब्रह्मा, विष्णु आदि चौंसठ शिष्यों को इसका उपदेश दिया था। ब्रह्मा ने भी अपने [मरीची आदि] शिष्यों को [यह विद्या सिखायी, उनके ये शिष्य उनकी] इच्छा से *उत्पन्न (अर्थात् अयोनिज अथवा मानसपुत्र) थे। [इन शिष्यों में] एक काव्यपुरुष* था, जो सरस्वती का पुत्र था, जिसकी जगद्वन्द्य [देवता] भी वन्दना करते थे। प्रजापति ने उस काव्य-पुरुष को—जो कि सर्वसिद्धान्तवेत्ता अथवा त्रिकालज्ञ था, तथा दिव्य दृष्टि द्वारा भविष्यद्द्रष्टा था—भू:, भुव और स्वर्ग, इन तीनों लोकों की निवासिनी प्रजाओं में उनके हित की कामना से काव्य-विद्या का प्रवर्तन करने के लिए नियुक्त किया। उसने इस अठारह अधिकरणों (विभागों) वाली इस [काव्य-विद्या] का उपदेश उन दिव्य (स्वर्ग में उद्भूत अथवा चमत्कृत बुद्धि-सम्पन्न) स्नातकों को दिया, जिनकी रुचि काव्य-विद्या में थी।

इन शिष्यों में से इन्द्र ने कवि-रहस्य [नामक अधिकरण] का अभ्यास किया, उक्तिगर्भ ने औक्तिक (उक्ति अथवा वक्रोक्ति से सम्बद्ध विद्या) का, सुवर्णनाभ ने रीति-निर्णय का, प्रचेता ने अनुप्रास-विषयक विद्या का, यम ने यमक का, चित्रांगद ने चित्र (सम्भवत चित्र अलंकार) का, शेष ने शब्द-श्लेष[1] का, पुलस्त्य ने वास्तव[2] का, औपकायन ने औपम्य[3] का, पराशर ने अतिशय[4] [अतिशयोक्ति] का, उतथ्य ने अर्थश्लेष[5]

---

१ राजशेखर के सम्बन्ध में देखिए पृष्ठ १७

—इस अध्ययन में राजशेखर-कृत 'काव्यमीमांसा' से दो स्थलों का हिन्दी-रूपान्तर प्रस्तुत किया जा रहा है, जिसमें 'मधुसूदनी' विवृति से सहायता ली गयी है।

२-५. रुद्रट ने अर्थालंकारों को निम्नोक्त चार भागों में वर्गीकृत किया है— वास्तव, औपम्य, अतिशय और श्लेष। (काव्यालंकार ७.९) सम्भवतः राजशेखर ने

का, कुबेर ने उभयालंकार का, कामदेव ने विनोद-विषयक काव्य-सामग्री अथवा कामशास्त्र का, भरत ने रूपक-निरूपणीय अर्थात् नाट्यशास्त्र का, नन्दिकेश्वर[1] ने रसाधिकारिका, अर्थात् रस-विषयक विद्या का, धिषण ने दोष का, उपमन्यु ने गुण-विषयक विद्या का, कुचुमार[2] ने औपनिषदक का[2]। [इस प्रकार विभिन्न विषयों का अभ्यास करने के] पश्चात् उन्होंने अपने अपने पृथक्-पृथक् शास्त्रों का निर्माण किया। यह काव्य-विद्या इस प्रकार से अलग-अलग रूप में बनायी जाने के कारण कुछ विनष्ट हो गयी।

—काव्यमीमांसा, प्रथम अध्याय

मूल पाठ

[१]

अथातः काव्यं मीमांसिष्यामहे यथोपदिदेश श्रीकण्ठः परमेष्ठिवैकुण्ठादिभ्यश्चतुःषष्टये शिष्येभ्यः। सोऽपि भगवान् स्वयम्भूरिच्छाजन्मभ्यः स्वान्तेवासिभ्यः। तेषु सारस्वतेयो वृन्दीयसामपि वन्द्यः काव्यपुरुष आसीत्। तं च सर्वसमयविदं दिव्येन चक्षुषा भविष्यदर्थदर्शिनं भूर्भुवःस्वस्त्रितयवर्तिनीषु प्रजासु हितकाम्यया प्रजापतिः काव्यविद्याप्रवर्तनार्थं प्रायुङ्क्त। सोऽष्टादशाधिकरणीं दिव्येभ्यः काव्यविद्यास्नातकेभ्यः सप्रपञ्चं प्रोवाच।

तत्र कविरहस्यं सहस्राक्षः समाम्नासीत्, औक्तिकमुक्तिगर्भः, रीतिनिर्णयं सुवर्णनाभः, आनुप्रासिकं प्रचेतायनः[3], यमकं यमः[4], चित्रं चित्राङ्गदः, शब्दश्लेषं शेषः,

---

यहीं से प्रेरणा प्राप्त कर इन काव्य-विषयों का उल्लेख किया है। 'वास्तव' से उनका अभिप्राय वस्तु-स्वरूप-कथन से है। सहोक्ति, समुच्चय, जाति, यथासंख्य अलंकार वस्तुगत माने गये हैं। उपमेय और उपमान की समानता का नाम औपम्य है। उपमा, उत्प्रेक्षा, रूपक, आदि अलंकार इस वर्ग के अन्तर्गत आते हैं। 'अतिशय' कहते हैं अर्थ और धर्म के नियमों के विपर्यय को। पूर्व, विशेष, उत्प्रेक्षा, विभावना आदि अतिशयगत अलंकार हैं। अनेकार्थता का नाम श्लेष है। अविशेष, विरोध, अधिक आदि श्लिष्ट अलंकार हैं।

१-२. कामसूत्र के अनुरूप महादेव और पार्वती ने दिव्य सहस्र वर्ष पर्यन्त रति की। उस समय नन्दिकेश्वर द्वारपाल था। द्वार पर रहते हुए उसने रतिशास्त्रीय सब विषयों को पढ़ा और तदनुसार ग्रंथ बनाया। कामसूत्र के ही अनुसार कुचुमार ने 'औपनिषदिक' अधिकरण बनाया, जिसका वर्ण्य विषय है 'गुप्त उपाय'। इसके अन्तर्गत यह प्रसंग वर्णित हैं—सुभगंकरण, वशीकरण वृष्ययोग, नष्टराग प्रत्यायन वृद्धियोग और चित्रयोग। (कामसूत्र, सप्तम अधिकरण)

३. पाठान्तर—'प्रचेता'। ४. पाठान्तर—यमकानि।

वास्तव पुलस्त्य, औपम्यमौपकायन, अतिशय पाराशरः, अर्थश्लेषमुतथ्य., उभयालङ्कारिक कुबेर, वैनोदिक कामदेव, रूपकनिरूपणीय भरतः, रसाधिकारिक नन्दिकेश्वर, दोषाधिकरण धिषण, गुणौपादानिकमुपमन्यु, औपनिषदिक कुचमार., इति। ततस्ते पृथक् पृथक् स्वशास्त्राणि विरचयाञ्चक्रुः। इत्थकारञ्च प्रकीर्णत्वात् मा किञ्चिद्-उच्चिच्छिदे।

—काव्यमीमांसा, प्रथमोऽध्याय

[२]

बहुत पहले की बात है, सरस्वती ने पुत्र की इच्छा से हिमालय पर्वत पर तपस्या की। ब्रह्माजी ने तपस्या से प्रसन्न होकर उसे कहा तुम्हें गर्भाधान के रूप में पुत्र देता हूँ। इसके पश्चात् इसने काव्य-पुरुष को जन्म दिया। उसने [पैदा होते ही] उठकर [माता के] चरणों का स्पर्श करके छन्दोबद्ध वाणी में कहा—

"हे माता! यह जो समग्र वाङ्मय अर्थ के रूप में परिणत हो जाता है, अर्थात् वाणी अर्थवत्ता ग्रहण कर लेती है, तो मैं वही [वाणी की सार्थकता रूप] काव्य-पुरुष हूँ। मैं तुम्हारे चरणों की वन्दना करता हूँ।"

जो छन्दोबद्ध वाणी [अब तक] वेद में दिखायी देती थी, उसे जब देवी [सरस्वती] ने लोक-भाषा में सुना तो वह अत्यन्त हर्षपूर्वक उस [शिशु] को अपनी गोदी रूपी पलंग में लेकर मधुर वाणी में बोली—'वत्स'! छन्दोबद्ध वाणी के रचयिता! तुमने तो मुझे भी जीत लिया जो कि [समस्त] वाङ्मय की माता है। यह जो कहावत है वह बहुत ही सुन्दर है कि 'पुत्र से पराजित होना दूसरे पुत्र-जन्म के समान है।' तुमसे पूर्ववर्ती विद्वानों ने [केवल] गद्य को देखा था, पद्य को नहीं। अब [लौकिक] छन्दोबद्ध वाणी आदि-ज्ञान के रूप में, अर्थात् सर्वप्रथम तुमसे, प्रारम्भ होगी। तुम सचमुच प्रशंसनीय हो—

'शब्दार्थ' तेरा शरीर है, संस्कृत भाषा मुख है, प्राकृत भाषाएं बाहु है, अपभ्रंश भाषाएं जघा हैं, पैशाच भाषाएं पाँव है और मिश्रित भाषाएं वक्ष स्थल हैं[1]। तू सम, प्रसन्न, मधुर, उदार और ओजस्वी है।[2] तेरी वाणी वक्रोक्ति-पूर्ण है। रस तेरी आत्मा है, छन्द तेरे रोम हैं, प्रश्नोत्तर, प्रहेलिका आदि अलंकार तेरा वाग्-विनोद है,

---

१. तुलनार्थ—

संस्कृतं प्राकृतं मिश्रं विकृतं सूतभाषितम्।
काव्यस्याङ्गत्वमायान्ति भाषाश्चेताः पृथक्-पृथक्॥

२. अर्थात् तू समता, प्रसाद, माधुर्य, उदारता और ओज गुणों का समन्वय है।

अनुप्रास, उपमा आदि अलंकार तुझे अलंकृत करते हैं[1], भविष्य में होने वाले विषयों की सूचना देने वाली श्रुति [वेद-वाणी] भी तेरी स्तुति करती है—

"जिसके चार सींग हैं, तीन पांव हैं, दो सिर हैं, सात हाथ हैं, जो कि तीन तरह से बंधा हुआ है—ऐसा महान् देव वृषभ (बैल) शब्द करता हुआ मर्त्यलोक में आ उतरा है।[2]

फिर भी, तुम प्रगल्भ (धृष्ठ) पुरुष की चेष्टाएं मत करो, बाल-स्वभाव-सुलभ चेष्टाएं ही करो।' यह कहकर वह इसे एक वृक्ष के नीचे शिला-खण्ड रूपी बिस्तर पर बिठाकर (सुलाकर) आकाश-गंगा में स्नान करने चल दी। उसी समय महामुनि शुक्र कुश और समिधा को एकत्र करने के लिए आये हुए थे। इन्होंने उस बालक को देखा जो कि सूर्य के कुछ [अधिक] चढ आने पर धूप में तप्त हो रहा था। यह किसका अनाथ बालक होगा—यह सोचते हुए वे इसे अपने आश्रम में ले आए। क्षण भर में आश्वस्त (स्वस्थ) होकर उस सरस्वती-पुत्र ने उस [मुनि] को आशीर्वाद दिया कि तुम्हें छन्दोबद्ध वाणी प्राप्त हो × × × अकस्मात् आश्चर्यचकित होकर वह [भार्गव] बोले—

"यह सरस्वती जो कि सूक्तिरूपी कामधेनु है हमारे हृदय में निवास करे। इस धेनु का कवि-रूपी दोग्धाओं ने प्रतिदिन दोहन तो किया है, किन्तु उसका दोहन कर नहीं सके। तात्पर्य यह कि पूर्व कविजन जिस सरस्वती का पार नहीं पा सके, वह हमारे हृदयों में बहुविध विषयों को भर दे।"]

[इसके पश्चात् उस बालक ने] उस [शुक्र] के साथ-साथ [उक्त श्लोक को] पढ़ने वालों के लिए आदेश दिया कि वे [सब के सब] मेधा-सम्पन्न हो जाएंगे। तब से विद्वज्जन उस [शुक्र मुनि] को कवि कहने लगे। इसी प्रकार यह एक लोक-परम्परा चल पड़ी [कि जो रचनाएं करते थे] कवि कहलाये जाने लगे। 'कवि' शब्द कव् धातु से बनता है, जिसका अर्थ है जानना, वर्णन करना, जाना अर्थात् प्राप्त करना।[3]] कवते इति कविः, जो सब जानता है, वर्णन करता है सब या सब ओर से

१. तुलनार्थ—

> चित्रवक्रोक्त्यनुप्रासगुह्यश्लेषप्रहेलिकाः।
> प्रश्नोत्तरं च यमकमष्टालंकृतयो ध्वनौ॥

२. यह काव्य-पुरुष 'वृषभ' अर्थात् यश आदि इच्छाओं की वर्षा करने वाला है—यशःप्रभृतिकामान् वर्षतीति वृषभः। चार सींग—चार वृत्तियां अथवा प्रवृत्तियां। तीन पाद—अभिधा, लक्षणा और व्यंजना नामक शब्दशक्तियां। दो सिर—प्रकृति और प्रत्यय। सात हाथ—नाम, आख्यात, उपसर्ग, निपात, कर्मप्रवचनीय, गति और अव्यय। तीन तरह से अर्थात् गद्य, पद्य और मिश्रित (चम्पू) से बद्ध।

३. कवते सर्वं जानाति, सर्वं वर्णयति, सर्वं (सर्वतो) गच्छति प्राप्नोति इति कविः।
—काव्यमीमांसा, मधुसूदनी वृत्ति, पृष्ठ ३७

प्राप्त करना है। इस प्रकार कवि उसे कहते हैं] जिसका कर्म काव्य [की रचना करना] है। चूंकि इस सरस्वती-पुत्र 'काव्यैकरूप' है, अर्थात् वह काव्य से अभिन्न है, अत लाक्षणिक रूप में उसे 'काव्य-पुरुष' कहा जाता है।

[स्नान के] बाद लौटी हुई वाग्देवी वहाँ अपने पुत्र को न देखकर तीव्र विलाप करने लगी। मुनिप्रवर वाल्मीकि ने, जो कि वहाँ किसी कार्यवश आए हुए थे, भगवती सरस्वती को [कारण-विषयक] वृत्त सविनय बताकर भार्गव मुनि का आश्रम दिखाया। पुत्र को [देखते ही वात्सल्य-वश उसके] स्तन चूने लगे, [पुत्र को] गोदी में भरकर सिर पर चूमती हुई उसने कल्याणमय चित्त से वाल्मीकि मुनि को आशीर्वाद दिया कि तुम भी छन्दोबद्ध वाणी के रचयिता बनो। वह अब उस [सरस्वती] से भेजा गया—अर्थात् वहाँ से चला गया तो उसने एक तरुणी क्रौञ्ची पक्षिणी को देखा जिसका सहचर [किसी] निषाद द्वारा मारा गया था और जो करुणाजनक चीखों से भरी वाणी से विलाप कर रही थी, उसे देखते ही [वाल्मीकि के मुख से] यह श्लोक फूट पड़ा—

"ओ निषाद! [व्याध!] यह जो तुमने क्रौञ्च के जोड़े में से एक को [नर को] जो कि कामवश [क्रौञ्ची के प्रति] मुग्ध था, मार डाला है, तो तुम भी निरन्तर वर्षों तक [अर्थात् शेष आयु-पर्यन्त] प्रतिष्ठा को—अपनी पत्नी के साथ रहने की स्थिति को—प्राप्त नहीं करोगे।"

इसके बाद [उधर] दिव्य-दृष्टि वाली देवी सरस्वती ने [यह सब कुछ जान लिया और उसने] इस 'श्लोक' को भी यह वर दिया कि जो व्यक्ति, जो कि और कुछ भी पढ़ा हुआ नहीं है, सबसे पहले इसे पढ़ेगा वह सारस्वत कवि हो जाएगा। [इसी वर के प्रभाव-स्वरूप] वह महामुनि [वाल्मीकि] वचन-प्रवृत्त हो गया, अर्थात् कवि-कर्म करने लगा, और उसने 'रामायण' नामक इतिहास की रचना की। और द्वैपायन (व्यास) ने भी इसी श्लोक का सर्वप्रथम पठन अथवा वाचन किया, जिसके प्रभाव-स्वरूप उसने महाभारत की रचना की, जिसमें एक लाख श्लोक हैं।

एक दिन ऋषियों और देवताओं में वेद के [किसी] विषय पर विवाद चल पड़ा तो चतुर ब्रह्मा देवता ने इसे [सरस्वती को] निर्णायिका के रूप में [कार्य करने के लिए] आमन्त्रित किया। काव्य-पुरुष को यह वृत्त ज्ञात हुआ तो वह भी माता के साथ चल पड़ा। [इस पर] सरस्वती उसे बोली—हे वत्स! ब्रह्मा ने तुझे नहीं बुलाया, अतः ब्रह्मलोक की यात्रा तेरे कल्याण के लिए न होगी। यह कहकर उसे तो आग्रह-पूर्वक लौटा दिया और स्वयं चल पड़ी। इसके उपरान्त वह काव्य-पुरुष रुष्ट होकर [घर से] निकल पड़ा। इसका परम मित्र कुमार [कार्तिकेय] फूट-फूट कर रोने लगा। [इस पर] पार्वती उसे बोली, 'प्रिय चुप हो जाओ, मैं इसे जाने से रोकती हूँ,' यह कह कर वह सोचने लगी। प्रायः जीवधारियों के लिए प्रेम के अतिरिक्त अन्य कोई बन्धन नहीं होता। अतः मैं इसे वश में करने के लिए किसी नारी को

निर्माण करती हूँ। यह सोचकर उसने 'साहित्य-विद्या-वधू' को उत्पन्न किया और आदेश दिया कि यह तेरा धर्मपति है, जो कि क्रुद्ध होकर आगे भागा जा रहा है, उसका पीछा करो और इसे लौटा ले आओ। [इसके बाद वह मुनियों से बोली—] हे काव्य-विद्या के स्नातक मुनियो ! आप इन दोनों के चरित की स्तुति करो, और यह स्तुति आप सबका काव्य-सर्वस्व बनेगी, यह कहकर भगवती पार्वती चुप हो गयी। वे सभी [मुनि और साहित्य-विद्या-वधू] वैसा [आदेश-पालन] करने के लिए चल पड़े।

इसके बाद वे सबसे पहले पूर्व दिशा को गए, जहा अंग, वंग, सुह्य, ब्रह्म, पुण्ड्र आदि जनपद (ज़िले) हैं। उस (काव्य-पुरुष) के साथ सम्पर्क को चाहती हुई उमा-पुत्री (साहित्य-विद्या-वधू) ने वहां जिस वेश को धारण किया, उसका अनुकरण वहा की निवासिनी महिलाओं ने भी किया। यह प्रवृत्ति (वेषानुकरण) 'औड्रमागधी' कहायी। इस प्रवृत्ति की मुनियों ने [इस प्रकार] स्तुति की—

गौड [प्रदेश] की महिलाओं का यह वेष चिरकाल-पर्यन्त सुशोभित हो—जिसमें वे चन्दन से आर्द्र अपने कुचों पर सूत्र में ग्रथित हार धारण करती हैं। दुकूल [को अपने सिर पर ऐसे रखती हैं कि वह उनके] केशवेश को चूमता रहता है, अर्थात् वे दुकूल से सिर को कम थोड़ा-सा ढाँप लेती हैं। वे अगरु का लेपन करती हैं, जिससे उनका शरीर 'दूर्वा' नामक घास के समान सदा रुचिर(ताज़ा)बना रहता है।[1]

उस सरस्वती-पुत्र (काव्य-पुरुष) ने अपनी इच्छा से वहां जो वेष धारण किया, वह भी वही प्रवृत्ति (अर्थात् औड्रमागधी) कहायी। उस [वधू] [ने काव्य-पुरुष को प्रसन्न करने के लिए] जो नृत्त, वाद्य आदि [कार्य] किया, वह 'भारती' वृत्ति कहाया। इस वृत्ति की भी मुनियों ने पूर्ववत् [स्तुति] की। उस प्रकार [की वेषभूषा एवं नृत्त-वाद्य आदि] को धारण करने पर भी वह [काव्य-पुरुष] इसके वश में नहीं आया, और वह समासयुक्त, अनुप्रास-युक्त और योग-वृत्ति-परम्परा[2] से समन्वित जिस वाक्य को बोला वह 'गौडी रीति' कहायी। मुनियों ने पूर्ववत् आचरण किया, अर्थात् इसकी भी यथापूर्व स्तुति की। × × ×

---

१. चन्दन का लेप वे काम के ताप को शान्त करने के लिए करती हैं। दुकूल से सिर को पूरा नहीं ढंपती जिससे कि वे मनोरम लगें। पुष्पहार धारण करने तथा बाहुमूलों को नग्न रखने के द्वारा भी वे अपने सौन्दर्य को बढ़ाती हैं। अगरु-लेपन का उद्देश्य—मधुसूदनी टीका के कर्ता के अनुसार—यह है कि इसके प्रयोग से वे सदा 'श्यामा' षोडशवर्षीया लगें। अगरुलेपनेन सर्वदा श्यामात्वमस्मासु प्रतीयतामित्याकांक्षा ध्वन्यते। श्यामा षोडशवार्षिकीति।

२. 'योगवृत्ति-परम्परा' से सम्भवतः यहा अभिप्राय है—संयुक्तवर्णावलि।

इसके बाद वह पञ्चालों की ओर [उत्तर दिशा में] चल पड़ा, जहाँ कि पांचाल, शूरसेन, हस्तिनापुर, काश्मीर, वाहीक, वाह्लीक, वाह्लवेय आदि जनपद हैं। वहाँ उसका सम्पर्क चाहती हुई उमा-पुत्री ने जो पूर्ववत् आचरण किया तो यह प्रवृत्ति 'पाञ्चालमध्यमा' कहायी। इसकी भी मुनियों ने स्तुति की। × × ×

महोदय [कान्यकुब्ज] की सुन्दरियों के वेष को हम नमस्कार करते हैं, जिसमें कि वे कर्णभूषण को धारण करती हैं और जब वह कुछ स्पन्दन करता है तो उनके कपोल-स्थल तरंगित हो उठते हैं। वे मोतियों का [इतना लम्बा] हार पहनती हैं कि वह नाभि तक थोड़ा-बहुत हिलता रहता है। वे अधोवस्त्र ऐसा धारण करती हैं कि जिससे कटि से लेकर घुटनों तक अंग ढका रहता है।

सरस्वती-पुत्र का मन अब कुछ द्रवित हो चला। वहाँ उस [पुरुष] ने जो वेष धारण किया—आदि सब उपर्युक्तवत् [जानिए], तथा उस [वधू] ने जो कुछ किया वह भी सब उपर्युक्तवत् जानिए। [उसे प्रसन्न करने के लिए] उस [वधू] ने जो कुछ नृत्त, गीत, वाद्य, विलास आदि [कार्य] दिखाये वह 'सात्वती वृत्ति' कहाया। वही [सात्वती वृत्ति जिन स्थलों में] कुटिल गति वाली हुई वहाँ उसे 'आरभटी' कहा गया। मुनियों ने उसकी भी स्तुति की। इस प्रकार [का आचरण] करने पर भी वह इसके कुछ वश में आ गया और उसने जो किंचित् असमस्त, अल्प-अनुप्रास-युक्त तथा उपचार- [लाक्षणिक-]समन्वित वाक्य बोला वह 'पाञ्चाली रीति' कहायी। इसकी भी मुनियों ने यथापूर्व स्तुति की।

इसके बाद काव्य-पुरुष [पश्चिम दिशा में] अवन्तियों की ओर चल पड़ा, जहाँ अवन्ती, वैदिश, सुराष्ट्र, मालव, अर्बुद, भृगुकच्छ आदि जनपद हैं। वहाँ उसके संसर्ग को चाहती हुई उमा-पुत्री ने—यह सब पूर्ववत् जानिए—तो वह प्रवृत्ति 'आवन्ती' कहायी। यह प्रवृत्ति पाञ्चाल-मध्यमा और दाक्षिणात्या प्रवृत्तियों की मध्यवर्ती है। अतः यहाँ सात्वती और कैशिकी नामक वृत्तियाँ रहती हैं। इस [पाचालमध्यमा] प्रवृत्ति की भी मुनियों ने स्तुति की—

[पश्चिम दिशा में स्थित इस] 'अवन्ति देश में पुरुषों का वेष पांचाल (उत्तर दिशा) के पुरुषों के सदृश है, तथा नारियों का वेष दक्षिण दिशा की नारियों के सदृश है। [इस प्रदेश में] जो जल्पित, अर्थात् वाग्विलास अथवा गीत आदि हैं तथा जो चरित अर्थात् नृत्य आदि हैं, वे एक-दूसरे के सदृश, अर्थात् परस्पर मिले-जुले हैं।'

इसके पश्चात् वह [काव्य-पुरुष] दक्षिण दिशा में जा पहुँचा, जहाँ मलय, मेकल, पाल और मजर नामक पर्वत हैं, तथा कुन्तल, केरल, महाराष्ट्र और गाग नामक जनपद हैं। वहाँ उसके संसर्ग को चाहती हुई उमा-पुत्री ने—यह सब पूर्ववत् जानिए। वहाँ दाक्षिणात्या प्रवृत्ति है। मुनियों ने इस प्रवृत्ति की भी स्तुति की—

"केरल-वासिनी सुन्दरियों के वेष की चिरकाल-पर्यन्त जय हो, जिसमें कि उनका शिरोभूषण मूल से ही वक्र केशों में सुन्दर लगता है, उनका मस्तक सुगन्धित अलकों—माथे पर पड़े बालों—के गुच्छों से सुशोभित होता है, उनकी नीवि (जघन-वस्त्र-ग्रन्थि) कक्षा (अन्तरीय वस्त्र) के बीच अच्छी प्रकार में छिपा ली जाती है।"

यहां पहुँचकर उसके प्रति अनुरक्त-मन होकर सरस्वती-पुत्र ने जिस वेश-भूषा को धारण किया—इत्यादि वृत्त पूर्ववत् जानिए। इस [नारी] ने जो विचित्र नृत्त, गीत, वाद्य, विलास आदि कार्य किया, उसे 'कैशिकी' वृत्ति कहा जाता है। इसकी मुनियों ने यथापूर्व स्तुति की। उससे अत्यन्त वशीभूत होकर काव्य-पुरुष ने स्थानानुप्रास [श्रुत्यनुप्रास] से युक्त, समास-रहित तथा योग-वृत्ति-गर्भित [अर्थात् अभिधा-मूला ध्वनि के सौन्दर्य से समन्वित] जिस वाक्य को बोला उसे 'वैदर्भी' रीति कहते हैं। इसकी भी मुनियों ने यथापूर्व स्तुति की।

इनमें से 'प्रवृत्ति' कहते हैं वेष-विन्यास-क्रम को अर्थात् वेषों के अपने-अपने प्रदेशों में प्रचलित सलीके के अनुरूप धारण करने के ढंग को, वृत्ति कहते हैं—विलास-विन्यास-क्रम को, अर्थात् अपने-अपने प्रदेश में प्रचलित नृत्त, गीत, वाद्य आदि के प्रयोग करने के ढंग को, और 'रीति' कहते हैं—वचन-विन्यास-क्रम को, अर्थात् अपने-अपने प्रदेश में प्रचलित वाग्विलास के व्यवहार के ढंग को। इस प्रसंग में कुछ आचार्यों ने यह आक्षेप किया है कि देश तो अनन्त हैं, किन्तु वृत्ति और प्रवृत्ति चार-चार प्रकार की निर्दिष्ट की गयी हैं, तो फिर इनसे सभी देशों का ग्रहण कैसे होगा? देशो [redacted] अनन्त होने के कारण वृत्ति, प्रवृत्ति के प्रकार भी अनन्त होने चाहिए। यायावर घुमक्कड़ राजशेखर की ओर से इसका उत्तर यह है कि अनन्त देशों को चार भागों में ही विभक्त करके वृत्ति-प्रवृत्ति भी चार-चार प्रकार की बतायी गयी हैं। यह ऐसे है जैसे कि [किसी] चक्रवर्ती क्षेत्र[1] ने यद्यपि अनन्त देश होने हैं, किन्तु उन्हें सामान्यतः एक ही माना जाता है। [उदाहरणार्थ] दक्षिण समुद्र से उत्तर दिशा की ओर सहस्र अथवा सहस्रों [योजन] चक्रवर्ती क्षेत्र हैं। वहाँ [यद्यपि बहुविध वेष-विधियाँ प्रचलित होंगी, तो भी उनमें किसी एक सामान्य विशेषता के होने के कारण] उनकी वेष-भूषा एक ही मानी जाती है। इसी प्रकार जिस देश में [इन्द्र आदि] दिव्य [विभूतियां] रहें, उसी देश की [कल्पित] वेष-भूषा के अनुसार [वेष-भूषा का] वर्णन करना चाहिए। कवि-जन अपने देश में [प्रचलित वेष-भूषा का] तो यथेष्ट वर्णन कर सकते हैं, अन्य द्वीप-निवासी जनों की वृत्ति और प्रवृत्ति का वर्णन भी उनमें प्रचलित वृत्ति और प्रवृत्ति के अनुकूल करना चाहिए। रीतियां तीन मानी गयी हैं ×××।

---

१. मधुसूदनी टीका के अनुसार 'चक्रवर्ती क्षेत्र' 'कुमारीपुरात् प्रभृति विन्दुसरोऽवधि' है, अर्थात् कुमारीपुर (सम्भवतः कुमारी अन्तरीप) से लेकर सम्भवतः हिमालय में स्थित विन्दुसर तक।

'विदर्भों' [सम्भवत 'बरार' प्रान्त के अकोला जिला] में 'वत्सगुल्म' [सम्भवत वासिम] नामक एक नगर है, जो कि कामदेव की क्रीडाभूमि है। वहां सारस्वतेय ने उमा-पुत्री के साथ गान्धर्व विवाह किया। इसके बाद वह वधू, वर को लौटाकर, उन प्रदेशों में घुमा-फिरा कर, हिमालय पर्वत पर आ पहुंची, जहां गौरी और सरस्वती [इनके विवाह के कारण] परस्पर सम्बन्धिनी बनी ठहरी हुई थीं। दम्पती ने इन दोनों की [चरण-] वन्दना की। उन्होंने दम्पती को आशीर्वाद देकर 'प्रभावमय शरीर से' कवियों के मानस का निवासी बना दिया। [सरस्वती और गौरी ने] इन दोनों [वर-वधू] की उस सृष्टि को कवियों के लिए स्वर्गलोक बना दिया, जहां [पहुंचकर] आवश्य मर्त्यलोक में रहते हुए भी काव्य रूप शरीर से [मानो] दिव्य-देह के द्वारा कविजन [युगों-युगों तक] आनन्द प्राप्त करते हैं।[1]

इस प्रकार बहुत पहले ब्रह्मा ने काव्य-पुरुष की सृष्टि की थी। जो इस *काव्य-पुरुष को काव्य से पृथक् करके समझ लेता है, वह लोक और परलोक में आनन्द प्राप्त करता है।*[2]

—काव्यमीमांसा तृतीय अध्याय

मूल पाठ

पुरा पुत्रीयन्ती सरस्वती तुषारगिरौ तपस्यामास। प्रीतेन मनसा तां विरिञ्चः[3] प्रोवाच—पुत्रं ते सृजामि। अथैषा काव्यपुरुषं सुषुवे। सोऽभ्युत्थाय सपादोपग्रहं छन्दस्वतीं वाचमुदचीचरत्—

> यदेतद् वाङ्मयं विश्वमर्थमूर्त्या विवर्तते।
> सोऽस्मि काव्यपुमानम्ब पादौ वन्देय तावकौ॥

तामाम्नायदृष्टचरीमुपलभ्य भाषाविषये छन्दोनुगां देवी सममन्दहर्षपर्यङ्केनादाय तमुदलापयत्, "वत्स, सच्छन्दस्काया गिरः प्रणेतः! वाङ्मयमातरमपि मातरं मां

---

१. यह अन्तिम कथन रूपक के रूप में प्रस्तुत किया गया है, जिसका अभिप्राय सम्भवत यह है कि कविजन सर्जन-प्रक्रिया के दो माध्यमों—'काव्यपुरुष' और 'साहित्य-विद्या-वधू,' अर्थात् क्रमश 'काव्यशास्त्र, और कल्पना-शक्ति'—के आधार पर काव्य-सृष्टि करके अलौकिक आनन्द प्राप्त करते हैं। फिर भी, यह स्थल बहुत अधिक स्पष्ट नहीं है।

२ काव्य से 'काव्य-पुरुष' को अलग करके जानने से सम्भवत यह आशय है कि काव्य को पढ़कर काव्यशास्त्रीय धारणाओं को समझना, उनका निर्माण करना तथा उनके आधार पर काव्य का परीक्षण करना आदि। हमारे विचार में 'काव्यपुरुष' शब्द सम्भवत काव्यशास्त्र का उपमान है। सुधी पाठक अपनी मति के अनुसार अन्य आशय भी ले सकते हैं।

३. पाठान्तर—विरञ्च।

विजयमे । प्रशस्यतम चेदमुदाहरन्ति यदुत 'पुत्रात्पराजयो द्वितीयं पुत्रजन्म' इति । त्वत्त पूर्वे हि विद्वांसो गद्य ददृशुर्न पद्यम् । त्वदुपज्ञमथात छन्दस्वद्वच प्रवर्त्स्यति । अहो श्लाघनीयोऽसि—

शब्दार्थौ ते शरीरम्, संस्कृत मुखम्, प्राकृत बाहु, जघनमपभ्र श, पैशाच पादौ, उरो मिश्रम् । समं प्रसन्नो मधुर उदार ओजस्वी चासि । उक्तिचण च ते वचो, रस आत्मा, रोमाणि छन्दांसि, प्रश्नोत्तरप्रवह्लिकादिक च वाक्केलिः, अनुप्रासोपमादयश्च त्वामलङ्कुर्वन्ति । भविष्यतोऽर्थस्याभिधात्री श्रुतिरपि भवन्तमभिस्तौति—

चत्वारि शृंगास्त्रयोऽस्य पादा द्वे शीर्षे सप्तहस्तासोऽस्य ।
त्रिधा बद्धो वृषभो रोरवीति महादेवो मर्त्यानाविवेश[1] ॥

'तथापि मवृण प्रगल्भस्व पद वर्य, वात्मोचित चेष्टस्व' इति निगद्य निवेश्य चैनमनोरहाश्रयिणी गण्डशैलनतलते स्नानुमभ्रगगा जगाम । तावच्च कुशान् समिधश्च समाहर्तुं निःसृतो महामुनिरुशना परिवृत्ते धूपपल्लोपप्लुत नमद्राक्षीत् । कस्यायमनाथो बाल इति चिन्तयन् स्वमाश्रमपदमनैषीत् । क्षणादाश्वस्तश्च स सारस्वतेय. तस्मै छन्दस्वती वाच ममचारयत् । अकस्मात् निस्मापयन चाभ्युवाच—

या दुग्धापि न दुग्धेव कविदोग्धृभिरन्वहम् ।
हृदि नः संनिधत्तां सा सूक्तिधेनुः सरस्वती ॥

तत्पूर्वकम् अध्येतॄणा च सुमेधस्त्वमादिदेश । तत. प्रभृति तमुशनस गन्त. कविरित्याचक्षते । तदुपचाराच्च कवय इति लोकयात्रा । कविशब्दश्च 'कवृ वर्णने' इत्यस्य धातोः काव्यकर्मणो रूपम् । काव्यैकरूपत्वाच्च सारस्वतेयोऽपि काव्यपुरुष इति भक्त्या प्रयुज्यते । ततश्च विनिर्गता वाग्देवी ,तत्र पुनमपश्यन्ती मध्येहृदय चक्रन्द । प्रसंगागतश्च वाल्मीकिर्मुनिवृष्णः मप्रश्रय तमुदन्तमुदाहृत्य भगवत्यै भृगुसूतेराश्रमपदमदर्शयत् । सापि प्रस्नुतपयोधरा पुत्रावाङ्कपाली दधाना शिरसि च चुम्बन्ती स्वस्तिमता चेतसा प्राचेतसायापि महर्षये निभृत[2] स्वच्छन्दांसि वचांसि प्रायच्छत् । अनुप्रेषितश्च स तया निषादनिहतसहचरी क्रौञ्चयुवतिं करुणकेङ्कारया गिरा क्रन्दन्तीमुदीक्ष्य शोकवान् श्लोकमुज्जगाद—

मा निषाद ! प्रतिष्ठां त्वमगमः शाश्वतीः समाः ।
यत्क्रौञ्चमिथुनादेकमवधीः काममोहितम् ॥

ततो दिव्यदृष्टिर्देवी तस्मा अपि श्लोकाय वरमदात्, यदुतान्यदधीयानो यः प्रथममेनमध्येष्यते स सारस्वतः कविः सम्पत्स्यत इति । स तु महामुनिः प्रवृत्तवचनो रामायणमितिहास समदृभत्, द्वैपायनस्तु श्लोकप्रथमाध्यायी तत्प्रभावेण शतसाहस्री संहिता भारतम् ।

---

१. पाठान्तर—मर्त्यमाविवेश ।

२. हमें यहाँ 'निभृतम्' अधिकपद प्रतीत होता है ।

मध्यमादाक्षिणात्ययोरन्तरचारिणी हि सा। अत एव सात्त्वतीकैशिक्यौ तत्र वृत्ती। ता ते मुनयो ऽभितुष्टुवुः—

पाञ्चालनेपथ्यविधिर्नराणां स्त्रीणां पुनर्नन्दतु दाक्षिणात्यः।
यज्जल्पितं यच्चरितादिकं तद् अन्योन्यसंभिन्नमवन्तिदेशे॥

ततश्च स दक्षिणां दिशमाससाद। यत्र मलयमेकलकुन्तलकेरलपालमंजरा. पर्वता। कुन्तलकेरलमहाराष्ट्रगाङ्गादयो जनपदा। तत्राभिमुख्याना तमौमेयीति समान पूर्वेण। सा दाक्षिणात्या प्रवृत्ति। ता ते मुनयो ऽभितुष्टुवु —

आमूलतो वलितकुन्तलचारुचूडश्चूर्णालकप्रचयलाञ्छितभालभागः।
कक्षानिवेशनिबिडीकृतनीविरेष वेषश्चिरं जयति केरलकामिनीनाम्॥

तामनुरक्तमना स यत्नेनध्य सारस्वतेय आसीदिति समान पूर्वेण। साऽपि सैवेति समान पूर्वेण। यद् विचित्रनृत्तगीतवाद्यविलासादिकमेषाविर्भावयामास सा कैशिकी वृत्ति। ता ते मुनय इति समान पूर्वेण। यदल्पं च स तया वशवदीकृतः स्थानानुप्रासवद् असमास योगवृत्तिगर्भं च [वाक्यं] जगाद सा वैदर्भी रीति.। ता ते मुनय इति समान पूर्वेण।

तत्र वेषविन्यासक्रम प्रवृत्ति, विलासविन्यासक्रमो वृत्ति., वचनविन्यासक्रमो रीति। 'चतुष्टयी गतिर्वृत्तीना प्रवृत्तीना च देशाना पुनरानन्त्य कथमिव कार्त्स्न्येन परिग्रह' इत्याचार्याः। अनन्तानपि हि देशान् चतुर्धैवाकल्प्य कल्पयन्ति 'चक्रवर्तिक्षेत्रं' सामान्येन तदवान्तरविशेषैः पुनरनन्ता एव इति यायावरीयः दक्षिणात् समुद्राद् उदीचीं दिशं प्रति योजनसहस्र चक्रवर्तिक्षेत्रं, तत्र च नेपथ्यविधिः। ततः पर दिव्याया अपि य देशमधिवसेयुस्तद्देश्यं वेषमाश्रयन्तो निबन्धनीया.। स्वभूमौ तु कामाचारः। द्वीपान्तरभवाना तदनुसारेण वृत्तिप्रवृत्ती। रीतयस्तु तिस्रः × × ×।

तत्रास्ति मनोजन्मनो देवस्य क्रीडावासो विदर्भेषु वत्सगुल्म नाम नगरम्। तत्र सारस्वतेय तामौमेयीं गान्धर्ववत् परिणिनाय। ततस्तद्वधूवर विनिवृत्य तेषु प्रदेशेषु विहरमाण तुषारगिरिमेवाजगाम, यत्र गौरी सरस्वती च मिथः सम्बन्धिन्यौ तस्यतुः। तौ च कृतवन्दनौ दम्पती दत्ताशिषं प्रभावमयेन वपुषा कविमानसनिवासिनौ चक्रतु। तयोश्च तं सर्गं कविस्य: स्वर्गलोकमकल्पना, यत्र काव्यमयेन शरीरेण मर्त्यमधिवसन्तो दिव्येन देहेन कवय आकल्पं मोदन्ते।

इत्येष काव्यपुरुषः पुरा सृष्टः स्वयम्भुवा।
एवं विभज्य जानानः प्रेत्य चेह च नन्दति॥

—काव्यमीमांसा (तृतीयोऽध्यायः)

○ ○ ○

४. संस्कृत काव्यशास्त्र पर विहङ्गम दृष्टि

—भट्ट वामनाचार्य झलकीकर
—रुय्यक
—समुद्रबन्ध

भट्ट वामनाचार्य झलकीकर[1]

जिसके अध्ययन से [काव्य-विषयक] स्वरूप, दोष, गुण, अलंकार आदि के अवधारण द्वारा काव्य-रचना की प्रतिभा का उन्मेष होता है उसे 'अलंकार-शास्त्र' कहते हैं। जिस प्रकार भाषा में निपुणता-प्राप्ति के लिए व्याकरण की अपेक्षा रहती है, उस प्रकार काव्य में भी निपुणता-प्राप्ति के लिए अलंकारशास्त्र की अपेक्षा रहती है। अलंकारशास्त्र के बिना न केवल काव्य में निपुणता नहीं होती, अपितु काव्य-दोष के प्रति भी [समीक्षण-]दृष्टि उत्पन्न नहीं होती। × × × यही कारण है कि व्याकरण आदि के समान यह शास्त्र भी अवश्य-अध्येतव्य [शास्त्रों] की श्रेणी में अन्तर्भूत किया जाना चाहिए।

अलंकारशास्त्र की रचना सर्वप्रथम किसके द्वारा और कब हुई—इसका निर्णय करने में हम असमर्थ हैं। [काव्यप्रकाश के] विवरणकार का कथन है कि सभी प्रसिद्ध अलंकार-निबन्धों (काव्यशास्त्रीय ग्रन्थों) में कालिदास की कृतियों से उद्धरण लिये गये हैं, अतः इस शास्त्र की चर्चा प्रायः कालिदास के उत्तरकाल में हुई।

किन्तु हमारा विचार है कि दण्डी ने अथवा भामह ने इस शास्त्र का सर्वप्रथम निर्माण किया, क्योंकि इनसे पूर्व अलंकारशास्त्र के किसी निर्माता का [नाम] नहीं मिलता। × × × हाँ, अग्निपुराण में भगवान् वेदव्यास ने प्रायः सभी काव्य-प्रपंच का विस्तार-पूर्वक कथन किया है, अतः कालिदास से पूर्व भी इस [शास्त्र] की चर्चा थी ही। × × × इस प्रकार इस अलंकारशास्त्र का मूल अग्निपुराण है।[2]

---

१. —काव्यप्रकाश का प्रसिद्ध टीकाकार। टीका का नाम : बालबोधिनी। टीका का रचना-काल : संवत् १९०४ (सन् १८९१ ई०)।
—यह स्थल टीकाकार की प्रस्तावना (पृष्ठ १, २, २०) से लिया गया है। मूल-पाठ : देखिए पृष्ठ ४८।
—यद्यपि झलकीकर का समय रुय्यक और समुद्रबन्ध के बाद है, किन्तु विषय के सम्यक् निर्वहण के लिए यहां इसके अंश को उनसे पहले प्रस्तुत किया जा रहा है।

२. किन्तु हमारे विचार में अग्निपुराण के काव्यशास्त्रीय भाग (अध्याय ३३७-३४७) की रचना भोजराज के समय (११वीं शती के पूर्वार्द्ध) के आसपास हुई होगी।

[इस प्रकार] दोष, गुण आदि के निरूपण किये जाने पर भी इस [शास्त्र] का नाम 'अलकारशास्त्र' क्यो पडा—इसका स्रोत वस्तुत हमें ज्ञात नहीं है। फिर भी, हम यह कल्पना करते है कि ['अलकारशास्त्र' शब्द में प्रयुक्त] 'अलकार' शब्द यमक, उपमा आदि का बोधक नही है, क्योंकि हमें [इस प्रसग में 'अलकार' शब्द की] 'अलक्रियतेऽनेन' [इति अलकार] यह करण-परक व्युत्पत्ति अभीष्ट नही है, अपितु 'अलकृतिरलकार' यह भाव-परक व्युत्पत्ति अभीष्ट है, जिससे 'अलकार' शब्द दोष-त्याग तथा गुण और अलकार के सकलन द्वारा 'सौन्दर्य' अर्थात् काव्य-शोभा [का पर्याय] बन गया है—और तभी इस शास्त्र का नाम 'अलकार-शास्त्र' है।[1] × × ×

हमारी तर्कणा तो यह भी है कि जिस प्रकार गौतम-प्रणीत शास्त्र में यद्यपि प्रमाण, प्रमेय, सशय, प्रयोजन [आदि] सोलह पदार्थों का प्रतिपादन है, किन्तु फिर भी, उसे 'न्यायशास्त्र' कहा जाता है, क्योंकि उसमें पदार्थ, अनुमान के पर्याय 'न्याय' से ही [सम्बन्धित] सकल विद्या का विवेचन किया गया है, तथा [यह शास्त्र न्याय से सम्बन्धित] सभी कर्मों के अनुष्ठान का साधन है, उसी प्रकार 'अलकार-शास्त्र' भी यद्यपि दोष, गुण आदि का प्रतिपादक है, किन्तु इसमें यमक, उपमा आदि अलकारों का अधिकता से प्रतिपादन होने के कारण तथा काव्य मे भी इन्ही का ही सर्वाधिक व्यवहार होने के कारण इस शास्त्र का नाम 'अलकार-शास्त्र' है—क्योंकि नामकरण तो प्रधानता के ही आधार पर होते हैं। × × ×

'अलकारशास्त्र' इस नाम का स्रोत वस्तुत इस रूप मे जाना जा सकता है—दण्डी, भामह, उद्भट, रुद्रट और वामन—इन प्राचीन अलकारशास्त्र-प्रणेताओ ने ध्वन्यमान अर्थ को, वाच्य [अर्थ] का उपकारक होने के कारण, 'अलंकार' मे ही समाविष्ट करते हुए यह सिद्धान्त प्रतिपादित किया कि 'काव्य मे अलकार ही प्रधान होता है।' अत. तभी से इस शास्त्र का 'अलंकारशास्त्र' नाम 'नामकरण प्रधानता के आधार पर होता है' इस धारणा के बल पर सप्रमाण था। इसके उपरान्त गूढ-विचारशाली आचार्य आनन्दवर्धन ने 'ध्वन्यालोक' नामक अपने ग्रन्थ मे ध्वन्यमान अर्थ की ही प्रधानता प्रतिष्ठित कर दी, जो कि गुण और अलकार द्वारा उपस्कृत होता है, और इस प्रकार यद्यपि अलकारो की प्रधानता खण्डित हो गयी, फिर भी, इस शास्त्र का नाम प्राचीन प्रणाली के अनुसार 'अलकारशास्त्र' ही प्रचलित रहा।

इसके पश्चात् मम्मट उपाध्याय ने इस शास्त्र के, अर्थात् अपने 'काव्यप्रकाश' नामक ग्रंथ के, आठवें उल्लास मे [निम्नोक्त कथनो द्वारा] यह सिद्ध किया कि जिस प्रकार शरीर मे आत्मा प्रधान रूप से स्थित रहता है, उसी प्रकार काव्य मे रस प्रधान रूप से स्थित रहता है—और इस प्रकार ['प्राधान्येन व्यपदेशा भवन्ति', अर्थात् 'नाम-

१. इस अर्थ को लक्ष्य मे रखकर 'अलकारशास्त्र' को आधुनिक शब्दावलि मे 'सौन्दर्य-शास्त्र' (Aesthetics) का पर्याय मान सकते हैं।

करण प्रधानता के आधार पर किये जाते हैं,'] उपर्युक्त न्याय के अनुसार इस शास्त्र का नाम अब यद्यपि 'रसशास्त्र' रखना समुचित है, फिर भी, वही पूर्व प्रचलित नाम—'अलंकार-शास्त्र'—आज तक भी चल रहा है। [मम्मट-प्रस्तुत कथन हैं—] 'शब्दार्थ काव्य के शरीर हैं, गुण अंगीभूत रस के धर्म [होने के नाते] रस के साक्षात् उत्कर्षक हैं, अलंकार तो शब्दार्थ-रूप काव्य-शरीर के उत्कर्ष द्वारा रस के ही उत्कर्षक हैं, और रस आत्मा का स्थान ग्रहण किये हुए है।'

× × ×

अलंकार-ग्रन्थों (काव्यशास्त्रीय ग्रन्थों) की रचना-प्रणालियां भी विविध हैं। वामन-प्रणीत 'काव्यालंकारसूत्र' आदि में दोष, गुण और अलंकार [अपने] इसी क्रम में निरूपित किये गये हैं, [और] काव्यादर्श आदि में पहले गुण, फिर अलंकार और फिर दोष का [निरूपण किया गया है।] किन्तु काव्यलक्षण सब [ग्रन्थों] में सर्वप्रथम प्रतिपादित किया गया है। × × ×

प्राचीन [काव्याचार्यों]—वामन, वाग्भट,[1] दण्डी, भोजदेव आदियों के ग्रन्थ अत्यन्त प्रसन्न (सरल) हैं, इनमें प्रायः सूक्ष्म विचारों का अभाव है, इनमें प्रकृत विषयों का प्रतिपादन स्थूल रूप से किया गया है—और [इसी से ही] निर्विवाद रूप से उनका महत्त्व है। जगन्नाथ का नवीन भी ग्रन्थ 'रसगंगाधर' उत्कृष्ट है। इसमें एक भी ऐसा विषय नहीं है जोकि युक्तियों पर आधारित न हो, बल्कि ये सभी [विषय] अति सूक्ष्म अनुसन्धान के बल पर निर्णीत किये गये हैं। रचना-शैली भी कठिन नहीं है। × × × हाँ, इसमें यह एक दोष [अवश्य] है कि अनेक स्थलों पर नैयायिकों के सिद्धान्तों के तर्कों के अनुसार किसी विषय का खण्डन अथवा मण्डन किया गया है। मम्मट-उपाध्याय-महोदय [भी] अपने कथन को युक्ति-पूर्वक उपस्थित करते हैं तथा सूक्ष्म विषयों को [मौलिक रूप से] प्रकट करते हैं। इनका 'काव्यप्रकाश' नामक ग्रन्थ सर्व प्रकार से एक उत्कृष्ट ग्रन्थ है। किन्तु इसमें एक महान् दोष है कि किसी-किसी स्थल का आशय तो इतना अधिक दुर्ज्ञेय है कि सुधी रचयिता (पाठक) भी इसका वास्तविक अभिप्राय समझने में असमर्थ रहते हैं। × × × इसी कारण इस पर बहुत सी टीकाएं लिखी गयीं। महेश्वर-भट्टाचार्य का कथन है कि 'यद्यपि काव्यप्रकाश की टीकाएं घर-घर में की गई हैं, फिर भी यह ग्रन्थ दुर्गम है। × × ×

—काव्यप्रकाश-प्रस्तावना, पृष्ठ १, २, २०

[मूल पाठ]

यस्मिन् खलु अवगते काव्यस्य निर्माणे स्वरूपदोषगुणालंकारादीनाम-वधारणे च शक्तिरुत्पद्यते तदलंकारशास्त्रम्। यथा च व्याकरणं भाषाया व्युत्पत्त्यै अपेक्ष्यते, तथा अलंकारशास्त्रमपि काव्ये नैपुण्यायापेक्ष्यते। न केवलमलंकारशास्त्रं विना

१. वाभट और वाग्भट ये दोनों अलग-अलग काव्याचार्य हैं। (देखिए का० प्र० झलकीकर-संस्करण, प्रस्तावना पृष्ठ १६, १७, १८।

न्तिततया रस शरीरेष्वात्मवत् काव्ये प्राधान्येन स्थित इति प्रागुक्तन्यायेनास्य शास्त्रस्येदानी यद्यपि रसशास्त्रमिति व्यपदेशो युक्त:, तथापि स एव प्राक्प्रचारमुपगतो व्यपदेशोऽद्यावधि तथैव प्रचरतीति । ० ०

अलंकारनिबन्धाना रचनाप्रणाल्योऽपि विविधा: । वामनसूत्रादौ दोषगुणालंकारा क्रमेण निरूपिता: । काव्यादर्शादौ प्रथम गुणा ततोऽलंकार, ततश्च दोषा इति । किन्तु मत्रैव प्रथम काव्यलक्षणमभिहितम् । × × ×

प्राचीनाना वामनभामहदण्डिभोजदेवादीना निबन्धा: अतीव प्रसन्ना: प्राय. सूक्ष्मविचारविहीनाश्च स्यु:न. प्रकृतविषयप्रतिपादनार्थमेव हि ते प्रवृत्ता इति तेषां निर्विवाद सर्वोत्कर्ष. । जगन्नाथस्य नवीनोऽपि रसगंगाधर उत्कृष्ट । तत्र नैकोऽपि विषय प्रायो निर्विचार, उक्त प्रत्युत सर्व एव सं, अतीव सूक्ष्ममनुसन्धानेन निर्णीता.। तापि च रचनाया काठिन्यम् । × × × केवलमेको दोष, यदनेकत्र नैयायिकसमयानुसारितर्केण दूषणभूषणादिकरणमिति । अथ हि युक्त्या स्वोक्तिमुपपादयता सूक्ष्म च विषयमाविष्कुर्वता मम्मटोपाध्यायाना काव्यप्रकाशाख्यो निबन्ध सर्वांशे निरतिशयोत्कर्षमाश्रयते । पर तत्रायमेको महान् दोष, यत् कस्यचित् कस्यचिदंशस्य अभिप्रायो दुरधिगम इति ॥ कुशाग्रधियो अपि कृतिनस्तत्रत्ताऽधिगन्तु न शक्नुवन्ति । × × × अत एवास्य टीका बहुत्र सवृत्ता । उक्त च महेश्वरभट्टाचार्येण "काव्यप्रकाशस्य कृता गृहे-गृहे टीकास्तथाप्येष तथैव दुर्गमा ।" × × ×

—काव्यप्रकाश-प्रस्तावना पृष्ठ १, २, २०

रुय्यक[1]

भामह, उद्भट आदि प्राचीन काव्यशास्त्रियों ने प्रतीयमान अर्थ को 'अलंकार' के अन्तर्गत स्वीकार किया है, क्योंकि [उनकी दृष्टि में] यह [प्रतीयमान अर्थ-] वाच्य अर्थ का उपकारक है । यही कारण है कि उन्होंने पर्यायोक्त, अप्रस्तुतप्रशंसा, समासोक्ति, आक्षेप, व्याजस्तुति, उपमेयोपमा, अनन्वय आदि [अलंकारों] में गम्यमान वस्तु (अर्थात्, वस्तु-व्यंग्य)को सगति के अनुसार[निम्नोक्त] दो रूपों में प्रस्तुत किया है—(१) जहां अपने अर्थ को सिद्ध करने के लिए दूसरे अर्थ का आक्षेप किया जाए, और (२) जहां दूसरे अर्थ को सिद्ध करने के लिए अपने अर्थ को नितान्त छोड़ दिया जाए ।[2]

रुद्रट ने भाव अलंकार को दो प्रकार का कहा है ।[3]

---

१ जीवनकाल १२ वीं शती । विशेष विवरण के लिए देखिए पृष्ठ २२
ग्रन्थ . अलंकार-सर्वस्व

२ स्वसिद्धये पराक्षेप. परार्थं स्वसमर्पणम् ।

३ 'अलंकारसर्वस्व' के टीकाकार जयरथ के अनुसार रुद्रट-सम्मत 'भाव' अलंकार का एक प्रकार 'प्रधान-व्यंग्य' है और दूसरा प्रकार 'अप्रधान-व्यंग्य'—
गुणीभूतागुणीभूतवस्तुविषयत्वेनेत्यर्थ: । 'अलंकारसर्वस्व-टीका' पृष्ठ ३

[इस सम्बन्ध मे निम्नोक्त तीन तथ्य उल्लेख्य हैं—] (१) रूपक, दीपक, अपह्नुति, तुल्ययोगिता आदि [अलंकारों] मे [प्रतीयमान] उपमा आदि 'अलंकार-समूह' को वाच्य का उपकारक कहा गया है, (२) उत्प्रेक्षा अलंकार को तो स्वयं ही प्रतीयमान (व्यंग्य) माना गया है। (३) रसवत्, प्रेय आदि [अलंकारों] मे तो रस, भाव आदि को वाच्यार्थ की शोभा का हेतु कहा गया है। इस प्रकार तीनों प्रकार के व्यंग्यार्थ को अलंकार कहा गया है।[1]

वामन ने तो सादृश्य-निबन्धना अर्थात् गौणी लक्षणा को 'वक्रोक्ति अलंकार' कहते हुए किसी ध्वनि-भेद को [अर्थात् लक्षणामूलक अत्यन्त-तिरस्कृत-वाच्य-ध्वनि नामक भेद को] 'अलंकार' नाम दिया है। [उनके मत में तो] केवल 'रीति' काव्य की आत्मा है, [और रीति कहते हैं] विशिष्ट-पद-रचना को, जिसमें गुणों के कारण विशेषता आती है। [किन्तु] उद्भट आदि ने गुण और अलंकार को प्रायः एक ही माना है—इनमें भेद तो केवल विषय का ही है। यथा [गुण], 'संघटना' के धर्म होते हैं और [अलंकार] 'शब्दार्थ' के।[2]

इस प्रकार प्राचीन [काव्यशास्त्रियों] के मतानुसार काव्य में अलंकार की ही प्रधानता है।

'वक्रोक्तिजीवित' ग्रन्थ के कर्त्ता [कुन्तक] ने काव्य का जीवित 'वक्रोक्ति' को माना। वक्रोक्ति से तात्पर्य है—'वैदग्ध्य-भंगी-भणिति', अर्थात् कवि की विदग्धता से जन्य विच्छित्ति से पूर्ण कथन, और जिसके अनेक भेदोपभेद हैं। काव्य में 'व्यापार' (कविकर्म) की प्रधानता होती है—ऐसा कुन्तक ने माना है। अलंकार [तो] कथन के प्रकार-विशेष को कहते हैं, [अतः यह काव्य का जीवित नहीं हो सकता।] अब ध्वनि [व्यंग्य] को लीजिए: [किसी भी काव्य में] व्यंग्यार्थ के होते हुए भी—जिसके [प्रमुख] तीन भेद हैं[3]—कवि के मतानुसार [काव्य] में वाहृत इष्ट तो [कवि का वक्र] व्यापार-रूप

---

१. यह धारणा भामह, दण्डी और उद्भट की है। ऊपर रुद्रट का उल्लेख देखकर इसे रुद्रट की धारणा नहीं समझना चाहिए।

२. (क) संघटनाधर्मत्वेन चेष्टः।—अलंकारसर्वस्व
(ख) संघटनाश्रयाः गुणाः। शब्दार्थाश्रयास्त्वलंकाराः।
—प्रतापरुद्रयशोभूषण (रत्नापण टीका)

[रुय्यक के इस कथन का तात्पर्य यह है कि वामन-सम्मत रीति को विभिन्न गुणों का समन्वित रूप न मानकर वस्तुतः अलंकारों का ही समन्वित रूप मानना चाहिए, क्योंकि उद्भट के मत में गुण और अलंकार में मूलतः कोई भेद नहीं है। अतः वामन-सम्मत 'रीति' भी 'अलंकार' में ही अन्तर्भूत हो जाती है।]

३. वस्तु-ध्वनि, अलंकार-ध्वनि और रसध्वनि।

कथन ही होता है। ध्वनि के सभी [सहस्रों] भेदोपभेद 'उपचार-वक्रता' आदि मे अन्तर्भूत हो जाते है—यह कुन्तक को स्वीकृत है। अतः उनका यह मन्तव्य है कि केवल 'उक्ति का वैचित्र्य' ही काव्य का जीवित है, न कि व्यंग्यार्थ।

भट्टनायक के अनुसार प्रौढ उक्ति से प्राप्त व्यग्य व्यापार तो काव्य का [एक] अश मात्र है। [वस्तुत.] काव्य मे प्रधानता उस व्यापार (अर्थात् कवि-कर्म) की होती है जिसके द्वारा शब्द और अर्थ का स्वरूप गौण हो जाता है। इस स्थिति मे भी (अर्थात् कवि-कर्म की प्रधानता स्वीकार करते हुए भी), उन्होने अभिधा-स्वरूप व्यापार और भावकत्व-स्वरूप व्यापार—इन दोनो व्यापारो के घटित होने के उपरान्त घटित होने वाले तीसरे 'भोग' नामक व्यापार को प्रधान रूप मे[1] स्वीकृत किया है। 'भोग' कहते है—रसचर्वणा को।

ध्वनिकार [आनन्दवर्धन] के अनुसार व्यञ्जन-व्यापार (अर्थात् व्यञ्जना शब्दशक्ति) अभिधा, तात्पर्य और लक्षणा नामक तीनो व्यापारो के उपरान्त घटित होता है। ध्वनन, द्योतन आदि शब्द इस [व्यजन-व्यापार] के पर्यायवाची है। यह व्यापार काव्य मे अवश्यभावी है। वाक्य के अर्थ को 'व्यजन-व्यापार' नही कहते, वाक्य का अर्थ तो 'व्यग्यार्थ' होता है, और गुण तथा अलकार इस [व्यग्यार्थ] का उपकार (उत्कर्ष) करते हैं। अत. यही व्यग्यार्थ ही [काव्य मे] प्रधान रूप से स्थित होता है। ध्वनिकार ने इसे ही काव्य की आत्मा रूप मे प्रतिष्ठित किया है।

[व्यजन-] व्यापार [काव्य मे वर्णित] विषय, अर्थात् व्यग्यार्थ के द्वारा ही स्वरूप प्राप्त करता है। विषय (व्यग्यार्थ) की प्रधानता से [व्यजन-] व्यापार की प्रधानता होती है। [व्यजन-] व्यापार अपने स्वरूप, अर्थात् लक्षण-निर्देशमात्र से ज्ञात नही होता [अपितु विषय (व्यग्यार्थ) से ज्ञात होता है]। अत विषय (व्यग्यार्थ) ही [काव्य मे व्यजन व्यापार के] भार को वहन करता है। इसी कारण व्यग्य नाम रखने वाले विषय को ही काव्य की आत्मा कहना चाहिए। गुण एव अलकार द्वारा इसी को ही सौन्दर्य प्राप्त होता है, जिसके कारण काव्य मे इसका साम्राज्य रहता है।

रस आदि (रस, भाव, रसाभास, भावाभास आदि—इन आठो) को, जो कि काव्य के जीवित (आत्मा) माने गये है, [रसवद् आदि] अलकार [नाम] से अभिहित नही करना चाहिए। अलकार तो [रसादि का] उपकार करते है, और रसादि उपकृत होते है, क्योकि [काव्य मे] इनकी प्रधानता होती है। अतः काव्य का जीवित (आत्मा) व्यग्य ही है, जो कि वाक्य का अर्थभूत है, अर्थात् वाक्य का वह अर्थ जो कि कवि को अभीष्ट है, और यही मन्तव्य ही वाक्यार्थ (व्यग्यार्थ) को जानने वाले सहृदयो के लिए आकर्षक है।

---

१. प्राधान्येन विश्रान्तिस्थानतयाऽङ्गीकृत.।

व्यक्तिविवेक के कर्ता महिमभट्ट ने वाच्यार्थ को प्रतीयमानार्थ (व्यग्यार्थ) का लिंगी मानते हुए, अर्थात् वाच्यार्थ मे ही प्रतीयमानार्थ की स्थिति होती है—यह स्वीकार करते हुए व्यजन (-व्यापार) का अन्तर्भाव अनुमान मे किया है, किन्तु उनका यह कथन अविचारपूर्ण है, क्योंकि न तो वाच्यार्थ का व्यग्यार्थ के साथ कोई तादात्म्य (अभिन्नता) का सम्बन्ध है, अर्थात् दोनो एक नहीं हैं, और न ही वाच्यार्थ से व्यग्यार्थ की उत्पत्ति होती है। यह [विषय] कुशाग्र-बुद्धि जनो द्वारा अनुसन्धेय है तथा अति गहन-गहन है, अत. यहा इसका विस्तार नहीं किया जा रहा।

[मूल पाठ]

इह हि तावद् भामहोद्भटप्रभृतयश्चिरन्तनालंकारकाराः प्रतीयमानमर्थं वाच्योपस्कारकतयाऽलंकारपक्षनिक्षिप्तं मन्यन्ते। तथाहि—पर्यायोक्ताऽप्रस्तुतप्रशसा-समासोक्त्याक्षेपव्याजस्तुत्युपमेयोपमानानन्वयादौ वस्तुमात्रं गम्यमानं वाच्योपस्कारकत्वेन 'स्वसिद्धये पराक्षेपः परार्थं स्वसमर्पणम्' इति यथायोगं द्विविधया भंग्या प्रतिपादितं तैः।

रुद्रटेन तु भावालंकारो द्विविधैवोक्तः।

रूपकदीपकाऽपह्नुतितुल्ययोगितादौ उपमाद्यलंकारो वाच्योपस्कारकत्वेनोक्तः। उत्प्रेक्षा तु स्वयमेव प्रतीयमाना कथिता।

रसवत्प्रेयःप्रभृतौ तु रसभावादिर्वाच्यशोभाहेतुत्वेनोक्तः। तदित्थं त्रिविधमपि प्रतीयमानमलंकारतया ख्यापितमेव।

वामनेन तु सादृश्यनिबन्धनाया लक्षणाया वक्रोक्त्यलंकारत्वं ब्रुवता कश्चिद् ध्वनिभेदोऽलंकारतयैवोक्तः। केवलं गुणविशिष्टपदरचनात्मिका रीतिः काव्यात्मकत्वेन उक्ता।

उद्भटादिभिस्तु गुणालंकाराणां प्रायशः साम्यमेव सूचितम्। विषयमात्रेण भेदप्रतिपादनात्। संघटनाधर्मत्वेन चेष्टेः। तदेवमलंकारा एव काव्ये प्रधानमिति प्राच्यानां मतम्।

वक्रोक्तिजीवितकारः पुनर्वैदग्ध्यभंगीभणितिस्वभावां बहुविधां वक्रोक्तिमेव प्राधान्यात् काव्यजीवितमुक्तवान्। व्यापारस्य प्राधान्यं च काव्यस्य प्रतिपेदे। अभिधानप्रकारविशेषा एव चालंकाराः। सत्यपि त्रिभेदे प्रतीयमाने व्यापाररूपा भणितिरेव कविसंरम्भगोचरः। उपचारवक्रतादिभिः समस्तो ध्वनिप्रपञ्चः स्वीकृतः। केवलमुक्तिवैचित्र्यजीवितं काव्यम्, न व्यंग्यार्थजीवितमिति तदीयं दर्शनं व्यवस्थितम्।

भट्टनायकेन तु व्यंग्यव्यापारस्य प्रौढोक्त्याभ्युपगतस्य काव्यांशत्वं ब्रुवता न्यग्भावितशब्दार्थस्वरूपस्य व्यापारस्यैव प्राधान्यमुक्तम्। तत्राप्यभिधाभावकत्वलक्षणव्यापारद्वयोत्तीर्णो रसचर्वणात्मा भोगापरपर्यायो व्यापारः प्राधान्येन विश्रान्तिस्थानतया ऽङ्गीकृतः।

ध्वनिकारः पुनरभिधातात्पर्यलक्षणाख्यव्यापारत्रयोत्तीर्णस्य ध्वननद्योतनादिशब्दाभिधेयस्य व्यञ्जनव्यापारस्याऽवश्याभ्युपगम्यत्वाद् व्यापारस्य च वाक्यार्थत्वा-

भावाद् वाक्यार्थस्यैव च व्यंग्यरूपस्य गुणालंकारोपस्कर्तव्यत्वेन प्राधान्याद् विश्रान्तिधामत्वादात्मत्वं सिद्धान्तितवान् ।

व्यापारस्य विषयमुखेन स्वरूपप्रतिलम्भात् तत्प्राधान्येन प्राधान्यात् स्वरूपेण विदितत्वाभावाद् विषयस्यैव समग्रभरसहिष्णुत्वम् । तस्माद् विषय एव व्यंग्यनामा जीवितत्वेन वक्तव्यः । यस्य गुणालंकारकृतचारुत्वपरिग्रहसाम्राज्यम् । रसादयस्तु जीवितभूता नालंकारत्वेन वाच्याः । अलंकाराणामुपस्कारकत्वाद् रसादीनां च प्राधान्येनोपस्कार्यत्वात् । तस्माद् व्यंग्य एव वाक्यार्थीभूतः काव्यजीवितमित्येष एव पक्षो वाक्यार्थविदां सहृदयानामावर्जकः । व्यंजनव्यापारस्य सर्वैरनपह्नुतत्वात् तदाश्रयेण च पक्षान्तरस्याऽप्रतिष्ठानात् ।

यत्तु व्यक्तिविवेककारो वाच्यस्य प्रतीयमानं प्रति लिङ्गितया व्यञ्जनस्यानुमानान्तर्भावमाख्यत् तद्वाच्यस्य प्रतीयमानेन सह तादात्म्यतदुत्पत्त्यभावाद् अविचारिताऽभिधानम् । तदेतत् कुशाग्रधिषणैः क्षोदनीयमतिगहनगहनमिति नेह प्रतन्यते ।
—अलंकारसर्वस्व, पृष्ठ १-६

समुद्रबन्ध[1]

विशिष्ट शब्दार्थ को काव्य कहते हैं। उन [शब्द और अर्थ] की विशिष्टता धर्म, व्यापार और व्यंग्य—इन तीन पक्षों के माध्यम से जानी जाती है। पहले पक्ष अर्थात् धर्म-पक्ष के दो प्रकार हैं—(१) अलंकार और (२) गुण। दूसरे पक्ष, अर्थात् व्यापार-पक्ष के भी दो प्रकार हैं—(१)भणिति-वैचित्र्य और (२) भोग। इस प्रकार कुल मिला कर पाँच पक्षों में से पहला अर्थात् 'अलंकार' धर्म उद्भट आदि [आचार्यों] द्वारा स्वीकृत किया गया, दूसरा अर्थात् 'गुण' धर्म वामन द्वारा, तीसरा भणिति-वैचित्र्य-व्यापार अथवा वक्रोक्ति-व्यापार वक्रोक्तिजीवितकार (कुन्तक) द्वारा, चौथा अर्थात् भोग-व्यापार भट्ट नायक द्वारा, और पाँचवाँ अर्थात् व्यंग्य आनन्दवर्धन द्वारा।

[मूल पाठ]

इह विशिष्टौ शब्दार्थौ काव्यम् । तयोश्च वैशिष्ट्यं धर्ममुखेन व्यापारमुखेन व्यंग्यमुखेन वेति त्रयः पक्षाः । आद्येऽप्यलंकारतो गुणतो वेति द्वैविध्यम् । द्वितीयेऽपि भणितिवैचित्र्येण भोगकृत्त्वेन वेति द्वैविध्यम् । इति पञ्चसु पक्षेषु आद्य उद्भटादिभिरङ्गीकृतः । द्वितीयो वामनेन, तृतीयो वक्रोक्तिजीवितकारेण, चतुर्थो भट्टनायकेन पञ्चम आनन्दवर्धनेन ।
—अलंकारसर्वस्व (समुद्रबन्ध-रचित टीका), पृष्ठ ४

० ० ०

---

१. समुद्रबन्ध का समय लगभग १३ वीं शती ईस्वी है। यह केरलदेशीय कोलब के राजा रविवर्म का समकालीन था। इन्होंने 'अलंकारसर्वस्व' की टीका लिखी है।

५. काव्यशास्त्र में भाषाचिन्तन

समस्त संसार के वाङ्मय का प्रत्येक अंग किसी-न-किसी स्तर पर परस्पर-सम्बद्ध एवं अनुस्यूत है, और इस तथ्य का एक मात्र कारण है मानव की समस्त अनुभूतियों एवं क्रिया-प्रणालियों का एक-दूसरे के साथ प्रत्यक्ष अथवा परोक्ष रूप से जुड़ा होना। वाङ्मय के कुछ रूप परस्पर अत्यधिक सम्पृक्त हैं, कुछ अन्योन्याश्रित हैं, कुछ अन्याश्रित हैं और कुछ में परस्पर बहुत दूर का सम्पर्क रहता है। काव्यशास्त्र और भाषा-शास्त्र को प्रथम वर्ग के अन्तर्गत रखा जा सकता है। ये दोनों परस्पर घनिष्ठता-पूर्वक सम्पृक्त हैं। संस्कृत काव्यशास्त्र में भाषा-विषयक तथ्य इधर-उधर बिखरे पड़े हैं। प्रस्तुत लेख में उन्हीं उल्लेखों को किसी सीमा तक एकत्र किया जा रहा है। सुधी पाठक भली भांति जानते हैं कि काव्यशास्त्रीय ग्रन्थों में भाषा-विषयक अनेक स्थलों को अन्य शास्त्रों से ही ग्रहण कर उद्धृत अथवा विवेचित किया गया है, किन्तु हम लेख में उन सबको काव्यशास्त्र के ही मानकर उन पर प्रकाश डाला गया है, और यों भी, बाह्य सामग्री किसी भी शास्त्र के अनुकूल ढलकर उसकी निजी सम्पत्ति, उसका अविभाज्य अंग, बन जाया करती है। अस्तु! प्रस्तुत लेख में काव्यशास्त्र में निरूपित भाषा-विषयक अनेक प्रसंगों पर प्रकाश डाला जा रहा है।

१. भाषा की आवश्यकता

भाषा की आवश्यकता एवं महत्ता तथा शुद्धता के विषय में सर्वाधिक गौरवपूर्ण वचन हैं दण्डी के,[1] जिनके अनुसार 'यह वाणी का ही प्रसाद है कि यह सब लोक-व्यवहार चल रहा है, यह सम्पूर्ण जगत् शब्द-रूपी ज्योति के बिना अन्धकार-

---

१. (क) वाचामेव प्रसादेन लोकयात्रा प्रवर्तते।

(ख) इदमन्धंतमः कृत्स्नं जायेत भुवनत्रयम्।
यदि शब्दाह्वयं ज्योतिरासंसारं न दीप्यते॥

(ग) गौर्गौः कामदुघा सम्यक् प्रयुक्ता स्मर्यते बुधैः।
दुष्प्रयुक्ता पुनर्गोत्वं प्रयोक्तुः सैव शंसति॥ का० आ० १, ३, ४, ६

पूर्ण बन जाता। विशुद्ध वाणी तो कामधेनु गाय है, किन्तु अशुद्ध वाणी प्रयोक्ता की मूर्खता की द्योतक है। प्रायः सभी काव्यशास्त्रियों का आग्रह है कि रचना दोष रहित होनी चाहिए। दण्डी ने इसी सम्बन्ध में कहा है कि काव्य में अत्यल्प दोष-की भी उपेक्षा नहीं करनी चाहिए, यह काव्य को उस प्रकार कुरूप बना देता है जिस प्रकार सुन्दर भी शरीर को कुष्ठ रोग का एक भी दाग कुरूप बना देता है।[1]

२. भाषा की उत्पत्ति

भाषा की उत्पत्ति-विषयक संकेत के लिए भामह का निम्नोक्त कथन विशेषतः उल्लेख्य है कि लोक-व्यवहार के लिए पहले ही एक अनुबन्ध-सा कर लिया गया कि इतने वर्ण इतने अर्थ का बोध कराएंगे—

इयन्त ईदृशा वर्णा ईदृगर्थाभिधायिनः।
व्यवहाराय लोकस्य प्रागित्थं समयः कृतः॥ का० अ० ६.१३

स्पष्ट है कि यह कथन आधुनिक भाषाविज्ञान का ही प्रतीत होता है जिसे हम 'कार्वेन्शनल थिओरी' अथवा 'सांकेतिक सिद्धान्त' कहते हैं, और जिस पर ये दो आक्षेप प्रधान रूप से किये जाते हैं कि इस अनुबन्ध से पूर्व लोकव्यवहार किस प्रकार होता होगा, और यह अनुबन्ध किस भाषा के माध्यम से किया गया होगा। इनके अतिरिक्त कुछ-एक गौण आक्षेप और भी हो सकते हैं कि इस अनुबन्ध से पूर्व यदि लोक-व्यवहार चल रहा था तो अनायास इस अनुबन्ध की आवश्यकता क्यों, और क्या आ पड़ी, और फिर, यदि अनुबन्ध कर भी लिया था, तो फिर, वही भाषा टिकी क्यों न रही—पुनः किन अनुबन्धों से निरन्तर बदलती रही। और यदि, इस परिवर्तन को किसी अनुबन्ध के बिना स्वतः स्वीकार किया जाए तो फिर भाषा का प्रारम्भिक रूप भी स्वतः निर्मित हो जाने में कोई आपत्ति नहीं होनी चाहिए—विकासवाद का यही सिद्धान्त वस्तुतः भाषा की उत्पत्ति का एकमात्र कारण माना जाता है, तथा अन्य तथाकथित कारण इस कारण के सहायक हैं, न कि भाषा की उत्पत्ति के कारण। जो हो, भाषा की उत्पत्ति की समस्या का समाधान न तो प्राचीन वैयाकरणों के पास है, और न ही काव्यशास्त्रियों के पास। आधुनिक भाषावैज्ञानिकों ने यद्यपि इस सम्बन्ध में अनेक मन्तव्य स्थिर किये, पर अन्ततः, अपने इन्हीं प्रयासों के सम्बन्ध में किसी भाषावैज्ञानिक ने यह चुटकी भी काटी है कि यदि सभी भाषावैज्ञानिक किसी एक मत पर सहमत हैं तो वह यह है कि भाषा की उत्पत्ति के सम्बन्ध में कोई भी

---

१. तदल्पमपि नोपेक्ष्यं काव्ये दुष्टं कथंचन।
स्याद् वपुः सुन्दरमपि श्वित्रेणैकेन दुर्भगम्॥ का० आ० १.७

मन स्थिर नहीं किया जा सकता। कितना सुन्दर विकल्प है एक विकट समस्या से पलायन का! अस्तु!

३. भाषा का चरम अवयव

उक्त समस्या से ही मिलता-जुलता प्रश्न है कि भाषा का चरम अवयव किसे माना जाए—वर्ण को या वाक्य को ? आधुनिक भाषावैज्ञानिक तो वाक्य को भाषा का चरम अवयव मानते ही हैं,[1] और भारतीय वैयाकरणो ने भी इसी तथ्य को अनेक रूपो मे और स्पष्ट रूप से स्वीकार किया है—

> पदे न वर्णा. विद्यन्ते वर्णेष्ववयवा न च।
> वाक्यात् पदानामत्यन्तं प्रविवेको न कश्चन ॥ वाक्यपदीय १ ७३
>
> तथा
>
> तदबुधबोधनाय पदविभागः कल्पित । का० प्र० (पुण्यराजकृत टीका) २ ५८

इत्यादि, किन्तु इधर काव्यशास्त्रियो ने भी इसी सम्बन्ध मे पर्याप्त प्रकाश डाला है। मम्मट, विश्वनाथ आदि के ग्रन्थो मे शब्द की चौथी शक्ति तात्पर्या वृत्ति के प्रसग मे प्रकारान्तर से इसी विवाद की ओर सकेत किया गया है। किसी वाक्य का अर्थ ही हमे अभीष्ट रहता है—यह एक सर्वाशतः स्वीकृत तथ्य है। पर क्या (१) वाक्य के प्रत्येक पद का अर्थ समन्वित होकर हमे अभीष्ट होता है ? अथवा (२) समग्र वाक्य का समन्वित अर्थ ? दूसरे शब्दो मे—विभिन्न पदार्थो (पदो के अर्थो) का समन्वय वाक्यार्थ है, अथवा समग्र वाक्य का वाच्यार्थ ही वाक्यार्थ है ? प्रथम मत को अभिहितान्वयवादी स्वीकार करते है और दूसरे को अन्विताभिधानवादी—

> (क) अभिहितानां स्वस्ववृत्त्या पदैरुपस्थापितानामर्थानामन्वय इति वादिनः अभिहितान्वयवादिनः।
>
> (ख) अन्वितानामेवाभिधानं शब्दबोध्यत्वम्, तद्वादिनोऽन्विताभिधानवादिनः।
> —का० प्र०, बालबोधिनी टीका, पृष्ठ २६-२७

शास्त्रीय तर्क-वितर्क से एक क्षण के लिए अलग हटकर देखें तो हमारे विचार मे ये दोनों पक्ष अपनी-अपनी स्थिति मे यथार्थ हैं—एक पूर्णत और दूसरा कुछ संशोधित रूप मे। उदाहरणार्थ, प्रारम्भ मे हम किसी अज्ञात भाषा के वाक्यार्थ से

---

१. काव्यशास्त्रीय ग्रन्थो मे वाक्य का लक्षण है—

> (क) वाक्यं तत्राभिमतं परस्परं सव्यपेक्षवृत्तीनाम्।
> समुदायः शब्दानामेकपराणामनाकांक्षः ॥ का० प्र० (रुद्रट) २.७
>
> (ख) वाक्यं स्याद् योग्यताऽऽकांक्षाऽऽसत्तियुक्तः पदोच्चयः। सा० द० २.१

ही किसी-न-किसी प्रकार से वक्ता का आशय समझ लेते हैं—तब समग्र वाच्यार्थ ही वाक्यार्थ होता है। अन्विताभिधानवादियों का यह कथ्य इस स्थिति में पूर्णतः स्वीकार्य है। किन्तु बाद में, वाक्य में प्रयुक्त प्रत्येक पद का अर्थ जान लेने पर हम उनके माध्यम से वाक्य का अर्थ समझने लगते हैं। सिद्धान्ततः, हम भले ही यह कहते रहें कि वाक्य में प्रत्येक पद तब तक परस्पर-असम्बद्ध अतएव निरर्थक रहता है जब तक कि हम पूरा वाक्य पढ़ अथवा सुन नहीं लेते—समग्र वाक्य पूरा हो जाने पर ही वे आकांक्षा, योग्यता और सन्निधि के बल पर परस्पर-सम्बद्ध हो जाने पर सार्थक बन जाते हैं, और अब समग्र वाक्य अपना आशय देने लगता है—जैसा कि अन्विताभिधान-वादी स्वीकार करते हैं, किन्तु यह कथ्य किंचित् संशोधन की अपेक्षा रखता है। वस्तुतः, अब प्रत्येक पद का अपना-अपना अर्थ, हमारी बुद्धि में, परस्पर-सम्बन्ध जोड़ता चला जाता है, और वाक्य के पूर्ण होते ही समग्र वाक्यार्थ बोधगम्य हो जाता है। सत्य तो यह है कि प्रत्येक पद के अर्थ को भूल न सकने के कारण ही वाक्य के पूरा न होने तक हम इन्हें परस्पर नितान्त असम्बद्ध भी नहीं मान सकते।

वस्तुतः, इस समस्या के उत्पन्न होने का मूल कारण हमारे विचार में यह है कि जब व्याकरण के अनुसार पदों में प्रकृति और प्रत्यय को अलग-अलग निर्दिष्ट किया जाने लगा तो वाक्य में पदों का अस्तित्व भी इन्हीं के अनुरूप ही स्वीकृत करने पर बल दिया गया कि यदि एक पद प्रकृति-प्रत्यय से निर्मित है तो एक वाक्य पदों से। इसी तथ्य की ओर आचार्य कुन्तक ने भी प्रसंगवश संकेत किया है—

> दृश्यते च समुदायान्तःपातिनामसत्यभूतानामपि व्युत्पत्तिनिमित्तमपोद्धृत्य विवेचनम्—यथा पदान्तर्भूतयोः प्रकृतिप्रत्यययोः वाक्यान्तर्भूतानां पदानाञ्चेति।
>
> —व० जी० १.६ (वृत्ति)

और, यही तथ्य कभी-कभी इस रूप में भी प्रस्तुत किया जाता है कि जिस प्रकार 'कमल' शब्द में 'क, म, ल' ये तीनों वर्ण निरर्थक हैं, और न ही 'क' बोलने से 'कमल' शब्द के एक-तिहाई अर्थ का, तथा 'क म' बोलने से 'कमल' शब्द के दो-तिहाई अर्थ का बोध होता है, उसी प्रकार 'अहं गृहं गच्छामि' में प्रथम दोनों पदों के क्रमशः उच्चारण द्वारा भी क्रमशः एक-तिहाई और दो-तिहाई वाक्यार्थ के बोध की अस्वीकृति कर दी गई, और परिणामतः, यह निष्कर्ष निकाला गया कि वाक्य की समाप्ति-पर्यन्त सभी पद निरर्थक समझे जाने चाहिएं। वस्तुतः, यह सादृश्य किसी भी रूप में सुघटित प्रतीत नहीं होता। पद में प्रयुक्त वर्ण, उदाहरणार्थ 'क', 'म' अथवा 'ल' तो नितान्त निरर्थक हैं, किन्तु वाक्य में प्रयुक्त पदों के अर्थ एक बार ज्ञात हो जाने पर अपना प्रभाव छोड़े बिना नहीं रह सकते। वर्ण पद के अनिवार्य अंग हैं, और पद वाक्य के, किन्तु इस साम्य के होते हुए भी वाक्य-गत पद, पद-गत वर्णों के समान, नितान्त निरर्थक नहीं होते। माना कि 'अहं गृहं गच्छामि'

वाक्य के 'अंश' से वाक्य के एक-तिहाई वाक्यार्थ का बोध नहीं होता, पर श्रोता वाक्यार्थ के मार्ग पर अग्रसर अवश्य हो जाता है—यदि इस तथ्य को थोड़ा और दूर तक खींच ले जाएं तो 'सरोवर में सुन्दर कम'' ....' इतना सुनते ही प्रायः 'कमल' का अर्थ तो समझ आ सकता है, पर दो-तिहाई 'कमल' का नहीं।

इन सब समस्याओं के समाधान के लिए पहले पद-स्फोट की, और फिर अनन्तर, वाक्य-स्फोट की ही धारणा स्वीकृत की गई। शब्द को ब्रह्म के स्तर पर कल्पित करके अर्थ के साथ शब्द का नित्य-सम्बन्ध घोषित किया गया। महाभाष्य का प्रसिद्ध कथन 'सिद्धे शब्दार्थसम्बन्धे', और इसी के अनुरूप भारतीय काव्यशास्त्र का प्रसिद्ध कथन 'ननु शब्दार्थौ काव्यम्' प्रकारान्तर से इस धारणा की ओर संकेत करते हैं। शब्द वस्तुतः सार्थकता का ही द्योतक है, केवल नाद का नहीं। किन्तु 'शब्द-ब्रह्म' के रूपक द्वारा एक ओर यह कल्पना हास्यास्पद प्रतीत होती है कि 'बभ्रि', 'अवस्यु', 'मृडीक' जैसे शब्दों में जो कि आज लुप्त हो गए हैं, क्रमशः ये अर्थ छिपे पड़े हैं—भरण-कर्ता, रक्षक और सुख, और दूसरी ओर 'गवेषणा' जैसे शब्दों के विषयों में यह कल्पना भी कि अब भी इनमें 'गो+एषणा' (गाय की खोज) जैसे अर्थ छिपे पड़े हैं, और ये सब अर्थ कभी भी प्रकट हो सकते हैं। उक्त हास्यास्पद धारणाएँ यदि हम किसी-न-किसी रूप से स्वीकार कर भी लें, किन्तु शब्द-ब्रह्मत्व के आधार पर यह मान्यता तो किसी भी रूप में स्वीकृत नहीं हो सकती कि प्रत्येक शब्द में प्रत्येक अर्थ निहित है, और जब भी कभी वह स्फुटित हो सकता है। फिर भी, स्फोट-सिद्धान्त में यह तथ्य तो स्पष्टतः निहित है ही कि प्रत्येक शब्द तब तक स्फोट कहाने का अधिकारी है, जब तक कि वह अपने नियत अर्थ को प्रकट करता रहता है - अस्तु !

वस्तुतः, भारतीय काव्यशास्त्र का समग्र कलेवर शब्द और अर्थ के उक्त नित्य सम्बन्ध पर ही अवस्थित है। इसी नित्य सम्बन्ध की व्याख्या कुन्तक के शब्दों में इस प्रकार है कि 'काव्य में शब्द और अर्थ दो मित्रों के समान एक-दूसरे की शोभा बढ़ाते हुए परस्पर-संलग्न रहते हैं।'[1] अस्तु ! शब्दशक्ति-प्रकरण तो इसी पर आधारित है ही, ध्वनि के भेद भी शब्द और अर्थ से सम्बद्ध किये गये हैं, तथा गुण, अलंकार और यहाँ तक कि दोष-प्रसंग का विभाजन भी अन्वय-व्यतिरेक के आधार पर शब्दगत और अर्थगत रूप में किया गया है। यहाँ यह उल्लेख्य है कि जिस काव्य-तत्त्व को 'शब्दगत' कहा जाता है उसमें केवल यह अभिप्राय लिया जाता है कि इसमें शब्द की प्रधानता है और अर्थ की गौणता, और जिसे 'अर्थगत' कहा जाता है उसमें अर्थ की प्रधानता है और शब्द की गौणता। इस प्रकार नामकरण प्रधानता के

---

१. समसर्वगुणौ सन्तौ सुहृदाविव संगतौ।
परस्परस्य शोभायै शब्दार्थौ भवतो यथा ॥ व० जी० १.७ (वृत्ति)

आधार पर किया जाता है—'प्राधान्येन व्यपदेशा भवन्ति।'[1] वस्तुतः, शब्द और अर्थ तो परस्पर एक दूसरे की सहायता करते हुए चलते हैं।[1]

उपर्युक्त वर्गीकरण से भी बढ़कर स्वयं काव्य का लक्षण भी शब्द और अर्थ के समन्वित रूप पर आधारित किया गया है। भामह ने शब्द और अर्थ के सहित-भाव को काव्य की संज्ञा दी है, और रुद्रट ने शब्दार्थ को। इसी प्रकार कुन्तक ने भी 'शब्दार्थौ सहितौ काव्यम्' के ही आधार पर काव्य-लक्षण प्रस्तुत किया है।[2] मम्मट ने स्वसम्मत काव्य-लक्षण में काव्य का स्वरूप शब्दार्थ पर आधारित किया है,[3] और राजशेखर, विश्वनाथ आदि ने काव्यपुरुष-रूपक में शब्दार्थ को ही काव्य का शरीर बताया है।[4] दण्डी और जगन्नाथ ने काव्य-लक्षणों में शब्द और अर्थ को यदि पृथक्-पृथक् निर्दिष्ट किया है तो मम्महकार व्याडि के अनुसार सम्भवतः इसका यह समाधान किया जा सकता है कि शब्द और अर्थ अभिन्न होते हुए भी यदि पृथक्-पृथक् निर्दिष्ट किये जाते हैं तो इसका कारण लौकिक व्यवहार ही है, पर वस्तुतः वे अभिन्न और एक रूप में अवस्थित हैं—

> शब्दार्थयोरसम्भेदे व्यवहारे पृथक् क्रिया।
> यतः शब्दार्थयोस्तत्त्वमेकं तत् समवस्थितम्॥
>
> —वा० पा० (१ २६) की वृत्ति में उद्धृत

४ वाचक शब्द और संकेत-ग्रह

काव्यशास्त्र में प्रतिपादित भाषाशास्त्र-सम्बन्धी एक अन्य महत्त्वपूर्ण विषय है—वाचक शब्द। किसी शब्द से दो प्रकार का संकेत ग्रहण किया जाता है—साक्षात् और परम्परा-सम्बद्ध। 'गंगा पर आश्रम है' इस वाक्य में 'गंगा' शब्द का नदी-विशेष अर्थ साक्षात् है, और 'गंगा-तट' अर्थ परम्परा-सम्बद्ध। वाचक शब्द साक्षात्-संकेतित अर्थ अथवा मुख्य अर्थ को बताता है[5], परम्परा-सम्बद्ध अर्थ को नहीं।

---

१ शब्दबोध्यो व्यनक्त्यर्थः शब्दोऽप्यर्थान्तराश्रयः।
एकस्य व्यंजकत्वे तदन्यस्य सहकारिता॥ सा० द० २ १८

२ (क) शब्दार्थौ सहितौ काव्यम्। काव्यालंकार (भामह) १ १६
(ख) शब्दार्थौ काव्यम्। काव्यालंकार (रुद्रट) २ १
(ग) शब्दार्थौ सहितौ वक्रकविव्यापारशालिनि।
बन्धे व्यवस्थितौ काव्यं तद्विदाह्लादकारिणि॥ व० जी० १ ७

३ तददोषौ शब्दार्थौ सगुणावनलंकृती पुनः क्वापि। काव्यप्रकाश १ म० उ०

४ काव्यस्य शब्दार्थौ शरीरम्। सा० द० तथा का० मी०

५ साक्षात्संकेतितं योऽर्थमभिधत्ते स वाचकः। का० प्र० २ ७

निष्कर्षतः, वाचक वह शब्द कहाता है जिसके द्वारा किसी अर्थ-विशेष का संकेत-ग्रहण सदा और एक-समान हो सके। वाचक शब्द चार प्रकार का माना गया है —द्रव्य, गुण, क्रिया और जाति।

—द्रव्य का लक्षण है 'मूर्तिमद् द्रव्यम्', अर्थात् मूर्त पदार्थ को द्रव्य कहते हैं, अर्थात् द्रव्य इन्द्रिय-ग्राह्य होते है।

—गुण द्रव्य पर अनिवार्यतः आधारित रहता है, अर्थात् प्रत्येक द्रव्य किसी न-किसी गुण से अवश्य सम्पन्न होगा। गुण इन्द्रिय-ग्राह्य होता है, वह अनुमान का विषय नहीं होता। 'सुन्दर पुष्प' में सुन्दरता, 'कृष्ण वस्त्र' में कृष्णता, आदि—ये सभी गुण इन्द्रिय-ग्राह्य हैं।

—क्रिया का अनुमान द्रव्य के विकार, अर्थात् पदार्थ की चेष्टा से होता है। 'पाक' और 'पचति'—ये दोनों क्रिया के रूप हैं। पहला सिद्धावस्थापन्न भाव है, और दूसरा साध्यावस्थापन्न भाव।

जाति का लक्षण है—

भिन्नक्रियागुणेष्वपि बहुषु द्रव्येषु चित्रगात्रेषु।
एकाकारा बुद्धिर्भवति यतः सा भवेज्जातिः॥

—काव्यालंकार (रुद्रट) ७.६

अर्थात्, भिन्न क्रिया और गुण वाले होने के कारण अनेक प्रकार के शरीर वाले भी बहुत से द्रव्यों में जिस तत्त्व के कारण समान बुद्धि पैदा होती है, उसे जाति कहते हैं। उदाहरणार्थ, संसार भर के सभी बालक परस्पर भिन्न होते हुए भी 'बालकत्व' जाति के कारण बालक कहाते हैं, इत्यादि।

अस्तु ! वाचक शब्द से किसी अर्थ-विशेष का संकेत-ग्रहण होता है। प्रश्न है कि यह संकेत ग्रहण किसका होता है ? इस सम्बन्ध में पांच सिद्धान्त प्रस्तुत किए गए हैं—(१) जातिवाद, (२) व्यक्तिवाद, (३) जातिविशिष्टवाद, (४) अपोहवाद, (५) जात्यादिवाद। अब इन पर संक्षेपतः प्रकाश डाला जा रहा है। यह प्रसंग भारतीय प्रज्ञा के बौद्धिक व्यायाम का एक अद्भुत निदर्शन है।[1]

(१) जातिवाद—यह मीमांसकों का मत है—मीमांसकास्तु गवादिपदानां जातिरेव वाच्या, न तु व्यक्तिः।[2] उनका अभिप्राय यह है कि 'गौ' शब्द से हम गौओं में पायी जाने वाली जाति 'गो-सामान्य' का ही अर्थ लेंगे, न कि किसी विशेष गौ—लाल, काली, श्वेत आदि का। जाति कहते हैं सामान्य को। सामान्य के दो लक्षण हैं—(क) अनुवृत्ति-प्रत्यय-हेतु सामान्यम्, अर्थात् एकाकार-प्रतीति का हेतु 'सामान्य' अथवा 'जाति' कहाता है। अनेक गौओं को इसी एकाकार-प्रतीति के हेतु

'गोत्व' के कारण ही 'गौ' कहा जाता है। (ख) नित्यत्वे सति अनेकसमवेतत्व सामान्यम्, अर्थात् 'सामान्य' नित्य तथा अनेक पदार्थों में समवेत धर्म वाला होता है। ससार की प्रत्येक 'गौ' मे गोत्व नित्य रूप से भी रहता है तथा समवेत रूप से भी—अर्थात् वहाँ ऐसा नहीं होगा कि 'गौ' में 'गोत्व' के साथ-साथ अश्वत्व, अजत्व आदि अन्य जाति भी हो। अस्तु ! मीमांसकों के अनुसार सकेत-ग्रह जाति मे होता है।

किन्तु फिर भी, व्यवहार मे तो जाति का ग्रहण न होकर व्यक्ति का ही ग्रहण होता है। जाति सूक्ष्म है, और व्यक्ति स्थूल। व्यवहार में सूक्ष्म का ग्रहण न होकर स्थूल का ही होता है। अतः मीमांसकों के इसी सिद्धान्त के अनुसार जाति मे सकेत-ग्रह स्वीकार करते हुए भी कुछ विद्वान्—चाहे वे स्वयं मीमांसक ही क्यो न हों—यह स्वीकार करते हैं कि आक्षेप द्वारा, अर्थात् अर्थापत्ति अथवा अनुमान द्वारा, अथवा किसी अन्य सम्बन्ध द्वारा किसी 'विशिष्ट गाय' का, अर्थात् 'व्यक्ति' का ज्ञान होता है। यह अनुमान-प्रक्रिया इस प्रकार होगी—जहाँ-जहाँ गोत्व (जाति) है, वहाँ-वहाँ गौ (व्यक्ति) भी अवश्य है। इस प्रकार इस सिद्धान्त का समग्र रूप मे अभिप्राय है—'संकेत-ग्रह होता तो जाति का है, पर व्यवहार में व्यक्ति का ही ग्रहण होता है, और इस स्वीकृति के लिए आक्षेप, अनुमान अथवा किसी अन्य सम्बन्ध की स्वीकृति करनी पड़ती है।

(२) *व्यक्तिवाद*—सकेत-ग्रह व्यक्ति का होता है। इस मत को मानने वाले आचार्य व्यक्तिवादी कहाते हैं। 'गाय लाओ', 'गाय बांधो' आदि कथनों से एक विशेष गाय—व्यक्ति-विशेष—का ही बोध होता है, न कि ससार भर की सभी गायों का, अर्थात् प्रवृत्ति और निवृत्ति के योग्य व्यक्ति ही होता है, न कि जाति। अतः सकेत-ग्रहण व्यक्ति का ही होता है।[१] किन्तु व्यक्ति में सकेत-ग्रह मानने मे दो दोष उपस्थित होते है : आनन्त्य और व्यभिचार—

(क) आनन्त्य दोष—जिस वाचक शब्द मे अभिधा शक्ति द्वारा जिस व्यक्ति-विशेष मे सकेत-ग्रह हुआ है, उस शब्द से केवल उस व्यक्ति-विशेष की ही उपस्थिति होगी, न कि सब व्यक्तियों की। अतः अन्य व्यक्तियों की प्रतीति के लिए प्रत्येक व्यक्ति मे अलग-अलग सकेत-ग्रह मानना आवश्यक होगा, और इस प्रकार अनन्त शक्तियों (अभिधा-शक्तियों) की कल्पना करनी होगी।

---

१. शक्तिवाद : परिशिष्ट काण्ड, पृष्ठ १६५

२ (क) अर्थक्रियाकारितया प्रवृत्ति-निवृत्ति-योग्या व्यक्तिरेव।

—काव्यप्रकाश २ य उ०

(ख) व्यक्तिवादिनस्तु प्राहुः —शब्दस्य व्यक्तिरेव वाच्या।

—महाभाष्य-प्रदीप (कैयट), पृ० ५३

(क) व्यभिचार-दोष—व्यभिचार का अभिप्राय है सामान्य नियम का उल्लंघन। यह ठीक है कि व्यवहार में अभिधा शक्ति द्वारा व्यक्ति-विशेष में संकेत-ग्रह होता है, और अनन्त व्यक्तियों के लिए अनन्त शक्तियाँ माननी पड़ेंगी, किन्तु इस 'आनन्त्य दोष' से बचने के लिए यदि यह कह दिया जाए कि व्यक्ति-विशेष का संकेत-ग्रह हो चुकने के उपरान्त अन्य व्यक्तियों का बोध भी बिना संकेत-ग्रह के स्वतः हो जाता है, तो इस स्वीकृति में 'व्यभिचार दोष' उत्पन्न हो जाएगा—'गाय' शब्द कहने से एक गो—व्यक्ति (एक विशेष गाय) के साथ-साथ अन्य 'गो'—व्यक्तियों का भी बोध बिना संकेत-ग्रह के स्वीकार कर लेना इस नियम का उल्लंघन है कि शब्द संकेत की सहायता से ही अर्थ की प्रतीति करता है।[1] इस प्रकार व्यक्ति में संकेत-ग्रह मानने से 'आनन्त्य' दोष उत्पन्न होता है, और उससे बचने के लिए 'व्यभिचार' दोष उत्पन्न होता है।

(३) जातिविशिष्ट-व्यक्तिवाद—जैसा कि ऊपर कह आए हैं—संकेत-ग्रह 'जाति' में मानने पर व्यक्ति के बोध के लिए 'आक्षेप', 'अनुमान' अथवा किसी अन्य सम्बन्ध की स्वीकृति करनी पड़ती है, और व्यक्तिवादियों के अनुसार संकेत-ग्रह व्यक्ति में मानने पर 'आनन्त्य' और 'व्यभिचार' दोष उत्पन्न होते हैं। अतः नैयायिक संकेत-ग्रह केवल जाति अथवा केवल व्यक्ति में न मानकर 'जाति-विशिष्ट व्यक्ति' में मानते हैं।

इसका अभिप्राय यह है कि 'गौर्गच्छति' इस वाक्य में प्रयुक्त 'गो' शब्द गोत्व, अर्थात् 'गो-जाति से विशिष्ट गो-व्यक्ति' का बोध कराता है, न कि केवल गोत्व-जाति का, और न ही केवल गो-व्यक्ति (किसी विशेष गाय) का। जब हम किसी वाक्य में 'गो' शब्द प्रयुक्त करते हैं तो हमें निस्सन्देह अभीष्ट तो गो-व्यक्ति रहता है, किन्तु वह 'गो-जाति से विशिष्ट' होता है, क्योंकि वह विशेष गाय भी तो इसी कारण गाय कहाती है कि उसमें गोत्व-जाति विद्यमान है। अतः संकेत-ग्रह 'जाति-विशिष्ट व्यक्ति' का होता है, न केवल गोत्व का, और न केवल किसी एक विशेष गाय का। इसी सिद्धान्त को अत्यन्त संक्षेप में प्रस्तुत करते हुए मम्मट ने कहा है : तद्वान् शब्दार्थः।[1] (का० प्र० ६,१०, वृत्ति)।

(४) अपोहवाद—'अपोह' को अतद्व्यावृत्ति भी कहते हैं। इन दोनों शब्दों से आशय है—अभीष्ट पदार्थ के अतिरिक्त शेष सब पदार्थों का निराकरण। अपोहवाद बौद्धों का मत है। वे शब्द का संकेत अपोह रूप अर्थ में ही मानते हैं। इसका अभिप्राय यह है कि 'गौ' पद कहने पर पहले 'गो' के अतिरिक्त अन्य सभी

---

१. यस्या गोव्यक्तौ संकेतग्रहः स्वीकृतः तदतिरिक्तायाः गोव्यक्तेर्गोशब्दाद् भानं न स्याद् इति व्यभिचारः। —काव्यप्रकाश, बालबोधिनी टीका, पृ० ३२

पदार्थों का निराकरण हो जाता है, फिर 'गो' पद से 'गो' अर्थ का बोध होता है। अपोह=अतद्व्यावृत्ति (न तत् अतद्, वह नहीं, अर्थात् उससे भिन्न, की व्यावृत्ति =निवृत्ति), अर्थात् जिस वस्तु का बोध करने के लिए शब्द का प्रयोग हुआ, उससे भिन्न जितनी वस्तुएं हैं उनका हट जाना। बौद्धों के इस सिद्धान्त की ओर मम्मट ने केवल संकेत-मात्र किया है—अपोहः शब्दार्थः। (का० प्र० २.१० वृत्ति)

बौद्ध विद्वान् जाति अथवा व्यक्ति में संकेत-ग्रह नहीं मानते—क्योंकि ऐसा मानने पर इन मतों के साथ उनके अपने अन्य सिद्धान्तों का विरोध हो जाता है। यदि वे जाति में संकेत मानें तो यह उनके क्षणिकवादी सिद्धान्त के विरुद्ध हो जाता है—(क) जाति को स्थिर माना गया है, किन्तु यह उनके 'क्षणिकवाद' के विपरीत है। अतः बौद्ध लोग 'जाति' की सत्ता में विश्वास नहीं रखते। (ख) यदि व्यक्ति में संकेत माना जाए तो यह भी उनके क्षणिकवादी सिद्धान्त के विपरीत जा पड़ता है। उनके अनुसार व्यक्ति तो क्षणभंगुर अर्थात् परिवर्तनशील है—क्षण-क्षण में बदलता रहता है। संकेत किस व्यक्ति का मानें—इस क्षण के व्यक्ति का, अथवा एक क्षण बीत जाने के बाद दूसरे क्षण के व्यक्ति का, आदि। 'अपोह' में संकेतग्रह मानने से उनके अनुसार केवल वही पदार्थ अभीष्ट रहेगा जो उस समय जैसा है, अन्य पदार्थ—किसी अन्य काल तथा देश के पदार्थ—अभीष्ट नहीं होंगे।[1] यहां यह ज्ञातव्य है कि बौद्ध जन पदार्थ में नदी-प्रवाह के समान जल में परिवर्तनशीलता होने पर भी उसमें भ्रमवश परिवर्तनशीलता की स्वीकृति करते हैं, वस्तुतः उस क्षण का जल अपरिवर्तनशील ही है।

× × ×

किन्तु 'अपोहवाद' की अस्वीकृति में अनेक तर्क प्रस्तुत किये जा सकते हैं—

(१) जब तक 'गो' का ज्ञान नहीं होगा, तब तक गो-भिन्न पदार्थों का निराकरण कैसे सम्भव है?

---

१ इस सम्बन्ध में निम्नोक्त कथन भी उद्धरणीय है—

(क) व्यक्त्याकृतिजातयस्तु पदार्थः। (न्यायसूत्र)

(ख) जात्यवच्छिन्नसंकेतवतो नैमित्तकी मता।
जातिमात्रे हि संकेताद् व्यक्तेर्भान सुदुष्करम्॥ शब्दशक्तिप्रकाशिका, १६

(ग) न व्यक्तिमात्रं शक्यं न वा जातिमात्रम्। आद्ये, आनन्त्याद् व्यभिचाराच्च। अन्त्ये व्यक्तिप्रतीत्यभावप्रसंगात्। न चाक्षेपाद् व्यक्तिप्रतीतिरिति वाच्यम्। तथा सति वृत्त्यनुपस्थितत्वेन शाब्दबोधविषयत्वानुपपत्तिः। तस्माज्जातिविशिष्ट एव संकेतः।—का० प्र०, बा० बो०, पृष्ठ ३८

पुर गौरिति विज्ञान गोशब्दश्रवणाद् भवेत् ।
येनाऽगोऽप्रतिषेधाय प्रवृत्तो गौरिति ध्वनिः ॥ काव्यालंकार (भामह) ६ १६

(५) जात्यादिवाद—काव्यशास्त्री वैयाकरणों के अनुरूप संकेत-ग्रह न तो जाति में मानते हैं, न व्यक्ति में, और न जाति-विशिष्ट व्यक्ति में, अपितु व्यक्ति की उपाधि (जात्यादि) में मानते हैं, और इस मान्यता की पुष्टि में महाभाष्यकार पतञ्जलि का निम्नोक्त कथन उद्धृत किया जाता है—'गौश्शुक्लश्चलो डित्थ,—इत्यादौ चतुष्टयी शब्दानां प्रवृत्तिः ।' इति महाभाष्यकारः । उपाधि कहते हैं धर्म-विशेष को । उपाधि के चार भेद हैं—जाति, गुण, क्रिया और यदृच्छा (द्रव्य) । ये चारों पदार्थ की उपाधियां हैं । शब्द की शक्ति (संकेत) का ज्ञान व्यक्ति की उपाधियों में होता है, दूसरे शब्दों में—वक्ता द्वारा उच्चरित शब्द श्रोता द्वारा उक्त चारों रूपों में से यथावत् किसी एक रूप में गृहीत होता है । व्यक्ति की उपाधि से तात्पर्य यह है कि (१) कहीं व्यक्ति का नाम लिये जाने पर यदृच्छा (व्यक्ति-वाचक संज्ञा) में संकेतग्रहण होता है, (२) कहीं किसी व्यक्ति से जाति का बोध होता है—जैसे 'गौ उपयोगी पशु है ।' (३) कहीं व्यक्ति की गतिशीलता से उसकी क्रिया का बोध होता है, और कहीं उसकी विशेषता से उसके गुण का—जैसे 'कृष्ण अश्व भागता है,' में 'भागता है' व्यक्ति की गतिशीलता का द्योतक है, तो 'कृष्ण' उसी के गुण का । अर्थात् अकेला 'भागता है' शब्द अथवा अकेला 'कृष्ण' शब्द निरर्थक है—व्यक्ति के साथ जुड़कर ही ये सार्थक बनते हैं । अतः संकेत व्यक्ति की उपाधि में ही होता है ।

गये हैं। अलंकार को शब्दार्थ का शोभाकारक एवं अस्थिर धर्म माना गया है, गुण को शब्दार्थ का धर्म गौण रूप में स्वीकार किया गया है, और गुण के इसी रूप के साथ ही रीति को सम्बन्धित किया गया है[1], तथा दोषों के पांच वर्गों में से निम्नोक्त चार वर्ग भाषा से सम्बन्धित हैं—पदगत, पदांशगत, वाक्यगत और अर्थगत।

भाषाविज्ञान की मनोवैज्ञानिक मीमांसा करने वाले विद्वान् कभी-कभी यह भी स्वीकार करने लगते हैं कि विभिन्न वर्णों के नामों की ओर यहां तक कि उनके लेखन की बनावट को देखकर यह अनुमान लगाया जा सकता है कि वे मूलतः जिन शब्दों से घिसते-घिसते अपने वर्तमान रूप पर पहुँचे हैं वे शब्द कठोर, कमनीय, ममृण, मञ्जुल, श्रुति-कटु, श्रुति-पेशल आदि रहे होंगे। यदि इस मीमांसा को अर्धवैज्ञानिक मान लें तो भी भारतीय काव्यशास्त्र में गुण और रीति-विवेचन के ये तीन अंग—मधुरता, ओजस्विता और प्रसादिता—इसी भाषा-तत्त्व की ओर ही संकेत करते हैं।

अलंकारप्रकरण के अन्तर्गत शब्द-श्लेष अलंकार के आठ भेद निम्नोक्त आठ भाषा-तत्त्वों पर आधारित हैं—वर्ण, प्रत्यय, लिंग, प्रकृति, पद, विभक्ति, वचन और भाषा। उपमा को अर्थालंकारों की जननी माना गया है। इसके श्रौती और आर्थी नामक दो भेद भाषा-तत्त्व पर ही आधारित हैं, तथा फिर ये दोनों तद्धित, समास और वाक्यगत स्वीकार किये गये हैं।[2] विरोध अलंकार के भेद भी वाचक शब्द के उपर्युक्त चार रूपों—जाति, गुण, क्रिया और द्रव्य पर आधारित हैं। इसी प्रकार विषम अलंकार के भेद गुण और क्रिया से सम्बन्धित हैं।[3]

इसी प्रकार वक्रोक्ति-सिद्धान्त का अधिकतर भेद-प्रस्तार ही भाषा-तत्त्वों को लक्ष्य में रखकर किया गया है। वक्रोक्ति के प्रमुख छह भेदों में से प्रथम चार नाम लीजिए—वर्ण वक्रता, पदपूर्वार्द्ध-वक्रता, पदपरार्द्ध-वक्रता, और वाक्य-वक्रता, तथा वक्रोक्ति के कतिपय उपभेदों के नाम लीजिए—उपसर्ग, निपात, वृत्ति (समास,

---

१. (क) शब्दार्थयोरस्थिरा: ये धर्मा: ······अलंकारास्ते। सा० द० ६ म परि०

(ख) गुणवृत्त्या पुनस्तेषां वृत्तिः शब्दार्थयोर्मता। का० प्र० ८ म उ०

(ग) गुणनाश्रित्य तिष्ठन्ती······रीतिः ·····। सा० द० ६ म परि०

२. (क) श्रौती यथेववाशब्दा इवार्थो वा वतिर्यदि।
आर्थी तुल्यसमानाद्यास्तुल्यार्थो यत्र वा वतिः॥ सा० द० १०.१६

(ख) सा० द० १० १७, १८.

३. सा० द० १०. ७०.

तद्धित और कृदन्त), लिंग, कारक, संख्या (वचन), पुरुष, उपग्रह (आत्मनेपद और परस्मैपद) आदि की वक्रता। इस प्रकार कुन्तक ने इन सब भेदों एवं उपभेदों के माध्यम से भाषा और काव्यशास्त्र में अनिवार्य संबंध स्थापित करने का प्रयास किया है। किन्तु इसका यह तात्पर्य कदापि नहीं है कि कुन्तक किसी विशिष्ट भाषा-तत्त्व पर ही काव्यानन्द को केन्द्रित करने के पक्ष में है। वस्तुतः, यह स्थिति 'प्राधान्येन व्यपदेशा भवन्ति' के आधार पर स्वीकृत करनी चाहिए। उदाहरणार्थ, यदि किसी एक विशिष्ट स्थल में पद के पूर्वार्द्ध (प्रातिपदिक) के कारण काव्य-सौन्दर्य है तो दूसरे स्थल में पद के उत्तरार्द्ध (प्रत्यय) के कारण, अथवा किसी अन्य स्थल में वाक्य के कारण, और इसी प्रमुखता के आधार पर ही वक्रोक्ति-भेदों का नामकरण किया गया है। किन्तु इससे काव्य-चमत्कार को किसी भाषा-तत्त्व पर केन्द्रित नहीं माना जा सकता। काव्य-चमत्कार तो उक्त पदपूर्वार्द्ध-वक्रता आदि से जन्य परवर्ती क्षण होता है, दूसरे शब्दों में, यह उक्त आधार एवं साधनभूत वक्रताओं का आधेय अथवा साध्य होता है। उधर स्वयं भाषा में भी किसी एक वाक्य के पदों के अर्थों का अवबोध वाक्य के समस्त तात्पर्य के लिए साधन ही होता है, साध्य तो वाक्यार्थ—वाक्य का तात्पर्य—ही होता है।

प्रश्न है, यदि काव्यचमत्कार वाच्यार्थ से परवर्ती अर्थ पर आधारित है तो फिर उक्त विभिन्न वक्रता-भेदों, दूसरे शब्दों में—व्याकरणिक प्रयोगों का काव्य के सौन्दर्य-विधान में क्या योगदान है? इसका उत्तर यह है कि इस प्रकार के स्थलों में वाच्यार्थ-बोध के पश्चात् ये व्याकरणिक विशिष्ट प्रयोग अनिवार्य माध्यम बनकर व्यंग्यार्थ-प्रतीति में सहायक बनते हैं। उदाहरणार्थ, 'तटी तारं ताम्यत्यतिशशियशाः ....' में 'तटी' शब्दार्थ का वाच्यार्थ 'तट' नहीं, अपितु इसके पश्चात् ज्ञात इसकी 'स्त्रीलिंगता' का बोध ही तटी रूपी नायिका को व्यंजित करने में सहायक बनता है। अस्तु!

अब दोष-प्रकरण लीजिए। भारतीय काव्यशास्त्री 'च्युतसंस्कृति' दोष वहां स्वीकार करता है, जहां वह व्याकरण द्वारा असम्मत दोषों के प्रयोग को दोष कहता है। 'अर्जुनः शंकरस्य वक्षःस्थलं आजघ्ने', यहां 'आजघ्ने' इस आत्मनेपदी प्रयोग में च्युतसंस्कृति दोष है, क्योंकि 'आङो यमहनः' (और उसके अनुवृत्ति-परक स्वांगकर्मकाच्च') सूत्र द्वारा हन् धातु में आत्मनेपद का प्रयोग तब संगत है जब कर्म स्वयं कर्त्ता का अपना अंग हो, न कि किसी अन्य का अंग। यहां परस्मैपद प्रयोग 'आजघान' होना चाहिए था। किन्तु फिर भी, काव्यशास्त्र इस संबंध में व्याकरण के नियमों का पालन कठोरतापूर्वक नहीं करता। उदाहरणार्थ 'पद्म' शब्द यद्यपि व्याकरणानुसार पुलिंग है, किन्तु इसका प्रयोग नपुंसक लिंग में प्रचलित है, अतः 'भाति पद्मः सरोवरे' जैसे प्रयोगों में अप्रयुक्त दोष माना गया है। 'हन्' धातु गत्यर्थक भी है—'हन् हिंसागत्योः', किन्तु इस अर्थ में इसका प्रयोग प्रचलित न होने के कारण 'कुंजं हन्ति (गच्छति) बाला' ऐसे स्थलों में असमर्थता दोष माना गया है। 'वन्द्याम्' पद 'वन्द्या' शब्द की द्वितीया विभक्ति का एकवचनान्त रूप है, तथा

'वन्दी' (वन्दी : 'ववयोरभेद') शब्द की सप्तमी का एकवचनान्त रूप भी है। स्पष्टत, ये दोनों रूप वैयाकरणों के अनुसार शुद्ध हैं, परन्तु काव्यशास्त्री को इस पद के प्रयोग में वहाँ आपत्ति है जहाँ यह सन्देह उत्पन्न करता है। जैसे—'आशी-परम्परां वन्द्यां कर्णे कृत्वा कृपां कुरु।' इस पद्यांश का प्रस्तुत अभिप्राय तो यह है कि 'इस वन्दनीय आशी परम्परा को सुनकर हे राजन्। कृपा करें', किन्तु साथ ही, निम्नोक्त अर्थ का भी सन्देह होता है—'इस आशी परम्परा को सुनकर हे राजन्। इस वन्दी (महिला) पर कृपा करें,' अतः ऐसे प्रयोग त्याज्य हैं। एक उदाहरण और लीजिए—'आसमुद्र-क्षितीशानाम्' (समुद्र-पर्यन्त पृथ्वीपतियों का) इस पद में यद्यपि 'आसमुद्र' का 'क्षितीश' के साथ प्रयोग व्याकरण-सगत है, किन्तु 'आसमुद्रम्' रहने में भाषा में जो बल आ जाता है वह समास कर देने से नष्ट हो जाता है। अतः काव्यशास्त्र ऐसे स्थलों में अविमृष्टविधेयांश दोष स्वीकार करता है। यही स्थिति 'यत्र ते पतति सुभ्रु कटाक्षः षष्ठबाण इव पञ्चशरस्य' में भी है। 'पञ्चबाण' प्रयोग व्याकरण-सम्मत है किन्तु 'षष्ठो बाण' प्रयोग में ही कहीं अधिक बल है। सन्धि-नियमों के अनुसार निम्नोक्त स्थल में विसर्गों का लोप सगत है—'गता निशा इमा बाले', और निम्नोक्त स्थल में विसर्गों का 'ओ' हो जाना—'धीरो वरो नरो याति', किन्तु काव्यशास्त्री को ये दोनों स्थितियाँ भी सह्य नहीं हैं। वह इनमें काव्य-दोष स्वीकार करता है। और फिर, वह सन्धि भी क्या, जो व्याकरण-सम्मत तो है, पर जिससे जुगुप्सा-व्यंजक अश्लीलता का दुर्गन्ध उठने लगे—'चलण्डामरचेष्टितः', अथवा जो अत्यन्त क्लिष्ट बन जाए—'उर्व्यसावत्र तर्वाली मर्वन्ते चार्ववस्थितिः'। इस प्रकार हमने देखा कि काव्य-दोषों के निर्धारण में काव्यशास्त्र ने व्याकरण के नियमों के परिपालन पर बल तो दिया है, पर वहाँ तक जहाँ तक, वे सहृदय के रसास्वाद में बाधक नहीं बनते।

× × × ×

इस प्रकार हम देखते हैं कि काव्यशास्त्र के प्रायः सभी प्रसगों में भाषा के अनेक तत्त्व भरे पड़े हैं—कहीं अनुस्यूत रूप में, कहीं समन्वित रूप में, कहीं आनुषगिक रूप में, और कहीं काव्य-चमत्कार के उपकारक रूप में। वस्तुत, स्वयं काव्य का शरीर ही भाषा है—काव्य-सौन्दर्य को भाषा से ठीक उसी प्रकार अलग नहीं कर सकते जिस प्रकार त्वचा के रंग को उससे अलग नहीं कर सकते, अथवा पुष्प के रंग को उसकी पखुड़ियों से अलग नहीं कर सकते। इसी आशय को ही कुन्तक ने इन्हीं शब्दों में प्रकट किया था—यों तो समझने-समझाने के लिए अलंकार (काव्य-सौन्दर्य) को अलंकार्य (शब्दार्थ) से अलग करके उसका विवेचन किया जाता है, किन्तु सत्य तो यह है कि काव्यता तो सालंकार की ही होती है, अर्थात् काव्य में अलंकार शब्दार्थ का अविभाज्य अंग बनकर ही रहता है उसे पृथक् नहीं कर सकते—

अलंकृतिरलंकार्यमपोद्धृत्य विविच्यते ।
तदुपायतया, तत्त्वं सालंकारस्य काव्यता ॥

[अलंकार्यम् ''वाचकस्य वाच्यरूपस्य ।] व० जी० १.६ तथा वृत्ति

० ०

अन्तत, एक शंका और ! काव्यशास्त्रीय ग्रंथो के अन्तर्गत जिन स्थलों में भाषातत्त्व-विषयक विवाद प्रस्तुत किये गये है अथवा भाषा के किसी अंग को लक्ष्य में रखकर काव्य-सौन्दर्य की चर्चा की गयी है—जैसे उपसर्ग, प्रत्यय, निपात, लिंग, वचन, काल आदि से सम्बन्धित ध्वनि-भेदों अथवा वक्रोक्ति-भेदों से—क्या वे स्थल काव्यशास्त्र के अंग न माने जा कर भाषाशास्त्र के अंग माने जाने चाहिए ? किन्तु स्पष्ट है कि इस प्रकार की शंकाओं का एकमात्र उत्तर है—प्राधान्येन व्यपदेशाः भवन्ति, नाम तो प्रधानता के आधार पर ही रखे जाते है। उपसर्ग-प्रत्ययादि-गत ध्वनि अथवा वक्रोक्तियो के भेद, अथवा शब्दगुण एवं अर्थगुण, अथवा दोष के पद, पदांश, वाक्य और अर्थगत भेद—ये सभी तो निःसन्देह काव्यशास्त्र के अंग हैं। अब केवल उन स्थलो के सम्बन्ध में शंका बच रहती है जो विशुद्धतः भाषाशास्त्र से गृहीत हैं। उदाहरणार्थ—शब्दशक्ति-प्रकरण के अन्तर्गत स्फोटवाद, संकेत-ग्रह-विषयक चर्चा, वाचक शब्द के चार भेद आदि स्थल। निःसन्देह इस प्रकार के स्थल भाषाशास्त्र के ही अंग हैं, किन्तु जब कोई काव्यशास्त्री सामान्य भाषा (लोकभाषा) को लक्ष्य में न रखकर 'काव्यभाषा' अथवा 'काव्यसौंदर्य' की पृष्ठभूमि में इस प्रकार के स्थलों का विवेचन करता है तब ये स्थल भी काव्यशास्त्र के अंग बन जाते है। और फिर ऐसी कौन सी विद्या (शास्त्र, डिसिप्लिन) है जो दूसरी विद्याओं से किसी न किसी प्रकार से जुड़ी हुई अथवा प्रभावित नहीं है ? किन्तु नामकरण केवल उसी विद्या का ही होता है जिसका प्रधानता से विवेचन किया जाता है। अतः उपर्युक्त सभी स्थलों को काव्यशास्त्रीय ग्रन्थों में काव्यशास्त्र के ही अंग माना जाना है।

० ० ०

६. संस्कृत-काव्यशास्त्र का सर्वेक्षण

[१]

संस्कृत का काव्यशास्त्र विराम-बद्ध सिद्धान्तों का एक अमर कोश है। इस शास्त्र का प्रथम उपलब्ध ग्रन्थ नाट्यशास्त्र है, जिसका प्रणेता भरत को माना जाता है। इसी कारण भरत को इस दिशा में आद्याचार्य माना गया है। इस शास्त्र का अन्तिम प्रकाण्ड आचार्य पण्डितराज जगन्नाथ है, जो रसगंगाधर का रचयिता है। भरत का समय दूसरी शती ईस्वी-पूर्व और दूसरी शती ईस्वी के मध्य कहीं माना गया है, और जगन्नाथ सत्रहवीं शती में विद्यमान थे। इस प्रकार यह शास्त्र डेढ़-दो सहस्र वर्षों की अवधि में परिव्याप्त है। इस अवधि में काव्यशास्त्र के सिद्धान्तों में निरन्तर—कभी तीव्र और कभी मन्द—विकास होता रहा, जिसका दिग्दर्शन यहाँ प्रस्तुत किया जा रहा है।

काव्य-विधान की जो स्थिति रसवाद के प्रथम प्रतिष्ठापक अथवा प्रतिपादक भरत के समय में रही होगी, वह अलंकार को काव्यसर्वस्व मानने वाले काव्यालंकार-कार भामह और काव्यादर्शकार दण्डी के समय, छठी-सातवीं ई० में, परिवर्तित हो गयी। इनके अनुसार रस को 'अलंकार' का ही एक रूप मान लिया गया। आगे चलकर नवीं शती में एक साथ तीन प्रबल काव्याचार्यों—वामन, उद्भट और आनन्दवर्धन—का आविर्भाव हुआ। वामन का ग्रन्थ काव्यालंकारसूत्रवृत्ति है, उद्भट का काव्यालंकारसारसंग्रह और आनन्दवर्धन का ध्वन्यालोक। इनमें से वामन ने 'रीति' का समर्थन करते हुए, और इसे काव्य की आत्मा घोषित कर, अलंकार तथा रस को गौण स्थान दिया, और उद्भट ने भामह के अनुकरण में अलंकारवाद का प्रबल समर्थन किया। परन्तु आनन्दवर्धन ने ध्वनि-सिद्धान्त का प्रतिष्ठापन कर काव्यशास्त्र को एक नितान्त नयी दिशा की ओर मोड़ दिया। यही कारण है कि आनन्दवर्धन को इस शास्त्र का युग-प्रवर्तक कहा जाता है, और सम्पूर्ण काव्यशास्त्र को ध्वनि-सिद्धान्त के आधार पर तीन कालों में विभक्त किया जा सकता है: (१) ध्वनि-पूर्ववर्ती काल, (२) ध्वनि-काल अथवा आनन्दवर्धन-काल, और (३) ध्वनि-परवर्ती काल।

आनन्दवर्धन के पश्चात् पूरे दो सौ वर्ष तक विभिन्न काव्यशास्त्री ध्वनि-सिद्धान्त का विरोध करते रहे। दशरूपककार धनंजय (दसवीं शती) ने इसे 'तात्पर्य' में अन्तर्भूत किया, वक्रोक्तिजीवितकार कुन्तक (दसवीं-ग्यारहवीं शती) ने 'वक्रोक्ति' में, और व्यक्तिविवेककार महिमभट्ट (ग्यारहवीं शती) ने 'अनुमान' में। इसके अतिरिक्त इसे 'अभिधा' और 'लक्षणा' में भी अन्तर्भूत करने का प्रयास किया गया। परन्तु काव्यप्रकाश के प्रणेता मम्मट (ग्यारहवीं शती) ने अपने गम्भीर विवेचन द्वारा ध्वनि-विरोधियों का समर्थ शैली में खण्डन प्रस्तुत कर ध्वनि-सिद्धान्त की अकाट्य रूप से स्थापना की, और इसके प्रति आस्था उत्पन्न कर दी। ध्वनि के प्रति मम्मट द्वारा स्थापित यह आस्था अगली छह शताब्दियों तक निरन्तर बनी रही। यहाँ तक कि अलंकार को काव्य का अनिवार्य अंग स्वीकृत करने वाले चन्द्रालोककार जयदेव (तेरहवीं शती) ने भी अपने ग्रन्थ में ध्वनि-प्रकरण को स्थान दिया, ध्वनि के स्थान पर रस को काव्य की आत्मा घोषित करने वाले साहित्यदर्पणकार विश्वनाथ ने न केवल ध्वनि-प्रकरण का निरूपण किया, अपितु रस को ध्वनि का ही एक भेद माना। संस्कृत के अन्तिम आचार्य जगन्नाथ ने भी ध्वनि-सिद्धान्त का पूर्ण समर्थन किया।

० ०

मम्मट से पूर्व और इनके पश्चात् अन्य अनेक आचार्यों ने संग्रह-ग्रंथों का भी निर्माण किया। इस दिशा में मम्मट से पूर्ववर्ती आचार्यों में रुद्रट, राजशेखर, भोजराज और अग्निपुराणकार का नाम उल्लेखनीय है[1], और इसके परवर्ती आचार्यों में रुय्यक, जयदेव तथा विश्वनाथ के अतिरिक्त हेमचन्द्र, वाग्भट प्रथम, वाग्भट द्वितीय, विद्याधर, विद्यानाथ, केशवमिश्र और कविकर्णपूर का।[2] मम्मटपरवर्ती प्रायः सभी आचार्यों पर मम्मट का विशिष्ट प्रभाव है। इन सभी आचार्यों ने काव्य के प्रायः सभी अंगों को अपने ग्रंथों में समाविष्ट किया है।

उक्त संग्रहकर्ता आचार्यों के अतिरिक्त इस दिशा में दो अन्य आचार्य उल्लेखनीय हैं—भानुमिश्र और अप्पय्यदीक्षित। भानुमिश्र ने दो ग्रंथों का निर्माण किया। इन में से रसतरंगिणी का प्रमुख सम्बन्ध रस के साथ है, और रसमंजरी का नायक-नायिका-भेद के साथ। अप्पय्यदीक्षित के तीन ग्रंथों में से 'वृत्तिवार्तिक' शब्दशक्ति-विषयक ग्रंथ है, और 'कुवलयानन्द' तथा 'चित्रमीमांसा' अलंकार से सम्बद्ध ग्रंथ है।

---

१. रुद्रट का ग्रन्थ काव्यालंकार है, राजशेखर का काव्यमीमांसा, और भोजराज के ग्रंथ सरस्वतीकण्ठाभरण तथा शृंगारप्रकाश हैं।

२. हेमचन्द्र का ग्रंथ काव्यानुशासन है, वाग्भट प्रथम का वाग्भटालंकार, रुय्यक का अलंकार-सर्वस्व, वाग्भट द्वितीय का काव्यानुशासन, विद्याधर का एकावली, विद्यानाथ का प्रतापरुद्रयशोभूषण, केशवमिश्र का अलंकारशेखर और कविकर्णपूर का अलंकारकौस्तुभ।

संस्कृत के आचार्यों ने काव्यशास्त्रीय सिद्धान्तों के अतिरिक्त नाट्यशास्त्रीय सिद्धान्तों का भी समय-समय पर सर्जन किया। भरत के 'नाट्यशास्त्र' की व्यापक, विस्तृत और बहुविध विषय-सामग्री यह मानने को बाध्य करती है कि यह ग्रन्थ नाट्यविधान-सबन्धी अनेक शताब्दियों से प्रचलित परम्परा का सुपरिणाम है। भरत के पश्चात् यह परम्परा बन्द-सी हो गयी। इसका सम्भव कारण यह प्रतीत होता है कि काव्यविधान के उत्तरोत्तर गम्भीर एवं व्यापक तथा विशद निर्माण ने आचार्यों को नाट्यविधान से विमुख-सा कर दिया। इसके अतिरिक्त एक अन्य सम्भव कारण यह भी है कि 'नाट्यशास्त्र' ग्रन्थ की विषय-सामग्री इतनी विपुल एवं विशद है कि इस प्रकार के किसी अन्य ग्रन्थ के निर्माण के लिए ग्रन्थकार को एक चुनौती का सामना करना पड़ता। फिर भी, इनके लगभग तेरह-चौदह सौ वर्ष उपरान्त धनजय, सागरनन्दी, रामचन्द्र-गुणचन्द्र, शारदातनय और शिंगभूपाल ने प्रमुखत: नाट्यशास्त्रीय ग्रन्थों का निर्माण कर इस काव्यांग का पुनरुद्धार किया।[1] सर्वांग-निरूपक आचार्यों में अकेले विश्वनाथ ने अधिकांशत: धनजय के ग्रन्थ से प्रेरणा प्राप्त कर नाट्यविधान को भी अपने ग्रन्थ में सम्मिलित कर दिया।

हमारे विचार में नायक-नायिका-भेद की विषय-सामग्री काव्यशास्त्र की अपेक्षा नाट्यशास्त्र से ही अधिक सम्बद्ध है। यही कारण है कि उक्त सभी नाट्यशास्त्रकारों ने इस प्रसग का भी निरूपण करना आवश्यक समझा है। इनके अतिरिक्त रुद्रट, रुद्रभट्ट, भोज, अग्निपुराणकार, भानुमिश्र, रूपगोस्वामी और सन्त अकबरशाह के ग्रन्थों का प्रधान विषय ही नायक-नायिका-भेद है।[2]

काव्य-सिद्धान्त और नाट्य-सिद्धान्त के अतिरिक्त संस्कृत-काव्यशास्त्र का एक अन्य विषय है—कविशिक्षा। राजशेखर, वाग्भट द्वितीय, क्षेमेन्द्र, केशवमिश्र, अमरचन्द्र यति, देवेश्वर आदि ने अपने ग्रन्थों में अन्य काव्यांगों के साथ इसे भी निरूपित किया है।[3]

यहां यह उल्लेख्य है कि उक्त सभी आचार्यों में से भरत, भामह, वामन, आनन्दवर्धन, कुन्तक, महिमभट्ट और क्षेमेन्द्र ही उद्भावक आचार्य माने जाने चाहिए, क्योंकि इन्होंने किसी न किसी नवीन सिद्धान्त की उपस्थापना की है। शेष आचार्यों ने संग्रह-ग्रन्थ ही प्रस्तुत किये हैं। फिर भी, इनमें से मम्मट, विश्वनाथ और जगन्नाथ अपना विशिष्ट स्थान रखते हैं।

---

१. सागरनन्दी का ग्रन्थ नाटकलक्षणरत्नकोष है, रामचन्द्र-गुणचन्द्र का नाट्यदर्पण, शारदातनय का भावप्रकाशन और शिंगभूपाल का रसार्णवसुधाकर।

२. रुद्रभट्ट का ग्रन्थ शृंगारतिलक है, रूपगोस्वामी का उज्ज्वलनीलमणि तथा भक्तिरसामृतसिन्धु और सन्त अकबरशाह का शृंगारमंजरी।

३. राजशेखर का ग्रन्थ काव्यमीमांसा है, क्षेमेन्द्र का औचित्यविचारचर्चा, अमरचन्द्र यति का काव्यकल्पलतावृत्ति और देवेश्वर का काव्यकल्पलता।

काव्यशास्त्र के निर्माण में उक्त उद्भावक एवं संग्रहकर्त्ता आचार्यों के अतिरिक्त टीकाकारों का भी योगदान कुछ कम नहीं है। भरत के प्राचीन व्याख्याताओं में उद्भट[1], लोल्लट, शंकुक, भट्ट तौत (तोत), भट्टनायक और अभिनवगुप्त के नाम उल्लेखनीय हैं। इनमें से केवल अभिनवगुप्त की टीका 'अभिनवभारती' उपलब्ध है। अन्य टीकाकारों का इसी टीका में उल्लेख मिलता है। उद्भट ने संभवतः भामह के ग्रन्थ की भी टीका 'भामह-विवरण' नाम से प्रस्तुत की थी।[1] दण्डी का प्रसिद्ध टीकाकार तरुणवाचस्पति है। उद्भट के दो टीकाकार हैं—राजानक तिलक और प्रतिहारेन्दुराज। वामन का प्रसिद्ध टीकाकार गोपेन्द्रत्रिपुर हरभूपाल है। आनन्दवर्धन के टीकाकारों में अभिनवगुप्त की 'लोचन' टीका अति प्रसिद्ध है। धनंजय का टीकाकार धनिक है, और महिमभट्ट का रुय्यक। मम्मट के ग्रन्थ के लगभग सत्तर टीकाकार बताये जाते हैं, जिनमें से प्रख्यात एवं उद्भावक टीकाकार गोविन्दठक्कुर है। विश्वनाथ के प्रसिद्ध टीकाकार रामचरण तर्कवागीश और शालग्राम हैं, और जगन्नाथ का टीकाकार नागेश भट्ट है। इन टीकाकारों के गम्भीर, प्रौढ एवं तर्कसम्मत व्याख्यान-विवेचन से काव्यशास्त्रीय सिद्धान्तों के परीक्षण, पोषण एवं परिवर्द्धन में, तथा इनसे सम्बद्ध समस्याओं को सुलझाने में, महत्त्वपूर्ण एवं प्रशंसनीय सहायता मिली है। इन टीकाकारों में सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण कार्य अभिनवगुप्त का है, अतः इन्हें टीकाकार कहने के स्थान पर आचार्य-पद से विभूषित किया जाता है। इधर आचार्य विश्वेश्वर ने भरत, वामन, आनन्दवर्धन, कुन्तक, रामचन्द्र-गुणचन्द्र और मम्मट के ग्रन्थों की हिन्दी-टीकाएं प्रस्तुत कर अत्यन्त प्रशस्त कार्य किया है।

[२]

समग्र काव्यशास्त्रीय वर्ण्य-विषय को दृष्टि में रखते हुए परम्परागत दस काव्यांग माने गये हैं। वस्तुतः इन्हें काव्यशास्त्रीय अंग कहना चाहिए, किन्तु ऐसा न कहा जाकर सुविधा के लिए इन्हें 'काव्यांग' कहा जाता है। इनकी निर्धारित नामावलि संस्कृत के प्रामाणिक काव्यशास्त्र में एकत्र उपलब्ध नहीं होती। फिर भी, इनकी संख्या इस प्रकार पूरी की जा सकती है—(१) काव्यस्वरूप (काव्यलक्षण, काव्यभेद, काव्यप्रयोजन, और काव्यहेतु), (२) शब्दशक्ति, (३) ध्वनि, (४) गुणीभूतव्यंग्य, (५) दोष, (६) गुण, (७) रीति, (८) अलंकार, (९) नाट्यविधान और (१०) छन्द। इनके अतिरिक्त दो काव्यांग अन्य भी हैं—रस तथा नायक-नायिका-भेद। परन्तु रस का अन्तर्भाव ध्वनि में किया जा सकता है, और नायक-नायिका-भेद का रस में। किन्तु सामान्यतः इन दोनों का निरूपण स्वतन्त्र रूप से किया जाता है। 'रस' का इसलिए कि यह न केवल ध्वनि का सर्वोत्कृष्ट भेद है, अपितु इसलिए भी

---

१ उद्भट की टीका उपलब्ध नहीं है। केवल इधर-उधर बिखरे हुए संकेत मिलते हैं।

नि इस पर सर्वाधिक समीक्षात्मक एवं चिन्तनात्मक सामग्री प्रस्तुत की गयी है, तथा विश्वनाथ आदि द्वारा इसे काव्य की 'आत्मा' के रूप में स्वीकृत किया गया है। 'नायक-नायिका-भेद' का इसलिए कि यह प्रसंग कलेवर एवं भेदोपभेदों की दृष्टि से इतना अधिक विस्तृत है कि रस के अन्तर्गत इसे स्थान देने से रस जैसे महत्त्वपूर्ण अंग के आच्छादित हो जाने की आशंका बनी रहती है। यद्यपि इस प्रकार इन काव्यांगों की संख्या बारह होनी चाहिए, किन्तु फिर भी, काव्यांग दस ही माने जाते हैं। अधिकतर आचार्यों ने छन्दोविधान को अपने ग्रन्थों में स्थान नहीं दिया। नाट्यविधान का भी अधिकतर काव्यशास्त्रीय ग्रन्थों में निरूपण नहीं हुआ। केवल विश्वनाथ ही ऐसे प्रख्यात आचार्य हैं जिन्होंने इसका निरूपण किया है, किन्तु उन्होंने भी इस काव्यांग को ही प्रकारान्तर से स्वीकृति करने के लिए मानो नायक-नायिका-भेद को रस-प्रकरण के अन्तर्गत निरूपित कर दिया है। अस्तु! दस काव्यांग इस क्रम से स्वीकृत करने चाहिए—काव्य-स्वरूप, शब्द-शक्ति, ध्वनि, रस, नायक-नायिका-भेद, गुणीभूतव्यंग्य, दोष, गुण, रीति, और अलंकार। इनके अतिरिक्त चाहें तो तीन और काव्यांग भी मान सकते हैं—नाट्यविधान, कविशिक्षा और छन्द।

० ०

संस्कृत के प्रमुख आचार्यों का उद्देश्य काव्यशास्त्रीय सिद्धान्तों का प्रतिपादन एवं उनका उत्तरोत्तर विकास करना था। इसके लिए उन्होंने लक्ष्य-ग्रन्थों का आधार ग्रहण करते हुए प्रायः उदाहरण इन्हीं ग्रन्थों से प्रस्तुत किये। यद्यपि दण्डी, जयदेव और जगन्नाथ जैसे प्रसिद्ध आचार्यों ने स्वनिर्मित उदाहरण प्रस्तुत किये हैं, किन्तु ऐसे आचार्यों की संख्या अधिक नहीं है। शब्द-शक्ति, ध्वनि, रस, नायक-नायिका-भेद, अलंकार, रीति और दोष के भेदोपभेदों की उत्तरोत्तर वर्द्धमान संख्या इस तथ्य का सबल प्रमाण है कि लक्ष्य-ग्रन्थों की ही तद्युगीन आलोचना के आधार पर वे काव्यांगों के भेदोपभेदों में भी वृद्धि करते चले गये। हाँ, यदि कुन्तक और जयदेव ने अलंकारों की संख्या को कम किया, अथवा मम्मट ने अलंकार-दोषों को नितान्त अस्वीकृत किया, अथवा वामन-सम्मत दस गुणों के स्थान पर तीन गुण स्वीकार किये, तो इन आचार्यों का आशय इन सब का स्वसम्मत काव्यांगों में अन्तर्भाव करना था, यद्यपि वे इन्हें लक्ष्य-ग्रन्थों में अस्वीकृत नहीं करते थे। इस प्रकार संस्कृत के काव्यशास्त्रीय सिद्धान्त धीरे-धीरे विकसित एवं खंडित-मंडित होते-होते आनन्दवर्धन और तदुपरान्त मम्मट के समय तक प्रौढ़ तथा स्थिर बन गये, और यह स्थिति यहाँ तक पहुँच गयी कि विभिन्न काव्य-सम्प्रदायों अथवा काव्य-सिद्धान्तों की भी परिगणना की जाने लगी।

काव्यशास्त्रीय विचार-परम्परा पाँच सिद्धान्तों में विभक्त की जाती है—अलंकारसिद्धान्त, रीतिसिद्धान्त, ध्वनिसिद्धान्त, वक्रोक्तिसिद्धान्त और रससिद्धान्त। इन सिद्धान्तों में से किसे काव्य-सम्प्रदाय माना जाए, यह एक विचारणीय प्रश्न है। 'सम्प्रदाय' शब्द से वह सिद्धान्त अभिहित किया जाना चाहिए जिसका आगे चलकर अन्य आचार्यों द्वारा अनुकरण एवं अनुगमन हुआ हो, तथा उसकी मान्यताओं का विवेचन एवं

परिवर्धन हुआ हो। इस दृष्टि से अलंकार, ध्वनि और रस-सिद्धान्त तो 'सिद्धान्त' कहाने के साथ-साथ 'सम्प्रदाय' कहाने के भी अधिकारी हैं, किन्तु रीति और वक्रोक्ति-सिद्धान्त इसके अधिकारी नहीं है, क्योंकि न तो किसी आचार्य ने वामन तथा कुन्तक के इन सिद्धान्तों का अनुकरण किया, और न किसी ने इनसे सम्बद्ध धारणाओं एवं मान्यताओं का विकास एवं परिवर्द्धन ही प्रस्तुत किया, वरन् इनका ध्वनि एवं रसवादियों द्वारा खण्डन ही किया गया। इनके विपरीत भामह के अलंकार-सिद्धान्त का अनुमोदन, तथा परिवर्द्धन दण्डी और उद्भट द्वारा किया गया, और आनन्दवर्धन के ध्वनि-सिद्धान्त का मम्मट और जगन्नाथ जैसे मर्मवेत्ता आचार्यों द्वारा। रससिद्धान्त भरत, अग्नि-पुराणकार, भोजराज और विश्वनाथ जैसे प्रधान आचार्यों के अतिरिक्त अन्य अनेक आचार्यों द्वारा स्वीकृत एवं विकसित हुआ। अस्तु! वामन के रीति-सिद्धान्त और कुन्तक के वक्रोक्ति-सिद्धान्त को यद्यपि 'सम्प्रदाय' नाम नहीं दे सकते, फिर भी, लाक्षणिक रूप से इन्हें 'सम्प्रदाय' कह देते है। इसके अतिरिक्त अनेक कारणों से इनका निजी महत्त्व है। एक प्रत्यक्ष कारण तो यह है कि ये दोनों सिद्धान्त काव्य के बाह्य पक्ष के स्वरूप-प्रतिपादक है। बाह्य पक्ष आन्तरिक पक्ष की अपेक्षा निस्सन्देह किंचित् न्यून कोटि का सही, किन्तु त्याज्य एवं उपेक्षणीय किसी भी रूप में नहीं होता।

० ०

उक्त पांच सिद्धान्तों के अतिरिक्त इसी प्रसंग में औचित्य-सिद्धान्त का भी उल्लेख किया जाता है। किन्तु वस्तुतः यह कोई अलग सिद्धान्त न होकर विभिन्न काव्यांगों को परिष्कृत एवं उपादेय बनाने का हेतु मात्र है। अलंकार आदि पांच काव्य-सिद्धान्तों के प्रवर्तक एवं अनुमोदक या तो अपने मान्य सिद्धान्त के अन्तर्गत अन्य काव्यांगों को समाविष्ट करते हैं—जैसे रीतिवादी एवं वक्रोक्तिवादी; या अन्य काव्यांगों को अपने मान्य सिद्धान्त के परिपोषक रूप में स्वीकृत करते हैं—जैसे रसवादी एवं ध्वनिवादी। किंतु 'औचित्य' नामक काव्य-तत्त्व के प्रवर्तक क्षेमेन्द्र इनमें से किसी भी प्रवृत्ति को नहीं अपनाते। वे सभी काव्यांगों को स्वीकार करते हुए केवल उनके औचित्यपूर्ण प्रयोग पर ही बल देने के पक्ष में हैं। उदाहरणार्थ, गुण और अलंकार के सम्बन्ध में उनका कथन है कि 'अलंकार और गुण' अपने उचित प्रयोग के कारण ही इन्हीं नामों से अभिहित होते है, अन्यथा नहीं।[1] अलंकार और गुण की स्थिति को क्षेमेन्द्र भी वैसा ही स्वीकार करते हैं जैसा रसवादी एवं ध्वनिवादी स्वीकार करते हैं। इसी प्रकार उन्हीं के समान वे भी काव्य को 'रससिद्ध' मानने के पक्ष में हैं। पर हाँ, ऐसे 'रससिद्ध' काव्य का स्थिर जीवित 'औचित्य' ही है।[2] दूसरे शब्दों में, काव्य का प्रधान तत्त्व रस है, और उसका

---

१ उचितस्थानविन्यासाद् अलङ्कृतिरलंकृतिः ।
औचित्यादच्युता नित्यं भवन्त्येव गुणाः गुणाः ॥ औ०वि०च०—६

२. अलंकारास्त्वलंकारा गुणा एवं गुणाः सदा ।
औचित्यं रससिद्धस्य स्थिरं काव्यस्य जीवितम् ॥ वही—५

'जीवित' है औचित्य। यहाँ 'जीवित' शब्द से तात्पर्य है—किसी काव्यांग को उपादेय बनाने का हेतु। केवल गुण, अलंकार और रस ही नहीं, अपितु काव्य से सम्बद्ध ऐसे अन्य चौबीस तत्त्वों के विषय में भी क्षेमेन्द्र की यही धारणा है कि उनका प्रयोग औचित्यपूर्ण होना चाहिए।[1] इसी पर आधारित रहकर ही अन्य काव्यांग अपने यथावत् रूप में प्रस्तुत हो सकते हैं, अन्यथा नहीं। इस प्रकार 'औचित्य' हेमत्व कोई स्वतन्त्र वाद अथवा सिद्धान्त न होकर अन्य काव्यांगों को उपादेय बनाने का साधनमात्र है, इसके प्रति साध्य तो अन्य काव्यांग ही हैं। किन्तु इसके विपरीत उधर उक्त पांचों काव्य-सिद्धान्तों के समर्थक आचार्यों द्वारा अलंकार, वक्रोक्ति, रीति, रस तथा ध्वनि अन्य काव्यांगों के प्रति क्रमशः साध्य माने जाते हैं, तथा अन्य काव्यांग इनके प्रति साधन बने रहते हैं। अतः 'औचित्य' को स्वतन्त्र सिद्धान्त मानना समुचित नहीं है।

० ०

इसी प्रसंग से सम्बद्ध एक शंका का समाधान कर लेना अपेक्षित है। अलंकार-सिद्धान्त आदि पांचों काव्य-सिद्धान्तों में कालक्रम की स्थिति क्या है? वस्तुतः इनमें से केवल रस-सिद्धान्त का ही प्रश्न विवादास्पद है। शेष चारों का क्रम इनके प्रवर्तकों के काल-क्रमानुसार नियत है—अलंकारसिद्धान्त के उपरान्त रीतिसिद्धान्त, और इनके उपरान्त ध्वनिसिद्धान्त तथा वक्रोक्तिसिद्धान्त।

रस-सिद्धान्त को स्वीकृत करने वाले प्रमुख आचार्य है—भरत, 'अग्निपुराण-कार', भोजराज और विश्वनाथ। इनमें से अन्तिम दो तो आनन्दवर्धन के परवर्ती हैं। जहां तक अग्निपुराण के काव्यशास्त्रीय भाग का सम्बन्ध है, इसकी तुलना अन्य काव्य-शास्त्रीय ग्रन्थों से करने पर हम निश्चयपूर्वक इस परिणाम पर पहुंचते हैं कि इसकी रचना भी आनन्दवर्धन के बाद हुई है। शेष रहे भरत। हमारा विचार है कि भरत-प्रणीत नाट्यशास्त्र के षष्ठ और सप्तम अध्याय का प्रणयन, जिनमें क्रमशः रस और भाव का निरूपण हुआ है, या तो भामह और दण्डी के उपरान्त हुआ है, या यदि इनसे पहले इन अध्यायों का प्रणयन हो भी चुका था तो ये दोनों आचार्य किसी कारणवश इनका अध्ययन नहीं कर सके—शायद ये उन्हें उपलब्ध ही न हुए हों। हाँ, ये दोनों आचार्य 'रस' नामक काव्य-तत्त्व से परिचित अवश्य थे। सम्भवतः, उन्हें यह परिचिति विद्वद्-गोष्ठियों द्वारा मिली हो, क्योंकि इन गोष्ठियों में रस जैसे गम्भीर तत्त्व पर विचार-विमर्श एवं चिन्तन अवश्य होता होगा। किन्तु भामह और दण्डी भरत-प्रस्तुत रस तथा भाव-विषयक चर्चा से परिचित प्रतीत नहीं होते, अन्यथा इस चर्चा से परिचित रहते हुए इसका यथावत् एवं सम्यक् उल्लेख न करना, और यहां तक कि रस एवं भाव की सत्ता स्वतन्त्र रूप से स्वीकार न कर इन्हें अलंकार में अन्तर्भूत कर लेना, इन दोनों, विशेषतः भामह जैसे प्रौढ़ आचार्य, के लिए नितान्त

१. औचित्यविचारचर्चा ८-१०

असम्भव था। भरत-प्रस्तुत रसविषयक चर्चा इतनी व्यापक, स्वच्छ एवं उपादेय है कि कोई भी काव्यशास्त्री, चाहे वह कितना ही पूर्वाग्रह-ग्रस्त क्यों न हो, इससे प्रभावित हुए बिना, और इसका यथावत् उल्लेख किये बिना भी, नहीं रह सकता।

यह कहा जा सकता है कि भामह अलङ्कारवादी आचार्य था। अत भरत-प्रस्तुत रस का अन्तर्भाव उसने अलङ्कार में किया, किन्तु हमारे विचार में विद्वद्-गोष्ठियों द्वारा रस के जिस साधारण स्वरूप से वह अवगत हुआ, उसी के आधार पर उसने अपनी यह मान्यता प्रस्तुत कर दी, किन्तु यदि वह भरत द्वारा प्रस्तुत रस-विषयक विशिष्ट चर्चा से परिचित होता तो शायद ऐसी भूल न करता। इसके अतिरिक्त भरत कोई विशिष्ट आचार्य भी तो नहीं माने जाते। वह सम्भवतः एक संग्रहकर्ता है, जिन्होंने समय-समय पर निर्मित एवं निर्धारित नाट्यशास्त्रीय (तथा कतिपय काव्यशास्त्रीय) चर्चाओं, मान्यताओं एवं धारणाओं का संकलन प्रस्तुत कर दिया। भरत के सम्बन्ध में विद्वानों की धारणा यह भी है कि विभिन्न कालों में प्रतिपादित सिद्धान्तों का संकलन जब विभिन्न आचार्यों द्वारा कर लिया गया तो उस 'नाट्यशास्त्र' ग्रंथ को 'भरत मुनि' के नाम के साथ जोड़ दिया गया, क्योंकि 'भरत' शब्द कुशल नट का भी द्योतक है। अस्तु! इन दोनों में से किसी एक तथ्य के स्वीकार कर लेने पर यह मान लेने में कोई आपत्ति नहीं होती चाहिए कि रस-भाव-विषयक दोनों अध्याय भामह के उपरान्त सङ्कलित हुए होंगे। भामह से पहले नाट्यशास्त्र में उपलब्ध रस-भाव के प्रसंग प्रणीत हो चुके थे अथवा नहीं—इस सम्बन्ध में निश्चयपूर्वक कुछ कह सकना कठिन है, परन्तु यह निश्चित है कि भामह और दण्डी (और शायद उद्भट भी) इन स्थलों का किसी कारण-वश अध्ययन नहीं कर सके। पर हाँ, भरत द्वारा प्रतिपादित रस-विषयक सामग्री का सांगोपांग एवं सम्यक् विवेचन आनन्दवर्धन के समय हो चुका होगा, जिसे कि इन्होंने ध्वनि पर ही आधारित किया, तथा उसे ध्वनि का ही एक उपभेद माना। आनन्दवर्धन और अभिनवगुप्त के बीच के काल में तो इस विषय पर जमकर विचार किया गया। लोल्लट, शङ्कुक, नायक, तोत (तोत) जैसे मर्मज्ञ एवं गम्भीर व्याख्याता इसी काल की सम्पदा हैं। अस्तु! उक्त पाँच सिद्धान्तों का कालानुसार क्रम इस प्रकार होना चाहिए—अलङ्कार, रीति, रस, ध्वनि और वक्रोक्ति। किन्तु अन्ततः, ध्वनिसिद्धान्त ही स्वीकृत रहा, और रस को यद्यपि ध्वनि का ही एक भेद माना गया, फिर भी, काव्यशास्त्रीय जगत् में इसकी प्रतिष्ठा तथा इसके प्रति समादर की भावना किसी भी समय किसी भी रूप में कम नहीं हुई।

○ ○

निरूपण-शैली 'सूत्र-वृत्ति शैली' है। वामन और रुय्यक के शास्त्रीय सिद्धान्त सूत्रबद्ध हैं, और सूत्रों की वृत्ति गद्यात्मक है। उदाहरणों के लिए इन्होंने पद्यों का आश्रय लिया है। इनसे मिलती-जुलती शैली वाग्भट द्वितीय, भानुमिश्र, जगन्नाथ और अकबरशाह की है। तीसरी 'कारिका-वृत्ति शैली' है। आनन्दवर्धन, कुन्तक, मम्मट, हेमचन्द्र, विश्वनाथ आदि ने इसी शैली को अपनाया है। इनके प्रमुख शास्त्रीय सिद्धान्त कारिकाबद्ध हैं, उनकी व्याख्या गद्यबद्ध वृत्ति में है, और उदाहरण पद्यात्मक।

अस्तु! इस प्रकार लगभग डेढ़-दो सहस्र वर्षों की यह काव्यशास्त्र-परम्परा उद्भावक एवं संग्रहकर्त्ता आचार्यों तथा टीकाकारों के माध्यम से काव्य, नाटक और कविशिक्षा-संबंधी सिद्धान्तों का अनवरत सर्जन, विवेचन, समीक्षण एवं संकलन प्रस्तुत करती रही है।

[३]

अन्त में यह चर्चा करना भी प्रासंगिक है कि इस विद्या का 'काव्यशास्त्र' नाम है तो बहुत पुराना, पर अधिक प्रचलित आधुनिक युग में हुआ है। संस्कृत-ग्रंथों के आधार पर इस विद्या के अनेक नाम प्रचलित रहे—

—वाल्मीकि रामायण में इस विद्या के अर्थ में सर्वप्रथम 'क्रियाकल्प' शब्द का प्रयोग मिलता है।[1] सम्भवतः इसी आधार पर बौद्ध ग्रंथ ललितविस्तर में भी यही प्रयुक्त हुआ है, जिसका अर्थ टीकाकार जयमंगलार्क ने किया है—काव्यकरणविधि अथवा काव्यालंकार।[2] इसी शब्द का प्रयोग वात्स्यायन ने अपने ग्रंथ कामसूत्र में चौसठ कलाओं के अन्तर्गत कला के रूप में किया है और स्पष्टता के लिए इससे पहले काव्य शब्द जोड़ दिया है—इस कला का नाम है 'काव्यक्रियाकल्प',[3] अर्थात् काव्यशास्त्र। सम्भवतः इन्हीं स्रोतों से प्रेरणा प्राप्त कर दण्डी ने इसी अर्थ में 'क्रियाविधि' शब्द का प्रयोग किया है।[4]

—इधर ऐसा प्रतीत होता है कि भामह के समय 'अलंकार' शब्द बहु-प्रचलित हो गया, और इसका अर्थ भी व्यापक हो गया—दण्डी के शब्दों में सभी प्रकार के काव्यशोभाकर उपकरण 'अलंकार' कहाते थे।[5] इसी शब्द के आधार पर यह विद्या सम्भवतः 'अलंकारशास्त्र' कहाती होगी, जिसका प्रमाण निम्नोक्त ग्रंथों के नाम हैं—भामह का काव्यालंकार, उद्भट का काव्यालंकारसारसंग्रह और वामन का काव्यालंकारसूत्रवृत्ति। इसका एकमात्र कारण यही प्रतीत होता है कि भामह अलंकारवादी

१. क्रियाकल्पविदश्च तथा काव्यविदो जनान्। (वाल्मीकि-रामायण, उ० का० ६३.७)
२. क्रियाकल्प इति काव्यकरणविधिः काव्यालंकार इत्यर्थः। (ललितविस्तर-टीका)
३. कामसूत्र १.३.१६
४. वाचां विचित्रमार्गाणां निबबन्धुः क्रियाविधिम्। काव्यादर्श १.६
५. काव्यशोभाकरान् धर्मान् अलंकारान् प्रचक्षते। वही २.१

आचार्य होने के नाते अलंकार को काव्य-सर्वस्व मानते थे और उद्भट भामह के अनुकर्त्ता थे। वामन न केवल काव्य-शोभा के वर्द्धक हेतुओं को अलंकार कहते थे, अपितु इस शोभा (सौन्दर्य) को भी वह 'अलंकार' नाम देते थे।[1] उसी युग में रुद्रट ने भी अपने ग्रंथ का नाम 'काव्यालंकार' रखा था, किन्तु इसका कारण यह है कि इन्होंने अपने ग्रन्थ का अधिकतर कलेवर अलंकारों को समर्पित किया है, और यही कारण रुय्यक के ग्रन्थ 'अलंकारसर्वस्व' और केशवमिश्र के ग्रन्थ 'अलंकारशेखर' पर भी घटित होता है, यद्यपि ये सभी आचार्य अलंकारवादी नहीं है।[2] इस प्रकार अब तक यह विद्या स्पष्टतः 'अलंकार-शास्त्र' नाम से अभिहित नहीं हुई थी, किन्तु यदि इसका नाम रखना अभीष्ट होता तो निस्सन्देह 'अलंकार' पर ही रखा जाता और यही काम आगे चलकर विद्यानाथ-प्रणीत प्रतापरुद्रयशोभूषण के टीकाकार ने किया—'यद्यपि यह शास्त्र रस, अलंकार आदि अनेक विषयों से सम्बद्ध है तथापि इसे 'छत्रिन्याय' से 'अलंकारशास्त्र' कहा जाता है।[3]

—इसी बीच राजशेखर ने इस विद्या को 'साहित्यविद्या' नाम दिया।[4] 'साहित्य' शब्द भारतीय काव्यशास्त्र का बहुचर्चित शब्द है। भामह ने, अपने काव्य-लक्षण में इस शब्द का प्रयोग करते हुए शब्दार्थ के सहित-भाव का संकेत किया था—शब्दार्थौ सहितौ काव्यम्, और आगे चलकर कुन्तक ने इस सहित-भाव की मनोयोग से व्याख्या करते हुए शब्द और अर्थ के साहित्य अर्थात् सहित-भाव पर बल दिया।

१ सौन्दर्यमलंकारः। काव्यालंकारसूत्रवृत्ति १.१.२

२ हमारे विचार में रुद्रट भी अलंकारवादी नहीं है।

३. यद्यपि रसालंकाराद्यनेकविषयमिदं शास्त्रं तथापि छत्रिन्यायेन अलंकारशास्त्र-मुच्यते। (प्र० रु० य० भू० टीका-भाग पृष्ठ ३) इसका तात्पर्य यह है कि जिस प्रकार छाताधारी लोगों के साथ जाते हुए छाता-रहित व्यक्तियों के लिए भी दूर से संकेत करते हुए यही कहा जाता है कि वह देखो छाताधारी लोग जा रहे हैं, उसी प्रकार यह शास्त्र भी यद्यपि रस, अलंकार आदि अनेक विषयों से सम्बद्ध है, तथापि इसे 'अलंकारशास्त्र' कहा जाता है।

[यहाँ यह उल्लेख्य है कि 'अलंकार' शब्द 'अलंक्रियते अनेन इति अलंकारः' इस करण-परक व्युत्पत्ति के आधार पर अनुप्रास, उपमा आदि अलंकारों का द्योतक है, और 'अलंकारशास्त्र' उपर्युक्त छत्रिन्याय से प्रधानतः अलंकारों का, तथा गौणतः रस, ध्वनि, गुण, रीति, आदि का निरूपक शास्त्र मान लिया जाता है। किन्तु 'अलंकृतिरलंकारः' इस भावपरक व्युत्पत्ति के आधार पर 'अलंकार' शब्द सौन्दर्य का पर्याय है, और इस प्रकार अलंकारशास्त्र किसी काव्यांग का निरूपक न होकर काव्यांगों में जन्य सौन्दर्य का निरूपक शास्त्र सिद्ध हो जाता है, और आधुनिक शब्दावली में 'Aesthetics' अर्थात् 'सौन्दर्यशास्त्र' का पर्याय बन जाता है। अस्तु !]

४. पंचमी साहित्यविद्या इति यायावरीयः। का० मी० पृष्ठ ४

'साहित्य' शब्द के आधार पर राजशेखर के समय में इस विद्या का नाम 'साहित्य-विद्या' भी प्रचलित रहा होगा। विश्वनाथ का *'साहित्यदर्पण'* और रुय्यक का अप्राप्त 'साहित्यमीमांसा' ग्रन्थ 'साहित्य' शब्द पर ही आधारित हैं।

—इन सब नामों के अतिरिक्त एक अन्य नाम भी उपलब्ध है, वह है—'काव्यशास्त्र'। इसका प्रयोग केवल भोजराज ने किया है—

काव्यं शास्त्रेतिहासौ च काव्यशास्त्रं तथैव च।

काव्येतिहासः शास्त्रेतिहासस्तदपि षड्विधम् ॥ स० क० आ० २.१३९

इस प्रकार हमारे सम्मुख ये नाम उपलब्ध हैं—काव्यकल्पविधि, कल्पविधि, अलंकारशास्त्र, साहित्यविद्या और काव्यशास्त्र। इनमें से प्रथम दो नाम अप्रचलित हो गये। 'काव्यकल्पविधि' नाम शायद बचा भी रहता, पर इसका संक्षिप्त रूप 'कल्पविधि' न इसे बचा सका और न अपने-आप को। शास्त्र, विद्या, आदि शब्द इनकी तुलना में कहीं अधिक सटीक और सबल रहे। 'अलंकारशास्त्र' नाम भी चल नहीं सका, क्योंकि परवर्ती आचार्यों के अनुसार 'अलंकार' केवल बाह्य उपकरणमात्र रह गया था, तथा एक विशेष काव्य-तत्त्व का द्योतक बन गया था। इधर 'साहित्य-विद्या' अथवा 'साहित्यशास्त्र' जैसे शब्द आज किंचित् भ्रामक हैं, क्योंकि 'साहित्य' शब्द अंग्रेजी के 'लिट्रेचर' शब्द का पर्याय बन गया है, और इसी कारण इसमें अर्थ-विस्तार है—सर्जनात्मक और आलोचनात्मक दोनों प्रकार की कृतियों को हम 'साहित्य' कहते हैं। इतना ही नहीं, आज कानून, चिकित्सा, राजनीति, इतिहास आदि सभी विषयों से सम्बद्ध सामग्री भी 'लिट्रेचर' के अनुरूप प्रायः 'साहित्य' के अन्तर्गत आ जाती है। किंतु 'काव्य' केवल सर्जनात्मक कृति का ही वाचक है, जिसके अन्तर्गत पद्यात्मक और गद्यात्मक दोनों प्रकार की रचनाएँ आ जाती हैं। यों, 'काव्य' शब्द 'साहित्य' शब्द की अपेक्षा बहुव्यापी भी रहा है—पूर्ववर्ती और परवर्ती दोनों प्रकार के आचार्यों ने इसे अपने ग्रंथ-नामों में अपनाया है। उदाहरणार्थ—भामह, दण्डी, उद्भट, वामन, रुद्रट, राजशेखर, मम्मट, हेमचन्द्र और वाग्भट द्वितीय—इन सबके ग्रंथों के नाम 'काव्य' शब्द पर आधारित हैं। अस्तु ! काव्य की नियामक तथा उसके सिद्धान्तों की प्रतिपादक विद्या को 'काव्यशास्त्र' नाम देना कहीं अधिक समुचित है। कल्पविधि, विद्या आदि की तुलना में 'शास्त्र' शब्द कहीं अधिक सबल है। इसका अर्थ है जो विधि-निषेध पर शासन करता है—'शासनात् शास्त्रम्'। अस्तु ! इस प्रकार 'काव्यशास्त्र' नाम अन्य नामों की अपेक्षा कहीं अधिक उपयुक्त है। इसके अतिरिक्त पोएट्री (काव्य) से सम्बन्धित 'पोएटिक्स' (काव्य-सिद्धान्त-निरूपक शास्त्र) का पर्याय-स्वरूप 'काव्यशास्त्र' शब्द ही कहीं अधिक सटीक, संगत एवं उपादेय प्रतीत होता है।

० ० ०

७. भरत मुनि और उनका नाट्यशास्त्र

[१]

भरत मुनि की ख्याति नाट्यशास्त्र के प्रणेता के रूप में है जो कि अपने विषय का आद्य ग्रन्थ है, और इस नाते भरत मुनि नाट्यशास्त्र के आद्याचार्य कहाते हैं। यों, नन्दिकेश्वर अथवा नन्दि[१] (जिसे अनश्रुति भरत से पूर्व मानती है) द्वारा प्रणीत अभिनयदर्पण ग्रन्थ उपलब्ध है, पर कलेवर और वर्ण्य-विषय दोनों दृष्टियों से नाट्यशास्त्र की अपेक्षा वह अत्यन्त लघु एवं सामान्य कोटि का है। भरत के जीवन और व्यक्तित्व के विषय में इतिहास अभी तक मौन है। एक धारणा यह भी है कि 'भरत' नाम ही काल्पनिक है। भरत (√भृ) कहते हैं—स्वाग भरने वाले अर्थात् नट को। अतः 'भरत' एक उपाधि रही होगी जो उस युग के प्रधान नाट्याचार्य को दी गयी होगी, पर इस धारणा पर पूर्ण विश्वास जमता नहीं है।

भरत नाम से कई व्यक्ति प्रसिद्ध हैं—(१) दशरथ-पुत्र, (२) दुष्यन्त-पुत्र, (३) मान्धाता का प्रपौत्र। ये तीनों व्यक्ति राजपुत्र थे। अतः इनमें से किसी को भी 'भरत मुनि' एवं नाट्यशास्त्र का प्रणेता नहीं माना जा सकता। इसके अतिरिक्त भरत नाम के तीन अन्य व्यक्तियों का उल्लेख मिलता है—आदिभरत, वृद्धभरत और जडभरत। अनुमानतः इनमें से पहले दो नाम तो एक ही व्यक्ति के प्रतीत होते हैं, और 'जडभरत' को ही संक्षेपतः 'भरत' कहते होंगे।

[२]

शारदातनय ने अपने ग्रन्थ भावप्रकाशन में नाट्यशास्त्र को 'नाट्यवेद' कहते हुए इस ग्रन्थ की दो संहिताओं का उल्लेख किया है—(१) 'द्वादश-साहस्री' संहिता, जिसमें बारह हजार श्लोक हैं, और (२) इससे आधी 'षट्-साहस्री' संहिता, जिसमें छह हजार श्लोक हैं।[२] म० म० रामकृष्ण कवि के अनुसार द्वादशसाहस्री संहिता का कर्ता वृद्धभरत था (जिसे संभवतः 'आदि भरत' भी कहते होंगे।) इसे संक्षिप्त करते हुए जडभरत (भरत/भरत मुनि) ने षट्साहस्री संहिता का सङ्कलन किया। किन्तु कुछ विद्वानों की धारणा इससे विपरीत भी है। उनके अनुसार लघु पाठ ही प्राचीन है, जिसमें अन्य क्षेपकों तथा विषय-विस्तारों को जोड़कर दीर्घ पाठ के रूप में प्रस्तुत किया गया। माना यह जाता है कि धनंजय ने 'लघु पाठ' को अपना

---

१ नन्दिकेश्वर नाम का उल्लेख संभवतः सर्वप्रथम राजशेखर के ग्रन्थ काव्यमीमांसा (१ म अ०) में मिलता है। 'अभिनयदर्पण' अंग्रेजी अनुवाद-सहित सन् १९२६ में प्रकाशित हुआ था। इसके सम्पादक और अनुवादक डॉ० मनमोहन घोष हैं।

२. एवं द्वादश-साहस्रैः श्लोकैरेकं तदर्धतः।
षड्भिः श्लोकसहस्रैर्यो नाट्यवेदस्य संग्रहः ॥ (भावप्रकाशन, पृष्ठ २८७)

आधार बनाया था और भोजराज ने 'दीर्घ पाठ' को, तथा अभिनवगुप्त ने 'लघु पाठ' पर ही अपनी टीका लिखी है। उल्लेख्य है कि दीर्घ पाठ के कुछ ही अंश आज उपलब्ध है, और 'षट्साहस्री' संहिता ही वर्तमान नाट्यशास्त्र के रूप में उपलब्ध है।[१]

[३]

भारतवर्ष में नाट्यशास्त्र का प्रथम प्रकाशन सन् १८९४ में 'काव्यमाला सीरीज' के अन्तर्गत निर्णयसागर प्रेस बम्बई से हुआ। सम्पादक हैं—पं० शिवदत्त और श्री काशीनाथ पाण्डुरंग परब। इस में वर्जित श्लोक मिलाकर कुल लगभग ६००० श्लोक हैं और ३७ अध्याय। इसके बाद गायकवाड ओरिएन्टल सिरीज, बडोदा से अभिनवभारती-सहित नाट्यशास्त्र क्रमश चार खण्डों मे प्रकाशित होना प्रारम्भ हुआ—पहला खण्ड सन् १९२६ मे, दूसरा सन् १९३४ में, तीसरा सन् १९५४ और चौथा अभी तक नही छपा। इसके सम्पादक श्री० रामकृष्ण कवि है। कुल मिलाकर इसमें ४४ पाण्डुलिपियों का उपयोग किया गया। इसी बीच सन् १९२९ में चौखम्बा संस्कृत सिरीज (काशी संस्कृत सिरीज) बनारस मे एक और संस्करण प्रकाशित हुआ। इसके सम्पादक हैं—श्री बटुकनाथ शर्मा और श्री बलदेव उपाध्याय। इसमें ३६ अध्याय हैं। वस्तुत, नि० सा० प्रेस के ३६वें और ३७वें अध्यायों की सामग्री वही है जो कि चौ० सं० सी० के ३६ वें अध्याय की है। जब नि० सा० प्रेस के नाट्यशास्त्र का दूसरा संस्करण सन् १९४३ में निकला तो इसमें अन्तिम दो अध्यायों को जोड़कर कुल ३६ अध्याय ही रखे गये, तथा इसी बीच उपलब्ध सामग्री के आधार पर पाठों में भी सुधार किया गया। ज्ञातव्य है कि स्वयं अभिनवभारतीकार ने भी ३६ अध्यायों का ही उल्लेख किया है। अस्तु।

१९५० में डॉ० मनमोहन घोष का नाट्यशास्त्र का अंग्रेज़ी भाषा में अनुवाद रायल एशियाटिक सोसाइटी बंगाल द्वारा प्रकाशित हुआ। फिर सन् १९६० में अभिनवभारती-सहित पहले, दूसरे और छठे अध्यायों की व्याख्या डॉ० नगेन्द्र के सम्पादकत्व में दिल्ली विश्वविद्यालय द्वारा प्रकाशित हुई, व्याख्याकार हैं—संस्कृत के प्रकाण्ड विद्वान् आचार्य विश्वेश्वर। इधर १ से ७ अध्याय तक नाट्यशास्त्र के दो हिन्दी-अनुवाद क्रमश—डॉ० रघुवंश और श्री बाबूलाल शुक्ल द्वारा कृत—'मोतीलाल बनारसी दास' और 'चौखम्बा संस्कृत सीरीज' से प्रकाशित हुए। इनके अतिरिक्त सन् १९८१ में अभिनवभारती-सहित संपूर्ण नाट्यशास्त्र परिमल पब्लिकेशन्स, दिल्ली द्वारा प्रकाशित हुआ है, इस संस्करण के सम्पादक डॉ० रविशंकर नागर हैं।

---

१ [illegible] भी [illegible] ंग्नो [illegible] ा के
लिए देखिए हिन्दी-अभिनवभारती, भूमिका, पृष्ठ ८-९)।

इस प्रकार अब उपलब्ध दोनो सस्करणों मे ३६ अध्याय हैं, कुल ६००० श्लोक है, जिनमें आनुवश्य श्लोक — अर्थात् वे श्लोक — भी सम्मिलित हैं जिनकी रचना भरत से पूर्व हुई थी, और भरत ने अपनी अनेक कारिकाओं की पुष्टि के लिए उन्हें उद्धृत किया था। नाट्यशास्त्र में अधिकतर अनुष्टुप् छन्द का प्रयोग है, कहीं-कहीं आर्या छन्द भी प्रयुक्त हुआ है। नाट्यशास्त्र के तीन रूप माने जाते हैं—सूत्र, भाष्य और कारिका। इस सम्बन्ध मे प० बलदेव उपाध्याय का कहना है—"ऐसा जान पडता है कि मूल ग्रन्थ सूत्रात्मक था जिसका रूप छठे और ७वें अध्याय में आज भी देखने को मिलता है। तदनन्तर भाष्य की रचना हुई जिसमें भरत के सूत्रो का अभिप्राय उदाहरण देकर स्पष्ट समझाया गया है। तीसरा तथा अन्तिम स्तर कारिकाओं का है जिनमे नाटकीय विषयों का बडा ही विपुल तथा विस्तृत विवरण प्रस्तुत किया गया है।[1]

[४]

नाट्यशास्त्र के रचनाकाल के सम्बन्ध में विभिन्न विद्वान् किसी एक मत पर तो नही पहुंच सके, पर इस सम्बन्ध में उनके गवेषणात्मक तथ्य निस्सन्देह सराहनीय हैं। प्रो० मेक्डोनल्ड इसे ई० सन् की छठी शती मानते हैं। म० म० श्री हरिप्रसाद शास्त्री इसे दो शताब्दी ईसा-पूर्व बताते हैं। श्री एस० के० दे इस ग्रन्थ का वर्तमान रूप आठवीं शती के लगभग मानते हैं। श्री पी० वी० काणे इसकी अन्तिम सीमा महाकवि कालिदास के समय पर निर्भर बतलाते हैं, और पूर्व सीमा ई० सन् के आरम्भ से अधिक प्राचीन नही मानते। सेठ कन्हैयालाल पोद्दार के शब्दों में, "वैदिक काल के बाद और पौराणिक काल के पूर्व नाट्यशास्त्र का अज्ञात समय है।" किन्तु प० बलदेव उपाध्याय का तो यहा तक कहना है कि "नाट्यशास्त्र एक ही काल की रचना नही है, प्रत्युत अनेक शताब्दियों के दीर्घ साहित्यिक प्रयास का सुन्दर फल है।" वस्तुत, इस सम्बन्ध में किसी एक निष्कर्ष पर पहुच सकना अत्यन्त दुरुह है। सामान्यत, इसका रचना-काल दूसरी-तीसरी ई० पूर्व और दूसरी-तीसरी ईस्वी के बीच कहीं माना जाता है।

[५]

नाट्यशास्त्र में निम्नलिखित विषयों का प्रतिपादन किया गया है—

(१) नाट्योत्पत्ति (अ० १),

(२) नाट्य-मडप (नाट्यशाला) : तीन प्रकार, तथा शिल्प, आकार और साधन (अ० २)। रग-देवता का पूजन-प्रकार, नान्दी आदि पूर्वरग-विधान (अ० ३-५)। रगमच के विविध भाग - वन, पर्वत, नदी, नगर, आश्रम आदि दृश्य-विधान (अ० १३),

(३) अभिनय के चार प्रकार तथा उपागाभिनय : हाथ, पैर, जघा, कटि, उदर, आदि, का अभिनय (अ० ८), चारी अर्थात् एक-पाद-प्रचार तथा मडलचारियों का सयोग (अ० १०-११),

१ भारतीय साहित्यशास्त्र, भाग १, पृष्ठ २७, प्रथम सस्करण

गति-प्रचार (रंगभूमि-प्रवेशविधि आदि (अ० १२), वाचिक अभिनय (अ० १४-१६), आहार्य अभिनय (अ० २१), सामान्य अभिनय तथा हाव, भाव, हेला आदि (अ० २, चित्राभिनय (अ० २५), विकृताकाराभिनय, अर्थात् एक से अधिक मुख, हाथ, पैर वाले प्राणियों का अभिनय आदि (अ० २६), अभिनय की सिद्धियां और उनमें आने वाले विघ्न और उनका निराकरण (अ० २७),

(४) दशरूपक, नाट्यसन्धि, अवस्थाएं, भारती, सात्वती, कैशिकी और आरभटी नामक वृत्तियां (अ० १८-२२), दाक्षिणात्या, अवन्ती, औड्रमागधी और पांचाली नामक प्रवृत्तियां (अ० १३), लोकधर्मी तथा नाट्यधर्मी दो नाट्यविधाएं (अ० १४),

(५) सूत्रधार, पारिपार्श्विक, विदूषक आदि (अ० ३५),

(६) रस, भाव (अ० ६-७),

(७) काव्य के गुण, दोष, अलंकार और लक्षण (अ० १६),

(८) नायक-नायिका-भेद, वेश्या और वैशिक, उत्तम, मध्यम और अधम—तीन प्रकार की प्रकृति के पात्र, तथा स्त्री-पुरुष पात्रों की प्रकृति (अ० २२-२४ तथा ३४),

(९) छन्दोविधान (अ० १५-१६),

(१०) प्राकृत आदि भाषाओं का वर्णन, देश-भेद से भाषा के विभिन्न भेद, तथा इन भाषा-भेदों का पात्रानुकूल प्रयोग (अ० १७),

(११) संगीतशास्त्र एवं वाद्ययन्त्र (अ० २८-३३),

(१२) नाट्य का अवतरण भूतल पर कैसे ?—इस सम्बन्ध में मुनिगण का भरत से प्रश्न और उनका दो कथाओं के माध्यम से उत्तर (अ० ३६) ।

उपर्युक्त संक्षिप्त विषय-सूची के आधार पर कह सकते हैं कि इस ग्रन्थ में नाट्यशास्त्रीय सामग्री के अतिरिक्त काव्यशास्त्रीय सामग्री तो है ही, साथ ही इससे सम्बद्ध नृत्यकला, कामशास्त्र, छन्दःशास्त्र, भाषाशास्त्र आदि अन्य अनेक विषयों पर भी पर्याप्त एवं बहुविध सामग्री प्रस्तुत की गयी है। इसी आशय का नाट्यशास्त्र से ही निम्नोक्त श्लोक द्रष्टव्य है—

न तज्ज्ञानं न तच्छिल्पं न सा विद्या न सा कला।

न स योगो न तत्कर्म यन्नाट्येऽस्मिन्न दृश्यते ॥ ना० शा० १।११६ ॥

नाट्य, अभिनव एवं रंगशाला-विषयक कुछ स्थल—

—नाट्य में पाठ्य (कथानक) ऋग्वेद से लिया गया, संगीत सामवेद से, अभिनय यजुर्वेद [के यज्ञ-यागादि के संवादों एवं क्रिया-कलापों] से, और रस अथर्ववेद से (१।१७)। ब्रह्मा ने स्वाति नामक वाद्यकार को शिष्यों सहित (नाट्य में वाद्य देने के लिए) नियुक्त किया, और नारद तथा अन्य गन्धर्वों ने गीत-तत्त्व का सम्पादन किया (१।५०-५१)।

—नाट्य विभिन्न भावों और [दैहिक एव] मानसिक स्थितियों से युक्त होता है तथा इसमें लौकिक घटनाओं का ही अनुकरण रहता है (१.११२) । विभिन्न प्रकार के शील तथा प्रवृति से युक्त चरित्रों पर आधारित नाटक के सम्बन्ध में अन्तिम प्रमाण लोक को ही मानना चाहिए (२६.१२६)।

—प्रेक्षागृह तीन प्रकार की आकृति वाले होते हैं— विकृष्ट, चतुरस्र और त्र्यस्र अर्थात् आयताकार, वर्गाकृति और त्रिभुजाकृति (२.१४)। नाट्यशाला के लिए ऐसे स्तम्भों का निर्माण करना चाहिए जिसके दो पृथक् भाग हों। नाट्यशाला पर्वतगुहा के आकार की होनी चाहिए। दीवारों पर चित्र होने चाहिए। दर्शकों के बैठने के लिए आसन काष्ठ अथवा ईंटों के बनाने चाहिए (अ० २)।

—नाट्यमण्डप में वाद्यों के लिए उचित स्थान होना चाहिए। गृह, उपवन, वन, स्थल, जल आदि को दर्शाने का स्थान निर्णीत कर लेना चाहिए (अ० १४)।

—आकाश, रात्रि, सायकाल, अन्धकार, उष्णता आदि को प्रदर्शित करने के विभिन्न प्रकार 'चित्राभिनय' के अन्तर्गत आते हैं (अ० २६)।

—एक अक में घडी, मुहूर्त, प्रहर अथवा अधिक से अधिक एक दिन से अधिक की घटना का चित्रण नहीं होना चाहिए। एक मास अथवा एक वर्ष में घटने वाली घटनाओं के चित्रण के लिए नवीन अक की योजना करनी चाहिए।

—अग-रचना मे तात्पर्य है— राजा, धनिक, किरात, आन्ध्र, शक, यवन, शूद्र का वर्ण प्रकट करने के लिए शरीर को रगना, मूछ तथा दाढी की बनावट, आदि (अ० २३)।

—बौद्धिक चेष्टाए पहले मुख पर प्रकट होती हैं, और फिर हाथ से व्यक्त होती हैं। हाथ की प्रारम्भिक स्थितिया तीन हैं—सकीर्णता से बन्द, पूर्ण मुक्त तथा साधारण। फिर ये स्थितिया बहुविध रूप में भावों को अभिव्यक्त करती हैं। हाथ के अतिरिक्त पात्र उरस्थल, पार्श्वभाग, जठर, कटि, उरुस्थल, जघाओं, पादों आदि की विभिन्न चेष्टाओं द्वारा भी अपने हर्षोल्लास एवं पीडा-वेदना को प्रकट करते हैं। पैर पटक कर मानसिक क्रान्ति या आवेग की स्थिति द्योतित की जाती है। क्रोध की स्थिति में हम घुटने पीटते हैं और अत्यधिक क्रोध में नितम्बों को पीटा जाता है (अ० ९-१०)।

—प्रेम की साधारण स्थिति में ललित चाल से चलना चाहिए और अन्य अंग सौष्ठव स्थिति में होने चाहिए। करुण रस की अवतरणा में गति में लय बहुत धीमी होती है। बीभत्स रस में पैर ऊपर नीचे—कभी निकट, कभी दूर—शीघ्रता से गिरते हैं और हाथ उन्हीं का अनुसरण करते हैं (अ० १३)।

—नदी के अन्दर प्रवेश करने के अभिनय में जल की गहराई का विशेष ध्यान रखा जाता है। कम जल दिखाना अभीष्ट हो तो केवल पावों के पास के वस्त्रों को ऊपर उठा दिया

जाता है और गहरे जल का अभिनय आगे की ओर कुछ झुककर हाथो को बाहर की ओर फेंककर किया जाता है।

—देवताओं को प्रणाम करने में अजलि सिर पर रहती है, गुरुजनों को प्रणाम करने में मुख के समीप, मित्रों (समवयस्को) को प्रणाम करने में वक्ष पर स्थित रहती है।

चिन्तन की स्थिति में पात्र को अपने एक पैर को किंचित् फैलाना होता है, और दूसरे पैर को आसन पर स्थिर रखा जाता है, साथ ही, सिर एक ओर झुका होता है। शोक की स्थिति मे पात्र अपने हाथों से चिबुक को आश्रय देता है और उसका सिर कन्धे पर टिकता है। मन्त्रोच्चारण आदि करने में कूबड उठाकर बैठा जाता है और नितम्ब तथा एडिया निकट आ जाती हैं। रंगमच पर अस्त्र शस्त्र तथा कवच के प्रयोग में पात्र तथा पात्रियों के कद का ध्यान रखना चाहिए। अस्त्र-शस्त्र भारी धातु मे न बनाये जाकर घास, बास, लाख, चमडा, कपडा तथा मिट्टी से बनाये जाने चाहिए। घाव होने या चोट लगने का अभिनय चेष्टा द्वारा व्यक्त करना चाहिए। आयुध का प्रयोग आक्रमण की चेष्टा को व्यक्त करने के लिए तो होना चाहिए, पर उससे चोट नहीं लगनी चाहिए।

—नारी-पात्रो की केशरचना के सम्बन्ध मे भरत लिखते है कि अवन्ती की नारी के केश कुन्तल होते है और गौडी के भी प्राय कुन्तल ही, तथा इनकी वेणी शिखापक्ष के सहित होती है। आभीर स्त्रियो की दो वेणिया होती हैं जिसे आकाश के समान नीले वस्त्र से ढपा रखा जाता है। पूर्वोत्तर की स्त्रियो का शिखा-पक्ष ऊपर उठा रहता है, और वस्त्र-सज्जा सिर तक आच्छादित रहती है। दक्षिण की नारियों के मस्तक पर आवर्त रहता है, आदि (अ० २३)।

—दिव्य और पार्थिव नर नारियो के देश, जाति और आयु के अनुकूल ही प्रतिशिर (masks), मुकुट, शिखण्ड, जटा-जूट, पिगल बाल, दाढी-मूछ आदि का प्रयोग करना चाहिए।[१]
वाचिक अभिनय रस को दृष्टि में रखकर करना चाहिए। उदाहरणार्थ—

—शृगार रस में कोमल वृत्तों में रचना की जानी है।

—भयानक, वीर तथा अद्भुत रस की नाट्यरचना अधिकतर लघु मात्राओं से युक्त होनी चाहिए, और रूपक तथा उपमा का प्रयोग होना अपेक्षित है।

—करुण तथा बीभत्स रसों की रचना भी उक्त रूप मे होनी चाहिए, केवल अन्तर यह है कि गुरु मात्राओं का प्रयोग विशेष रूप से करना चाहिए।

—करुण में शक्वरि तथा अतिधृति छन्द अपेक्षित रहते हैं।

---

१ विशेष विवरण के लिए देखिए 'नाटककला', (डॉ० रघुवश) ११-१४ अध्याय।

—वीर तथा भयानक रस में आर्या छन्द, रूपक तथा दीपक अलकार का प्रयोग होना चाहिए। इन दोनो रसों मे ध्वनियों का अनुक्रम महत्त्व का होता है। अत इनमे जगती, अतिजगती, शर्करी छन्दों का प्रयोग अपेक्षित माना गया है। युद्ध के कोलाहल-वर्णन के लिए उत्कृति छन्द का प्रयोग करना चाहिए। (अ० १८)

[६]

नाट्यशास्त्र मे प्रतिपादित काव्यशास्त्र-विषयक स्थलो का अनेक दृष्टियों से आज भी महत्व बना हुआ है। कुछ स्थल प्रस्तुत हैं—

१ निम्नोक्त कारिका मे काव्य-प्रयोजनो का उल्लेख किया गया है— नाट्य (काव्य) धर्म, यश और आयु का साधक, हितकारक, बुद्धि का वर्धक तथा लोकोपदेशक होता है—

धर्म्यं यशस्यमायुष्य हित बुद्धिविवर्द्धनम्।

लोकोपदेशजनन नाट्यमेतद् भविष्यति॥ ना० शा० १११५

स्पष्टत, यही कारिका ही आगे चलकर भामह-प्रस्तुत काव्य-प्रयोजनों का प्रकारान्तर मे प्रेरणा-स्रोत बनी—

धर्मार्थकाममोक्षेषु वैचक्षण्यं कलासु च।

करोति कीर्तिं प्रीतिं च साधुकाव्यनिबन्धनम्॥ का० अ० १ २

२ रस नाटक का अनिवार्य तत्त्व है। इस दृष्टि से भरत मुनि के लिए अपने ग्रथ नाट्यशास्त्र में रस-विषयक चर्चा का समावेश करना नितान्त अनिवार्य था। यही कारण है कि इसमे रस-सम्बन्धी पर्याप्त एव बहुविध सामग्री का सकलन किया गया है।

जनश्रुति के आधार पर नन्दिकेश्वर को रस के प्रवर्तक होने का श्रेय दिया गया है, और भरत को नाट्यशास्त्र के।[1] पर फिर भी, भरत का रस के प्रति समादरभाव कुछ कम नही है। उक्त ग्रथ के 'रसविकल्प' और 'भावव्यजक' नामक छठे और सातवें अध्यायों मे उन्होंने रस और भाव का स्वरूप तथा इनके पारस्परिक सम्बन्ध का निर्देश किया है, आठों रसों का परिचय देते हुए उन्होंने प्रत्येक रस के स्थायिभाव, अनुभाव, व्यभिचारिभाव और सात्त्विक भावों का नामोल्लेख किया है, रसो के वर्णों और देवताओ से अवगत कराया है, तथा रसों के भेदों की चर्चा की है।

इस ग्रन्थ मे रस-विषयक सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण स्थल है निम्नोक्त सूत्र— **'विभावानुभावव्यभिचारिसयोगाद् रसनिष्पत्ति'**। इस कथन को स्पष्ट करते हुए दो मन्तव्य प्रस्तुत किये गये हैं—

---

१. रूपकनिरूपणीय भरत, रसाधिकारिक नन्दिकेश्वर। (का० मी० १म अ०१ पृष्ठ ४)

(क) यथा हि नाना व्यञ्जनौषधिद्रव्यसंयोगाद् रसनिष्पत्तिर्भवति, यथा हि गुडादिभिर्द्रव्यैर्व्यञ्जनैरोषधिभिश्च षाडवादयो रसा निर्वर्त्यन्ते, तथा नानाभावोपगता अपि स्थायिनो भावा रसत्वमाप्नुवन्ति।

(ख) अत्राह — रस इति कः पदार्थः। उच्यते। आस्वाद्यत्वात्। कथमास्वाद्यते रसः। यथा हि नानाव्यञ्जनसंस्कृतमन्नं भुञ्जाना रसानास्वादयन्ति सुमनसः पुरुषा हर्षादींश्चाधिगच्छन्ति तथा भावाभिनय-व्यञ्जितान् वागङ्गसत्त्वोपेतान् स्थायिभावानास्वादयन्ति सुमनसः प्रेक्षकाः हर्षादींश्चाधिगच्छन्ति। तस्मान्नाट्यरसा इत्यभिव्याख्याताः।— (नाट्यशास्त्र, पृष्ठ ७१)

(क) जिस प्रकार नाना प्रकार के व्यजनों, औषधों, द्रव्यों के संयोग से रस (भोज्य रस) की निष्पत्ति (निर्मिति) होती है, और जिस प्रकार गुडादि द्रव्यों, व्यजनों और औषधों से षाडव आदि रस होते है, (अर्थात् मधुर, लवण आदि छह प्रकार के रसों में किन्ही दो या दो से अधिक रसों के मिश्रण से कोई भोज्य अथवा पेय रस तैयार हो जाते हैं,)[1] उसी प्रकार नाना भावों से युक्त स्थायिभाव भी रसत्व को प्राप्त होते हैं।

(ख) प्रश्न किया जाता है 'रस' यह कौन-सा पदार्थ है ? (अर्थात् रस को 'रस' क्यो कहते हैं ?) (इसके उत्तर में) कहा जाता है—'आस्वाद्यत्व' होने के कारण। रस किस प्रकार आस्वादित किया जाता है ? जैसे नाना व्यजनों से युक्त अन्न का उपभोग करने वाले सुरुचिपूर्ण अथवा प्रसन्नचित्त व्यक्ति रसों का आस्वाद प्राप्त करते हैं, तथा हर्ष आदि[2] (हर्ष, आनन्द, उल्लास, विस्मय, कुतूहल आदि) को प्राप्त करते हैं, वैसे ही सुरुचिपूर्ण एवं प्रसन्नचित्त प्रेक्षक उन स्थायिभावों का आस्वादन करते हैं, तथा हर्ष (आनन्द, उल्लास) आदि को प्राप्त करते हैं जो नाना भावों तथा अभिनयों द्वारा व्यजित होते हैं, तथा वाचिक, आंगिक तथा सात्विक [अनुभावों] से युक्त होते है। इसीलिए ये [नाटक के माध्यम से प्राप्त होने के कारण] 'नाट्य-रस' कहाते हैं।

---

१ अभिनवगुप्त का 'षाडव' से अभिप्राय है—षाडवादय इति लोक-प्रसिद्धेभ्य परस्परविविक्तेभ्यो मधुरतिक्ताम्ललवणकटुकषायेभ्यो मिश्रेभ्यश्च विलक्षण षाडवशब्दवाच्यः। (हिन्दी अभिनवभारती, पृष्ठ ४९५) अर्थात् मधुर आदि (रसों) के मिश्रण से विलक्षण कोई भी पेय अथवा भोज्य रस, न कि 'षाडव' नामक कोई एक विशिष्ट भोज्य रस। हमारे विचार में यदि चाहें तो 'षाडवादि' शब्द से अभिप्राय छहों रसों का मिश्रण तो ले सकते है, छहो रसों में से किन्ही दो से पाच तक रसों का मिश्रण भी ले सकते हैं।

२ यहा 'आदि' शब्द से अभिप्राय आनन्द, विस्मय आदि लेना चाहिए, न कि कोई कटु अनुभूति— ''अन्ये तु शब्देन शोकादीनामत्र संग्रह। स च न युक्त। सामाजिकानां हि हर्षैकफलं नाट्यं, न शोकादिफलम्। (हिन्दी अभिनवभारती, पृ० ५००)

उक्त पाठ के आधार पर रस को 'आस्वाद' माना जाए अथवा 'आस्वाद्य'—इस सम्बन्ध में वस्तुत दोनों ही मान्यताए अपनी-अपनी दृष्टि से सटीक एव स्वीकार्य प्रतीत होती है, और इसका एक मात्र कारण है नाट्यशास्त्र के उपर्युक्त पाठ में विराम-चिह्नों का नियत न होना।

रस-विषयक दूसरा महत्त्वपूर्ण प्रसग है—रस-निष्पत्ति का, जो कि भरत के बाद अनेक आचार्यों द्वारा शताब्दियों पर्यन्त भरत-सम्मत उक्त सूत्र और उसपर वृत्ति के ही आलोक में विवेचित, आलोचित एव प्रत्यालोचित होता रहा। इनमें से प्रमुख आचार्य हैं—भट्ट लोल्लट, श्री शकुक, भट्ट नायक और अभिनव- गुप्त। इनमें से अभिनवगुप्त की नाट्यशास्त्र पर 'अभिनवभारती' नामक टीका उपलब्ध है, और इसी में ही अभिनवगुप्त सहित उक्त चारों आचार्यों के अतिरिक्त निम्नोक्त आचार्यों के भी मन्तव्य उद्धृत हैं— उद्भट, कीर्तिधर, राहुल, भट्टयन्त्र और वार्तिककार (अथवा 'हर्षवार्तिक' का कर्त्ता—कोई हर्ष अथवा हर्षदेव)। इन नौ व्याख्याताओ के अतिरिक्त किन्ही मातृगुप्त का नाम भी व्याख्याताओं में लिया जाता है। अस्तु। रसनिष्पत्ति के सम्बन्ध मे भट्टलोल्लट का सिद्धान्त 'उत्पत्तिवाद', श्री शकुक का 'अनुमितिवाद', भट्टनायक का 'मुक्तिवाद' और अभिनवगुप्त का 'अभिव्यक्तिवाद' कहाता है।

रस के सम्बन्ध में भरत-प्रस्तुत अन्य विशिष्ट स्थल निम्नोक्त हैं—

मूल रस—भरत ने मूल रूप में चार रस माने हैं—शृगार, रौद्र, वीर और बीभत्स। फिर इनसे क्रमश हास्य, करुण, अद्भुत और भयानक रसों की उत्पत्ति मानी है (६ ३२)। शृगार और हास्य, वीर और अद्भुत तथा बीभत्स और भयानक रस-युग्म का पारस्परिक कारणकार्यभाव होने के कारण उत्पाद्योत्पादक-सम्बन्ध स्वत सिद्ध है। रौद्र और करुण में भी यह सम्बन्ध मन स्थिति के आधार पर परिपुष्ट है— सबल पक्ष का निर्बल पक्ष पर अकारण और निर्दयतापूर्ण क्रोध सामाजिक के हृदय मे करुणा की ही उत्पत्ति कर देता है। उल्लेख्य है कि भरत की दृष्टि में शृंगार रस सर्वोत्कृष्ट रस है।[1]

रसों के विभिन्न भेद—इस प्रकरण मे भरत ने रसो के विभिन्न भेदों का भी उल्लेख किया है। आगे चलकर इनमें से कुछ तो प्रचलित रहे और कुछ अप्रचलित हो गये—

(क) प्रचलित भेद—शृंगार के सम्भोग और विप्रलम्भ दो भेद। हास्य के (उत्तम, मध्यम और अधम कोटि के व्यक्तियों के प्रयोगानुसार) स्मित, विहसितादि छ. भेद;, तथा वीर के दानवीर, धर्मवीर और युद्धवीर—ये तीन भेद।

(ख) अप्रचलित भेद—शृगार के वाङ्-नेपथ्य-क्रियात्मक—तीन भेद।

हास्य के आत्मस्थ और परस्थ—दो भेद।

हास्य और रौद्र के अग-नेपथ्य-वाक्यात्मक—तीन-तीन भेद।

---

१ देखिए (क) रस-सिद्धान्त : डॉ० नगेन्द्र (पृष्ठ ७९-८४),
(ख) भारतीय काव्यशास्त्र : डॉ० सत्यदेव चौधरी (पृष्ठ १७४-१८४)

यत्किचिल्लोके शुचि मेध्य दर्शनीय वा तच्छृंगारेणानुमीयते। ना० शा० ६.४५ (वृत्ति)

करुण के धर्मोपघातज, अपचयोद्भव और शोककृत—तीन भेद।

भयानक के स्वभावज, सत्त्वसमुत्थ और कृतक—तीन भेद, तथा व्याज- अपराध-त्रास गत अन्य तीन भेद।

बीभत्स के क्षोभज, शुद्ध और उद्वेगी—तीन भेद।

अद्भुत के दिव्य और आनन्दज—दो भेद (६.४८ वृत्ति, ६.७७-८३)।

भाव—भरत ने रस-प्रकरण में भावों की संख्या ४९ गिनाई है—८ स्थायिभाव, ३३ व्यभिचारिभाव और ८ सात्त्विक भाव (७.६ वृत्ति)। आठ स्थायिभावों के अनुकूल रसों की संख्या भी इनके मत में आठ है।[१] स्थायिभाव ही अन्य शेष ४१ भावों से युक्त होकर रसत्व को प्राप्त करता है, अतः स्थायिभाव और अन्य भावों में वैसा ही पारिस्परिक (मुख्य-गौण) सम्बन्ध है, जैसा राजा और उसके सहचरों में होता है (७.७ वृत्ति)।

उल्लेख्य कि भरत ने स्थायिभावों और व्यभिचारिभावों के साथ स्तम्भ, स्वेद, वेपथु आदि सात्त्विक भावों को भी 'भाव' नाम से अभिहित किया, पर सात्त्विक भावों को 'भाव' की संज्ञा देना युक्तिसंगत नहीं है। वस्तुतः मानसिक आवेग ही काव्यशास्त्र में 'भाव' कहलाते हैं। सात्त्विक भावों के आधार निस्सन्देह विभिन्न मानसिक आवेग हैं, पर उन आवेगों की प्रतिक्रिया-स्वरूप ये स्वयं स्थूल रूप में प्रकट होते हैं। अतः, जैसाकि आगामी आचार्यों के विवेचन से स्पष्ट है, इन्हें 'अनुभाव' की संज्ञा मिलनी चाहिए, न कि 'भाव' की। स्वयं भरत ने भाव की परिभाषा में सात्त्विक भाव को सत्त्व अभिनय (अनुभाव) कहा है, और कवि के मानसिक आवेगों को ही 'भाव' नाम से पुकारा है—

वागङ्गमुखरागैश्च सत्त्वेनाभिनयेन च।
कवेरन्तर्गतं भावं भावयन् भाव उच्यते॥
विभावेनाहृतो योऽर्थस्त्वनुभावेन गम्यते।
वागङ्गसत्त्वाभिनयैः स भाव इति संज्ञितः॥ ना॰ शा॰ ७.२.१

भरत के कथनानुसार भाव का व्युत्पत्तिपरक अर्थ है—'भावयन्तीति भावाः। किं भावयन्ति? उच्यते—वागङ्गसत्त्वोपेतान् काव्यार्थान् भावयन्तीति भावाः'[२]—वाचिक, आंगिक तथा सात्त्विक अभिनयों के द्वारा जो [सामाजिक के हृदय में कवि-हृदय निहित] काव्यार्थों का भावन (अवगमन) कराते हैं, वे भाव कहाते हैं। सात्त्विक भावों को 'वागंगाभिनयों' की पंक्ति में सम्मिलित करना निश्चय ही इस तथ्य का पोषक है कि ये अन्तर्गत भावों के प्रदर्शक हैं, पर स्वयं भाव नहीं हैं।

१ ना॰ शा॰ (नि॰ सा॰ प्रे॰) ६.१५-१७ में नवम रस शान्त रस का उल्लेख मिलता है। यह स्थल प्रक्षिप्त है अथवा नहीं—यह हमारा विवेच्य नहीं है।

२ ना॰ शा॰ ७म अध्याय का आरम्भ।

यहां स्वभावतः एक अन्य प्रश्न उठता है, भाव और रस का पारस्परिक सम्बन्ध क्या है? भरत के अनुसार इनमें एक दूसरे के प्रति कारण-कार्य-सम्बन्ध है, भावों से विभिन्न रसों की अभिनिर्वृत्ति (उत्पत्ति) होती है। रस की यह अभिनिर्वृत्ति स्वतः नहीं हो जाती—इसके लिए भावों को अभिनय का आश्रय लेना पड़ता है और तभी हम कह सकते हैं कि अब कोई भी भाव ऐसा नहीं है, जिसमें रस नहीं है, और कोई भी ऐसा रस नहीं है जिसमें भाव नहीं है।[1]

भरत के उक्त अभिमत का निष्कर्ष यह है—

(१) स्थायिभाव व्यभिचारिभाव और सात्त्विक भाव—ये सभी भाव कहाते हैं।

(२) इनमें से स्थायिभाव [अपने सहायक व्यभिचारिभावों के साथ] रसावस्था को तभी पहुंचते हैं जब इन्हें आंगिक, वाचिक और सात्त्विक अभिनयों का आश्रय मिलता है।

(३) भावों (स्थायिभावों और व्यभिचारिभावों) और रसों में क्रमशः कारण-कार्य सम्बन्ध है, और यह सम्बन्ध अन्योन्याश्रित है।

इसी प्रसंग में यह भी उल्लेख्य है कि 'विभावानुभावव्यभिचारिसंयोगाद् रसनिष्पत्तिः' इस सूत्र में यद्यपि 'स्थायिभाव' शब्द का प्रयोग नहीं किया गया, तथापि जैसा कि भरत की व्याख्या से स्पष्ट है उन्हें अभीष्ट यही है कि स्थायिभाव ही उक्त विभावादि के द्वारा रसत्व को प्राप्त होते हैं— ... एवं नानाभावोपहिता अपि स्थायिनो भावा रसत्वमाप्नुवन्ति। (नाट्यशास्त्र, पृष्ठ ७१)

३. शृंगार रस से सम्बद्ध प्रमुख विषय है—आलम्बन विभाव के प्रकरण के अन्तर्गत नायक-नायिका-भेद-प्रसंग। इस विषय में नाट्यशास्त्र के २४वें और ३४वें अध्यायों में पर्याप्त सीमा तक सामग्री उपलब्ध हो जाती है जो कि परवर्ती काव्यशास्त्रीय ग्रन्थों के लिए निःसन्देह आधारभूत रही है।

इस ग्रन्थ में नायक के बहुविध भेद निम्नोक्त चार आधारों पर निर्दिष्ट किये गये हैं—(१) प्रकृति के आधार पर तीन, (२) शील के आधार पर चार, (३) रति-सम्बन्धी व्यवहार के आधार पर पांच, तथा (४) सम्बोधन के आधार पर सात और सात (चौदह)।

नायिका के बहुविध भेदों के निम्नोक्त आठ आधार हैं—(१) जाति-शील के आधार पर इक्कीस, (२,३) सामाजिक व्यवहार और प्रेम के आधार पर तीन-तीन, (४) अवस्थानुसार आठ, (५,६,७) प्रकृति, यौवन-लीला और गुण के आधार पर चार-चार, (८) अन्तःपुरीय आधार पर सत्रह।

१ न भावहीनोऽस्ति रसो न भावो रसवर्जितः।
परस्परकृता सिद्धिस्तयोरभिनये भवेत्॥ —ना० शा० ६.३६

इसके अतिरिक्त इस ग्रन्थ में दूती के ग्यारह भेद और नायक-सखा के तीन भेद भी निर्दिष्ट किये गये हैं।

४ इस ग्रन्थ के १६ वे अध्याय मे केवल निम्नोक्त चार अलकारो का उल्लेख है—उपमा, दीपक, रूपक और यमक। इन चारो अलकारों के लक्षण प्रस्तुत करते हुए उपमा और यमक के अवान्तर रूपो की चर्चा की गयी है। उपमा के निम्नोक्त पाच भेद वस्तुत उपमा के पाच प्रकार के प्रयोग का सकेत करते है—प्रशसा, निन्दा, कल्पिता, सदृशी और किचित्सदृशी।

अलकारो के अतिरिक्त १६वे अध्याय में ३६ लक्षणों की भी चर्चा है। इनमें से कुछ लक्षण कालान्तर मे अलकारो के क्षेत्र मे स्थान पा गये, जैसे— हेतु, सशय, दृष्टान्त, निदर्शन, अर्थापत्ति, लेश, प्रेयस् आदि।

५ ग्रन्थ के १७वे अध्याय मे १० दोषों और १० गुणों का प्रतिपादन है। दस दोषो के नाम है— अगूढ, अर्थान्तर, अर्थहीन, भिन्नार्थ, एकार्थ, अभिप्लुतार्थ, विषम, विसन्धि और शब्दच्युत। दोष के प्रति भरत का दृष्टिकोण उदार एव क्षमापूर्ण है—'दोष के सम्बन्ध मे [किसी आलोचक को] अधिक सवेदनशील नहीं हो जाना चाहिए, क्योंकि ससार का कोई भी पदार्थ गुण हीन अथवा दोष-हीन नही है'—

न च किचिन् गुणहीन दोषै परिवर्जित न वा किचित्।

तस्मान्नाट्यप्रकृतौ दोषा नात्यर्थतो ग्राह्या ॥

— *ना० शा० १७ ४७*

फिर भी, उन्होने दोषों की 'रस-सश्रयता' के प्रसग मे 'चेक्रीडित' आदि क्लिष्ट पदों के प्रयोग को निषिद्ध घोषित किया (ना० शा० १७।२२)।

दसों दोषों का स्वरूप-निर्देश करने के बाद कहा गया है कि 'गुण दोषो से विपर्यस्त' होते हैं, और फिर निम्नोक्त दस गुण गिनाये गये है— श्लेष, प्रसाद, समता, समाधि, माधुर्य, ओज, सौकुमार्य, अर्थव्यक्ति, उदात्त (दार) और कान्त (कान्ति)। विपर्यस्त का तात्पर्य है—विपरीतभाव, अन्यथाभाव अथवा अभावात्मकता। किन्तु इन दसो गुणों के भरत-सम्मत लक्षणो से प्रतीत नही होता कि ये गुण क्रमश उक्त दसो दोषो के विपर्यस्त स्वरूप हैं। और, यदि उक्त कथन के आधार पर गुण और दोष का क्रमश यह लक्षण मान लिया जाए कि 'गुण दोष से विपर्यस्त होते है और दोष गुण से,' तो यह स्थिति भी मान्य नही है, क्योंकि गुण और दोष दोनों का निजी अस्तित्व है, अत उनका स्वरूप भी स्वतन्त्र ही है, अन्योन्याश्रित नही है। अस्तु।

आगे चलकर उक्त दसों गुणो के नाम तो दण्डी और वामन ने यही अपनाये है, पर उनके लक्षण नितान्त बदल गये है— दण्डि-प्रस्तुत गुण भरत के 'गुणो' से भिन्न है, और वामन के 'गुण' इन दोनों आचार्यों के 'गुणो' से भिन्न है। जो हो, भरत द्वारा प्रस्तुत गुण—यद्यपि आगे

चलकर अमान्य बने—पर अपने इन्ही नामो से ये दण्डि-प्रतिपादित वैदर्भ मार्ग के प्राण बने। वामन ने इन्हें शब्दगत और अर्थगत रूप देकर—बीस गुणों के माध्यम से—रीतिसिद्धान्त-रूपी 'सदन' निर्मित किया। किन्तु आनन्दवर्धन ने दस गुणों के स्थान पर केवल तीन गुण माने—माधुर्य, ओज और प्रसाद, जो कि क्रमश चित्तद्रुति, चित्तदीप्ति और चित्तव्याप्ति नामक तीन चित्तवृत्तियो के पर्याय रूप मे स्थिर हुए। आनन्दवर्धन ने वामन-सम्मत उक्त बीस गुणों का खण्डन नहीं किया था, यह कार्य मम्मट ने किया, और उन्होंने आनन्दवर्धन-सम्मत गुण को रस का नित्य धर्म तथा शब्दार्थ का गौण धर्म माना, और रीति को गुणों की वर्ण-व्यजकता पर आश्रित किया। इस प्रकार भरत के दसों गुण यद्यपि आगे चलकर धीरे-धीरे लुप्त होते चले गये, किन्तु यही 'गुण' नामक काव्यतत्त्व विभिन्न धारणाओं के रूप मे पनपता चला गया।

इतना ही नही, भरत ने—जैसा कि पीछे लिख आये है—अलकार, गुण और दोषो के साथ तथा वर्णयोजना और छन्द प्रयोग के साथ भी, 'रसाश्रयत्व' की चर्चा की, और उनकी इस धारणा का परिणाम यह हुआ कि आनन्दवर्धन, मम्मट आदि परवर्ती आचार्यों ने उन तीनों काव्यतत्त्वों तथा रीति का स्वरूप ही रस पर ही आधारित कर दिया।

[७]

इस प्रकार नाट्यशास्त्र अपने विषय का एक व्यापक एव विशद विश्वकोष है, जिसमे विषय से सम्बद्ध अनेक विधाओं एव ललित कलाओ की बहुविध तथा बहु-आयामी सामग्री सकलित है। यह ग्रन्थ परवर्ती नाट्य-सिद्धान्त-सम्बन्धी ग्रन्थों[१] का आधार तो है ही, साथ ही, इसका महत्त्व अनेक शताब्दियो के बाद आज भी अक्षुण्ण बना हुआ है, और उसका रचयिता भरत मुनि अद्यावधि अमर एवं अविस्मरणीय।

आधार-ग्रन्थ ·

(१) सस्कृत पोयटिक्स, (एस० के० दे०)

(२) हिस्ट्री आफ सस्कृत पोयटिक्स (पी० वी० काणे)

(३) भारतीय साहित्यशास्त्र, भाग १,२ (बलदेव उपाध्याय)

(४) सस्कृत साहित्य का इतिहास (सेठ कन्हैयालाल पोद्दार)

(५) हिन्दी अभिनवभारती (आचार्य विश्वेश्वर)

(६) नाट्यकला (डॉ० रघुवश)

---

१ दशरूपक, नाटकलक्षणरत्नकोष (सागरनन्दी), नाट्यदर्पण (रामचन्द्र-गुणचन्द्र), भावप्रकाशन (शारदातनय), रसार्णवसुधाकर (शिगभूपाल)।

८. रुद्रट और उनका ग्रन्थ 'काव्यालङ्कार'

संस्कृत के काव्यशास्त्रीय ग्रन्थों में आचार्य रुद्रट द्वारा प्रणीत काव्यालंकार[1] यद्यपि भरत, भामह, दण्डी, वामन, आनन्दवर्धन; कुन्तक, मम्मट, विश्वनाथ तथा जगन्नाथ के ग्रन्थों के समान अत्यन्त प्रख्यात नहीं है, किन्तु उधर ध्वनिपूर्ववर्ती आचार्यों और इधर ध्वनिप्रवर्तक आनन्दवर्द्धन के ग्रन्थों के बीच एक अनिवार्य कड़ी के रूप में विद्यमान यह ग्रन्थ अपना विशिष्ट महत्त्व रखता है, और इसी ग्रन्थ के माध्यम से रुद्रट भी भारतीय काव्यशास्त्र में अपना महत्त्वपूर्ण स्थान रखते हैं।

जीवन-वृत्त

रुद्रट के जीवन-वृत्त के सम्बन्ध में विशेष सामग्री उपलब्ध नहीं होती। उद्भट, मम्मट आदि कश्मीरी आचार्यों के नाम के अनुरूप रुद्रट नाम भी इस तथ्य की ओर संकेत करता है कि यह भी सम्भवतः कश्मीर-निवासी होंगे, किन्तु इस सम्बन्ध में निश्चयपूर्वक कुछ नहीं कहा जा सकता। प्रस्तुत ग्रन्थ के टीकाकार नमिसाधु ने पंचम अध्याय के 'चित्रकाव्य-प्रकरण' में यह संकेत किया है कि रुद्रट का एक अन्य नाम शतानन्द भी था। यह सामवेद-पाठी थे। उनके पिता का नाम भट्ट वामुक था।[2] इन्होंने अपने ग्रन्थ के प्रारम्भ में गणेश और गौरी की वन्दना की है और अन्त में भवानी, मुरारि और गणेश की।[3] इनमें गणेश और गौरी (भवानी) की स्तुति से यह अनुमान लगा लेना कदाचित् असंगत न होगा कि रुद्रट शैव थे। किन्तु फिर भी

---

१ इस लेख में काव्यालंकार के उद्धरण 'वासुदेव प्रकाशन दिल्ली' के संस्करण से लिये गये हैं।

२ शतानन्दापराख्येन भट्टवामुकसूनुना।
साधितं रुद्रटेनेदं सामाजा धीमतां हितम्॥ ५ ४८ (टिप्पण)

३ काव्यालंकार १ १; १६ ४२।
इसके अतिरिक्त इस ग्रन्थ के उदाहरण-भाग में भी अनेक देवताओं की स्तुति की गयी है। देखिए ५.६, ६,१२; ७.३६,३७

इन स्तुति-परक पद्यो के बल पर इस सम्बन्ध मे भी निश्चयपूर्वक कुछ नही कहा जा सकता।

किसी रचना मे अनुस्यूत विचारो के आधार पर यदि रचनाकार की प्रवृत्ति का अनुमान लगा लेने की प्रक्रिया को मनोवैज्ञानिक रूप से उचित एव यथार्थ समझा जाए तो इस दृष्टि से निम्नोक्त दो पद्यो को उद्धृत करना वाञ्छनीय रहेगा जो कि रुद्रट ने निषिद्ध प्रसगो को निर्देश करते हुए लिखे हैं। इनसे प्रतीत होता है कि रुद्रट कितने स्पष्टवादी थे—

दारिद्र्यव्याधिजराशीतोष्णाद्युद्भवानि दुःखानि।
बीभत्स च विदध्यादन्यत्र न भारताद्वर्षात्॥
वर्षेष्वन्येषु यतो मणिकनकमयी मही हित सुलभम्।
विगताधिव्याधिजराद्वन्द्वा सत्यायुषो लोका॥ १६.४०,४५

निस्सन्देह इन पद्यो मे रुद्रट की अपने युग के प्रति सजगता, तथा भावुकता से दूर हटकर अन्य कवियो के असमान भारत की वास्तविक दशा वर्णित करने करने की सचेतन जागरुकता लक्षित होती है। इन पद्यो से पूर्ववर्ती दो पद्यों (१६।३६,३८) को देखने से तो यह स्थिति और भी स्पष्ट हो जाती है कि 'मनुष्यो द्वारा कुलपर्वत, समुद्र, सप्तद्वीप आदि का लघन वर्णित नही करना चाहिए और देवताओ के पास विमान आदि होने का वर्णन भी किया जा सकता है।' इन चारो पद्यो से ऐसा प्रतीत होता है कि जैसे कोई दगम शती का व्यक्ति नही, अपितु आज का ही व्यक्ति प्राचीन प्रसिद्ध आख्यानो को केवल कथानक-मात्र समझता हुआ उन्हें उसी रूप मे ही वर्णित करने औरा भारत की अधुनातम अवस्था का चित्रण वास्तविक रूप मे ही करने क परामर्श दे रहा हो। अस्तु!

समय—रुद्रट का समय क्या था, इस सम्बन्ध मे पर्याप्त सामग्री प्रस्तुत की जा सकती है। रुद्रट ने इस ग्रन्थ मे ५ शब्दालंकारो और ५७ अर्थालकारो अर्थात् कुल ६२ अलकारो का निरूपण किया है। अर्थालकारों मे से चार अलकार दो-दो बार वर्णित हुए हैं। इन अलकारो को कम कर देने पर अर्थालकारो की सख्या ५३ रह जाती है। इन में से केवल २६ अलंकार ही ऐसे हैं, जो इन से पूर्ववर्ती आचार्यों—भरत, भामह, दण्डी, उद्भट, वामन द्वारा प्रस्तुत किये जा चुके थे। शेष २७ अलंकार सर्वप्रथम इन्ही के ग्रन्थ से ही उपलब्ध होते हैं। इनको आविष्कृति का श्रेय रुद्रट को दिया जाए,

या किसी अन्य अप्रख्यात आचार्यवर्ग को, इस सम्बन्ध मे निश्चयपूर्वक कुछ नही कहा जा सकता, किन्तु इससे यह तो स्पष्ट ही है कि रुद्रट उक्त पाचो आचार्यों के परवर्ती थे।

इसी तथ्य की पुष्टि 'वक्रोक्ति' नामक अलकार से भी होती है, जिसे रुद्रट ने सर्वप्रथम एक शब्दालकार के रूप मे प्रस्तुत करते हुए इसके दो भेद निर्दिष्ट किये[1]—श्लेषवक्रोक्ति, और काकुवक्रोक्ति, और जिसे आगे चलकर परवर्ती मम्मट एव विश्वनाथ जैसे मर्मज्ञ एव प्रख्यात आचार्यों ने इसी रूप मे ही अपना लिया।[2] उधर रुद्रट से पूर्ववर्ती आचार्यों ने भी वक्रोक्ति का उल्लेख किया था, किन्तु किसी एक विशिष्ट अलकार के रूप मे नही, अपितु एक सामान्य काव्यतत्त्व के रूप मे। भामह ने इसे अलकार (काव्यत्व) का एक सामान्य आधार स्वीकार किया[3] तो दण्डी ने इसे अलकार का—काव्यशोभाकर धर्म का[4]—पर्यायवाची माना।[5] इनके अतिरिक्त वामन ने वक्रोक्ति का सर्वप्रथम अर्थालकार के रूप मे प्रस्तुत किया।[6]

इन सबकी, विशेषत. भामह की, वक्रोक्ति-सम्बन्धी धारणा से प्रेरणा प्राप्त कर रुद्रट के परवर्ती आचार्य कुन्तक ने तो इसे व्यापक रूप प्रदान किया, किन्तु रुद्रट ने इसे एक शब्दालकार के रूप मे ही प्रस्तुत किया, और शायद इनके बाद इसी अलकार के ही उदाहरण-स्वरूप रत्नाकर ने 'वक्रोक्ति-पचाशिका' नामक एक काव्य-ग्रन्थ की रचना की। निष्कर्ष यह कि रुद्रट

---

१ काव्यालकार २. १४, १७

२. का० प्र० ९.७८ सा० द० १० ९
यहां यह उल्लेखनीय है कि राजशेखर ने रुद्रट-समस्त 'काकु-वक्रोक्ति' को स्वीकार नही किया (का० मी० ७म अध्याय)

३. (क) वक्राभिधेयशब्दोक्तिरिष्टा वाचामलकृति । का० अ० १.३६
(ख) वाचां वक्रार्थशब्दोक्तिरलकाराय कल्पते । वही, ५.६६
(ग) हेतुः सूक्ष्मोऽथ लेशश्च नालकारतया मतः ।
समुदायाभिधानस्य वक्रोक्त्यनभिधानत. ॥ वही, २ ८६

४. काव्यशोभाकरान् धर्मान् अलकारान् प्रचक्षते । का० अ० २.१

५ श्लेष सर्वासु पुष्णाति प्रायो वक्रोक्तिषु श्रियम् । का० आ० २.३६३

६. का० सू० वृ० ४.३ ८

'वक्रोक्ति' नामक काव्य-तत्त्व के आधार पर भी भामह, दण्डी एव वामन के परवर्ती ठहरते हैं, क्योकि रुद्रट से पूर्व 'वक्रोक्ति' अभी एक व्यापक एव सर्व-सामान्य काव्यतत्त्व की प्रतिपादिका थी। इसका सकुचित एव विशिष्ट रूप रुद्रट ने ही प्रस्तुत किया। अस्तु !

वामन को भामह दण्डी से परवर्ती माना जाता है। इनका समय ८वी शती का उत्तरार्द्ध स्वीकार किया गया है। जैसा कि हमने ऊपर देखा रुद्रट वामन से परवर्ती हैं, अतः रुद्रट का समय ८वी शती के बाद मानना चाहिए यह इनके समय की उच्चतम सीमा है। अर्थात्, इससे पहले इनके अस्तित्व का प्रश्न ही उपस्थित नही होता।

रुद्रट के समय-निर्धारण के प्रसग मे कतिपय अन्य तथ्य भी उल्लेख्य हैं—

शिशुपालवध के टीकाकार वल्लभदेव ने इस ग्रन्थ की टीका में यह सकेत किया है कि उन्होंने रुद्रट-प्रणीत एक अलकार-ग्रन्थ की टीका प्रस्तुत की है,[1] तथा हैल्श के अनुसार उक्त टीका मे उद्धृत अनेक पद्य (जिनके साथ किसी कवि अथवा आचार्य का नामोल्लेख नही किया गया) ऐसे हैं, जो वस्तुत रुद्रट के काव्यालकार से गृहीत हैं। इसके अतिरिक्त उद्भट-प्रणीत काव्यालकार के टीकाकार प्रतिहारेन्दुराज ने भी रुद्रट की कम-से-कम तीन कारिकाएँ एव उदाहरण उद्धृत किये हैं।[2] वल्लभदेव और प्रतिहारेन्दुराज दोनो का समय दशम शती का पूर्वार्द्ध माना जाता है, अतः रुद्रट के समय की यही निम्नतम सीमा स्वीकृत की जानी चाहिए, अर्थात् इसके बाद उनका जीवन-काल नही समझना चाहिए।

इस प्रकार उक्त दोनो सीमाओ—८वी शती का उत्तरार्द्ध और १०वी शती का पूर्वार्द्ध—को देखते हुए रुद्रट का समय नवम शती का मध्यभाग मानना चाहिए। किन्तु यही एक शका उत्पन्न होती है कि आनन्दवर्द्धन ने जो कि रुद्रट का समकालीन माना जाता है, न तो इनके किसी सिद्धान्त का

---

१. शिशुपालवध (काशी सस्कृत सीरीज, सन् १९२९) ४.२१; ६.२८ (टीका-भाग)

२. काव्यालकार ७।३५,३६; १२।४
का० सा० सं० (टीका—प्रतिहारेन्दुराज) पृष्ठ ४६,५७।

उल्लेख किया है और न उनके ग्रन्थ काव्यालंकार से कोई कारिका या उदाहरण प्रस्तुत किया है, इसका क्या कारण हो सकता है ? इसका एक तो सम्भव कारण यह है कि उन्होंने रुद्रट के इस ग्रन्थ को नहीं देखा होगा शायद उन्हें यह उपलब्ध ही न हुआ हो। दूसरा कारण यह कि उन्होंने इसे अपने ध्वनि-सिद्धान्त से किंचित् अलग-सा पाकर अथवा रुद्रट की कुछ-एक धारणाओं से असहमत होते हुए उसे उद्धृत करने की आवश्यकता न समझी हो। किन्तु दूसरा कारण मनस्तोषक प्रतीत नहीं होता, क्योंकि आनन्दवर्द्धन जैसा मर्मविद् एवं प्रबल आचार्य रुद्रट की विरोधी धारणाओं को उद्धृत करने के उपरान्त उनका खण्डन अवश्य करता, विशेषतः उस स्थिति में जबकि उन्होंने अनेक पूर्ववर्ती मान्यताओं का खण्डन किया, तथा अनेक ग्रन्थों एवं ग्रन्थकारों को उद्धृत किया; जबकि उन्हें अपने ग्रन्थ की वृत्ति में ऐसे प्रसंगों को उद्धृत करने का पर्याप्त अवसर भी प्राप्त था, और जबकि रुद्रट का काव्यालंकार कोई सामान्य कोटि का ग्रन्थ भी नहीं है कि जिसे उद्धृत करने की उन्होंने कोई आवश्यकता न समझी हो। अस्तु ! उपर्युक्त पहला कारण ही मान्य है कि उन्होंने इस ग्रन्थ को किसी कारण से नहीं देखा होगा।

रुद्रट और रुद्र (रुद्रभट्ट)

'काव्यालंकार' के प्रणेता रुद्रट और 'शृंगारतिलक' के प्रणेता रुद्र (रुद्रभट्ट) को अनेक विद्वान् चिरकाल तक एक ही व्यक्ति समझते रहे, किन्तु पुन: अनेक विद्वानों ने इन्हें अलग-अलग व्यक्ति स्वीकार कर लिया।[1] प्रथम वर्ग के विद्वान् हैं - पिशेल, वेबर, आफेट और बूल्हर, और द्वितीय वर्ग के विद्वान् हैं—पीटरसन, दुर्गाप्रसाद, के० पी० त्रिवेदी[2] और जैकोबी।

—इन दोनों को एक व्यक्ति समझने का प्रधान कारण यह है कि इनके नामों में प्राय साम्य है। परिणामतः, उक्त पाश्चात्य विद्वानों से पूर्व भारतीय विद्वानों ने यद्यपि उन्हें एक व्यक्ति तो नहीं समझ लिया था, पर रुद्रट के

---

१. इस प्रसंग के लिए देखिए—
   (क) हिस्ट्री आफ संस्कृत-पोएटिक्स (एस. के डे) खण्ड १,२
   (ख) द हिस्ट्री आफ अलंकार लिट्रेचर (पी. वी. काने)
   (ग) रुद्रट'स् शृंगारतिलक (आर- पिशेल)

२ देखिए 'एकावली' का भूमिका-भाग।

कतिपयपद्य रुद्र अथवा रुद्रभट के ही समझ लिये । गये उदाहरणार्थ—शाङ्र्गधरपद्धति मे रुद्रट के 'एकाकिनी यदबला......'[1] को 'रुद्रट' नाम के साथ सम्बद्ध किया गया है, और 'मलयानिल .....'[2] को रुद्रभट्ट के नाम के साथ। इतना ही नहीं, कश्मीरी पाण्डुलिपि[3] मे उपलब्ध 'शृंगार-तिलक' के अन्त मे रुद्र के स्थान पर रुद्रट लिखा मिलता है।

—इन दोनो व्यक्तियो को एक व्यक्ति समझने का दूसरा कारण यह हो सकता है कि रुद्रट के ग्रन्थ का नाम है काव्यालंकार, और रुद्रभट्ट के ग्रन्थ का नाम यद्यपि है तो शृंगारतिलक,[4] किन्तु वे इस ग्रन्थ के तीनो अध्यायो के अन्त मे पुष्पिका के अन्तर्गत इसे 'शृंगारतिलक के स्थान पर 'शृंगारतिलका-भिधानकाव्यालंकार' कहते हैं[5]। इससे यह संदेह हो सकता है कि यह ग्रन्थ काव्यालंकार का एक प्रभाग है, और इस धारणा की पुष्टि इस तथ्य से हो जाती है कि रस-प्रकरण और उसके अन्तर्गत नायक-नायिका-भेद-प्रसंग को, जो 'शृंगारतिलक' में अति विस्तार के साथ सोदाहरण निरूपित हुआ है, 'काव्यालंकार' मे अति संक्षेप मे इसलिए निरूपित किया गया है कि इसे माना वे अपने उक्त ग्रन्थ में प्रतिपादित कर चुके हैं, अथवा करने का विचार रखते हैं। यदि यहा 'काव्यालंकार' शब्द से तात्पर्य कोई ग्रन्थ-विशेष न लेकर इसे 'साहित्यविद्या', 'साहित्यशास्त्र', 'काव्यशास्त्र', आदि का पर्याय मान लें तो इस दृष्टि से भी ये दोनों ग्रन्थ एक-दूसरे के पूरक माने जा सकते हैं।

—इतना ही नही, अनेक ऐसे पद्य हैं जो थोड़े-बहुत अन्तर के साथ दोनों ग्रन्थो मे पाये जाते हैं। उदाहरणार्थ, 'शृंगारतिलक' मे प्रस्तुत रसमहत्ता-प्रदर्शक निम्नोक्त कथन की तुलना 'काव्यालंकार' १२.२ से कीजिए—

---

१. का० अ० ७।४१, शा० प० ३७७३

२ का० अ० २।३०, शा० प० ३८८८

[हाँ, 'शा० प०' में श्लोक-संख्या ९७५ और ३४७३ रुद्रट के साथ सम्बद्ध किये गये हैं और श्लोक-संख्या ३५६७, ३५६८, ३५७६, ३६७५ और ३७५४ रुद्र के साथ, जो कि ठीक हैं।]

३. यह लिपि शारदा-लिपि है।

४. देखिए शृंगारतिलक (पिशेल-संस्करण) पृ० ८६, पा० टि० ८, पंक्ति ५

५. देखिए—वही, पृ० ४३, ६२, ८६

तस्माद् यत्नेन कर्तव्यं काव्यं रसनिरन्तरम् ।

अन्यथा रसविद्गोष्ठ्यां तस्याद् उद्वेगदायकम् ॥ शृंगारतिलक १।८

यही स्थिति शृंगारतिलक में प्रस्तुत 'विरस' नामक काव्यदोष के निम्नोक्त स्वरूप की भी है, जो काव्यालंकार (११.१४) के प्रायः अनुरूप है—

प्रबन्धे नीयते यत्र रस एको निरन्तरम् ।

महतीं वृद्धिमिच्छन्ति विरसं तच्च केवन ॥[१] शृंगारतिलक ३।७६

इसी प्रकार सामान्या नायिका के स्वरूप को भी दोनों आचार्यों ने लगभग एक-समान वर्णित किया है—

रुद्रट—सर्वांगना तु वेश्या सम्यगसौ लिप्सते धनं कामात् ।

निर्गुणगुणिनोस्तस्या न द्वेष्यो न प्रिय कश्चित् ॥ का० अ० १२.३९

रुद्रभट्ट—सामान्यवनिता वेश्या सा वित्तं परमिच्छति ।

निर्गुणोऽपि न विद्वेषो न रागः स्याद् गुणिन्यपि ॥

शृंगारतिलक १. १२०

× × ×

आगे चलकर इन दोनों को विभिन्न व्यक्ति समझने वाले विद्वानों ने, विशेषतः जैकोबी ने, जो तर्क प्रस्तुत किये, उनका सार इस प्रकार है—

१. काव्यालंकार के दोनों टीकाकारों नमिसाधु और वल्लभ ने इसके कर्ता को रुद्रट नाम से अभिहित किया है[२], और इधर इसके विपरीत 'शृंगारतिलक' के लेखक ने ग्रन्थ के अन्त में श्लेष के माध्यम से स्वयं अपना नाम रुद्र लिखा है।[३]

२. रुद्र ने अपने ग्रन्थ के अन्त में शिव की स्तुति की है,[४] किन्तु रुद्रट ने गणेश के अतिरिक्त भवानी और मुरारी की। इससे यह अभिव्यक्त होता है कि ये दोनों विभिन्न सम्प्रदायावलम्बी थे।

---

१. विरस दोष का एक अन्य रूप भी दोनों ग्रन्थों में लगभग समान ही है—

(क) विहाय जननीमृत्युशोकं मुग्धे मया सह ।
यौवनं मानय स्पष्टमित्यादि विरसं मतम् ॥ शृं० ति० ३.७५

(ख) काव्यालंकार ११-१२

२. देखिए 'काव्यालंकार' पर नमिसाधु की आरम्भिक और अन्तिम टिप्पणी।

३-४ त्रिपुरवधादेव गताप्युल्लासमुमां समस्तविबुधनुताम् ।
शृंगारतिलकविधिना पुनरपि रुद्रः प्रसादयति ॥ शृं० ति० ३.८५

३. रुद्रट का उद्देश्य एक अलंकार-विषयक ग्रन्थ का निर्माण करना था और रुद्रभट्ट का रस-विषयक ग्रन्थ का। रुद्रट ने अलंकार के अतिरिक्त अन्य काव्यांगो का भी निरूपण किया, किन्तु रुद्र ने केवल रस और उससे सम्बन्धित नायक-नायिका-भेद को ही स्थान दिया।

४. (क) रुद्रट ने प्रख्यात नौ रसो के अतिरिक्त प्रेयान् रस को भी अपने ग्रन्थ में स्थान दिया[1], किन्तु रुद्र ने केवल नौ रसो को।

(ख) रुद्रट ने सामान्या (वेश्या) नायिका का केवल एक ही पद्य मे चलता-सा उल्लेख-मात्र किया है, किन्तु रुद्रभट्ट ने इसका विस्तृत निरूपण किया है।[2]

(ग) रुद्रट ने संचारिभावो का नाम-निर्देश नहीं किया, किन्तु रुद्रभट्ट ने किया है।[3]

(घ) रुद्रट ने काम की दस दशाओं—अभिलाष, चिन्ता आदि का केवल नामोल्लेख किया है, उनका स्वरूप-निर्देश किया, किन्तु रुद्रभट्ट ने उनके लक्षण एवं उदाहरण प्रस्तुत किये है।[4]

(ङ.) रुद्रट ने अवस्था के आधार पर नायिका के चार भेदो का उल्लेख किया है, किन्तु रुद्रभट्ट ने आठ भेदों का।[5]

५. रुद्रट ने अनुप्रास अलंकार के अन्तर्गत उद्भट के अनुकरण मे मधुरा, प्रौढा आदि पांच वृत्तियों का निरूपण किया, किन्तु रुद्र ने केवल कैशिकी, आरभटी, सात्वती और भारती नामक चार रस-वृत्तियो का।[6]

रुद्रट और रुद्रभट्ट को एक व्यक्ति मानने वालो की ओर से उक्त तर्कों मे से अधिकतर तर्कों का खण्डन बड़ी सरलता से एक ही आधार पर किया जा सकता है कि एक ही व्यक्ति ने दो ग्रन्थ इस रूप मे प्रस्तुत किये जो एक-दूसरे के पूरक हैं। उदाहरणार्थ, अनुप्रास अलंकार मे मधुरा आदि

---

१. काव्यालंकार १५.१७-१६।
२. का० अ० १२.३६, शृं० ति० १२०-१३०
३. शृं० ति० १.११-१४
४. का० अ० १४.४, ५, शृं० ति० २.७-३०
५. का० अ० २.१६-३१, शृं० ति० ३.५२-७३
६. का० अ० १२.४१, शृं० ति० ११-३१, १३२

वृत्तियों का निरूपण करना वाञ्छनीय था तो रस-प्रसंग के अन्तर्गत कैशिकी आदि वृत्तियों का, और इसमें कोई विरोध नहीं है। परवर्ती आचार्यों के ग्रन्थों में भी यही प्रवृत्ति देखी जा सकती है। इसी प्रकार संचारिभावों, काम की दस अवस्थाओं का एक ग्रन्थ में नामोल्लेख मात्र, और दूसरे में स्वरूप-निर्देश भी इसी धारणा की पुष्टि करता है। अपने एक ग्रन्थ में नौ रसों को स्थान देना और दूसरे ग्रन्थ में एक अन्य रस को भी स्थान देना ग्रन्थकार के विचार-विकास का ही द्योतक है। इसके अतिरिक्त यह स्वीकार करना भी शास्त्र-सम्मत एवं मनस्तोषक नहीं है कि रुद्रट ने अलंकारवाद का समर्थक होने के नाते अपने ग्रन्थ में प्रमुख रूप से अलंकारों का निरूपण किया और रुद्रभट्ट ने रसवाद का समर्थक होने के नाते रसों का निरूपण किया, क्योंकि ये दोनों आचार्य अलंकार अथवा रस नामक काव्यतत्त्वों के निरूपक मात्र हैं, क्योंकि न तो रुद्रट, जैसा कि आगे निर्दिष्ट कर रहे हैं, भामह आदि के समान अलंकार-वादी हैं, और न रुद्रभट्ट परवर्ती आचार्यों—भोजराज, विश्वनाथ आदि के समान रसवादी। अतः एक व्यक्ति द्वारा इन दोनों प्रकार के संग्रह-ग्रन्थों का प्रणयन स्वीकार करना नितान्त सम्भव है।

इसके अतिरिक्त इन दोनों को इस आधार पर भी भिन्न-भिन्न व्यक्ति स्वीकार करना समुचित प्रतीत नहीं होता कि इन्होंने अपने-अपने ग्रन्थों में अलग-अलग देवताओं की स्तुति की है। वस्तुतः एक ही कवि, जब तक कि वह किसी विशिष्ट सम्प्रदाय का कट्टर पक्षपाती न हो, अनेक देवताओं की भी स्तुति कर सकता है, विशेषतः अपने विभिन्न ग्रन्थों के मंगलाचरण में।

× × ×

किन्तु फिर भी, हम इन दोनों को एक व्यक्ति स्वीकार नहीं करते, और इस धारणा का प्रमुख कारण यह है कि रुद्रभट्ट रुद्रट की अपेक्षा कहीं अधिक सफल कवि है। उसकी कल्पना-शक्ति उर्वरा है, और उसका बिम्ब-विधान विशद एवं उज्ज्वल है। इस दृष्टि से रुद्रट के किसी पक्षपाती की ओर से यह कहा जा सकता है कि नायक-नायिका-भेद के उदाहरणों में कवित्व का जितना अवकाश रुद्रभट्ट को प्राप्त था, उतना अलंकारों के उदाहरणों में रुद्रट को प्राप्त न था। किन्तु रुद्रट को जहाँ-जहाँ ऐसे अवसर मिले भी हैं—जैसे उपमा, रूपक, उत्प्रेक्षा, आदि के प्रसंग में—वहाँ भी उन्होंने कल्पना-शक्ति का परिचय नहीं दिया। उदाहरणों के प्रस्तुत करने में उनका एकमात्र उद्देश्य

है शास्त्रीय पक्ष की पुष्टि, अर्थात् लक्षण के अनुरूप उदाहरण (लक्ष्य) का निर्माण। लगभग यही स्थिति उनके कारिका-भाग की प्रतिपादन-शैली की भी है। रुद्रभट्ट का लक्षण-पक्ष रुद्रट की अपेक्षा सरल और सुबोध है। यद्यपि विषय की विशालता, व्यापकता, गम्भीरता एवं प्रौढता की दृष्टि से इन दोनों में कोई तुलना नहीं है—रुद्रट रुद्रभट्ट की अपेक्षा इस दृष्टि में कई गुना बढ़कर है। हाँ, रुद्रभट्ट का नायक-नायिका-भेद-प्रकरण अपेक्षाकृत अत्यधिक विस्तृत एवं व्यवस्थित है, किन्तु कुल मिलाकर रुद्रट रुद्रभट्ट की अपेक्षा कहीं अधिक सफल आचार्य है, और इधर रुद्रभट्ट रुद्रट की अपेक्षा कहीं अधिक सफल कवि है। जैकोबी महोदय ने भी इस तथ्य की ओर स्पष्ट संकेत किया है।[1]

इन दोनों को एक व्यक्ति मानने का एक कारण यह प्रस्तुत किया गया था कि इन दोनों ग्रन्थों में कतिपय पद्य लगभग समान है। उदाहरणार्थ, रस-महत्त्वसूचक पद्य, और विरस दोष तथा सामान्या नायिका के स्वरूप-निर्देशक पद्य।[2] किन्तु यदि इन सभी पद्यों की परस्पर तुलना की जाए तो स्पष्टतः लक्षित होता है कि एक व्यक्ति ने दूसरे व्यक्ति की रचना को सम्मुख रखकर उसे अपने शब्दों में ढाल दिया है। यदि इन दोनों व्यक्तियों को एक व्यक्ति मान लिया जाए तो फिर उसे अपनी ही पूर्व-निर्मित कारिकाओं अथवा उदाहरणों को अन्य रूप में ढालने की आवश्यकता क्यों पड़ती? अस्तु!

निष्कर्षतः रुद्रट और रुद्रभट्ट ये दोनों भिन्न-भिन्न व्यक्ति हैं।

काव्यालंकार के टीकाकार

रुद्रट-प्रणीत काव्यालंकार के तीन टीकाकार माने जाते है—वल्लभदेव, नमिसाधु और आशाधर। इनमें से नमिसाधु की टीका उपलब्ध है। इन तीनों टीकाकारों का परिचय इस प्रकार है—

१. वल्लभदेव शिशुपालवध के टीकाकार वल्लभदेव ने इस ग्रन्थ के ४.२१ तथा ६.२८ पद्यों की टीका में यह संकेत किया है कि उन्होंने रुद्रट के ग्रन्थ

---

1. "Rudrata appears as an original teacher of Poetics, while Rudra, at his best an original poet, follows, as an expounder of his *shastra*, the common herd".—Jacobi

[*History of Sanskrit Poetics : Vol I. S. K. De*]

२. देखिए पृष्ठ ९८

की टीका प्रस्तुत की थी, किन्तु यह टीका अद्यावधि अनुपलब्ध है। वल्लभदेव के कथनानुसार उनका अपना उपनाम परमार्थचिह्न था, और उनके पिता का नाम राजानक आनन्ददेव था। उन्होंने कालिदास, माघ, मयूर और रत्नाकर के ग्रन्थों की टीकाएँ प्रस्तुत की थी। ऐसा प्रतीत होता है कि वे कश्मीर निवासी थे, और दशम शती के पूर्वार्द्ध में विद्यमान थे।[1]

२ नमिसाधु—रुद्रट-प्रणीत काव्यालङ्कार पर नमिसाधु की टीका मूलपाठ के साथ प्रकाशित रूप में उपलब्ध है।[2] इस टीका (टिप्पण) के अन्त में नमिसाधु ने अपना परिचय भी प्रस्तुत किया है। (देखिए पृष्ठ ४२६-४३०) इसमें उन्होंने अपने-आपको श्री शालिभद्र के चरण-कमलों का भ्रमर बताया है। इस कथन के आधार पर हम नमिसाधु को उनका शिष्य मान सकते हैं। शालिभद्रजी धारापद्र नामक पुरी के 'गच्छ' अर्थात् जैन साधु-सम्प्रदाय के तिलक-स्वरूप थे। यह पुरी कहाँ थी, इस सम्बन्ध में निश्चयपूर्वक कुछ भी नहीं कहा जा सकता। काव्यालङ्कार के सम्पादकों—श्री दुर्गाप्रसाद तथा श्री वासुदेव शर्मा ने ग्रन्थ के आरम्भ में नमिसाधु को श्वेताम्बर जैन पण्डित माना है।

नमिसाधु ने इस टीका की समाप्ति विक्रमी-संवत् ११२५ के वर्षाकाल में की थी। (देखिए पृष्ठ ४३०) उक्त सम्पादक महोदयों ने लिखा है कि राजकीय संग्रह में सुरक्षित तालपत्र पर लिखित टिप्पण-पुस्तक में '११७६' पाठ मिलता है, किन्तु इन्हीं सम्पादकों ने इस पाठ में छन्दोभग स्वीकार करते हुए प्रकारान्तर से यह संकेत किया है कि संवत ११७६ न स्वीकार कर संवत् ११२५ (सन् १००६८) स्वीकार करना चाहिए—राजकीय संग्रहान्तर्वर्तिनि तालपत्रलिखिते टिप्पणपुस्तके तु 'षट्सप्ततिसंयुक्तैरेकादशसमाशतैः' इति पाठो वर्तते, परन्तु छन्दोभंगः स्फुट एव। जो हो, नमिसाधु का समय ईस्वी की ११वीं शती स्वीकार करना चाहिए।

---

३. पर्याप्त प्रयास करने पर भी 'शिशुपालवध' का यह संस्करण हमें उपलब्ध नहीं हुआ।

१. विशेष विवरण के लिए देखिए 'संस्कृत पोएटिक्स' खण्ड १ (एस० के० डे)

२. निर्णयसागर प्रेस, काव्यमाला-२

किसी टीका में यथासम्भव निम्नोक्त तीन गुण अपेक्षित है—(१) मूल पाठ को सरल रूप से समझा दिया जाए। (२) यदि उसमे कही अभाव हो तो उसे पूरा किया जाए। यह तभी सम्भव होता है जब टीकाकार को वर्ण्यविषय का पर्याप्त ज्ञान हो। (३) मूल लेखक के दृष्टिकोण का समर्थन किया जाए, अथवा उसके प्रति कही वैमत्य प्रदर्शन करना हो तो वह तर्कसंगत रूप मे कर दिया जाए।

(१) नमिसाधु के टिप्पण मे मूल पाठ को समझाया अवश्य गया है, किन्तु प्राय· सरल रूप मे नही। इसका एक मात्र कारण यह है कि उन्होंने विग्रह एव पर्यायवाची शब्द प्रस्तुत करने वाली टीका-पद्धति को अपनाया है, जिससे किसी कारिका अथवा उदाहरण का समग्र कथ्य पाठक के समक्ष समन्वित रूप मे उपस्थित न होकर खण्डश· उपस्थित होता है, जिससे त्वरित अर्थावबोध मे बाधा होती है। फिर भी, इस टीका के कारण मूल पाठ को समझने मे पर्याप्त सहायता मिलती है विशेषत· अनुप्रास, यमक, श्लेष, चित्र, अर्थश्लेष, आदि अलकारो के उदाहरणो के समझने मे यह टीका अनिवार्यत: पठनीय है। निष्कर्षत·, नमिसाधु स्वय तो इस ग्रन्थ के पद-पद से परिचित हैं, पर उनकी टिप्पण-पद्धति सुगम नही है।

(२) नमिसाधु को ग्रन्थ के वर्ण्यविषय का पर्याप्त ज्ञान है। यही कारण है कि वह स्थान-स्थान पर ग्रन्थकर्ता के किसी सिद्धान्त की पुष्टि मे अनेक उद्धरण तथा किसी काव्याग के भेदो एव उपभेदो के उदाहरण एव प्रत्युदाहरण प्रस्तुत करते चले गये हैं, उदाहरणार्थ निम्नोक्त स्थल देखिए —

२.६, ७, ८।
३.१।
४.४, ७, १३।
६.७, ८, १३, २४, ३३, ३८,- ४०, ४५, ४६, ४७।
७.५, ७,१०, २०, २२, ३०, ३३, ५६, ७२, ७३, ८३, ९१।
८.१, ५, १०, २५, २६, २८, ३१, ३२, ३७, ४२, ५६, ६४, ८४।
१०.२६।

---

१. श्लेष अलकार के टीका–भाग (४.११-२१) से विदित होता है कि नमिसाधु सस्कृत के अतिरिक्त प्राकृत और अपभ्रश भाषाओ के विभिन्न रूपों मे भी निष्णात थे।

११.६, १०, २४, ३५, ३६ ।
१२.३, ४, ४४ ।
१४ १ ।
१५.१ ।

इन सभी स्थलों के अवलोकन से स्पष्ट है कि नमिसाधु ने कालिदास के अतिरिक्त माघ, भारवि, भर्तृहरि, शूद्रक, भवभूति आदि के काव्यग्रन्थों का भी सम्यग् अध्ययन किया था, और काव्यशास्त्र में उसकी अभिरुचि का भी सम्भवत. यही कारण है।

(३) नमिसाधु ने रुद्रट के सम्बन्ध में कहीं यह उल्लिखित नहीं किया कि वह अलकारवादी अथवा रसवादी थे। इस प्रकार के उल्लेखाभाव का शायद एक कारण तो यह है कि स्वय रुद्रट ने अपने ग्रन्थ में किसी रूप में इस ओर सकेत नहीं किया। दूसरा कारण यह है कि नमिसाधु शायद स्वय भी इस दिशा में विशेष सतर्क नहीं थे कि वह मूल ग्रन्थकार को किसी सम्प्रदाय-विशेष से सम्बद्ध कर दें।

नमिसाधु वस्तुत. मात्र टीकाकार है—वह सदा रुद्रट का समर्थन करता है। विषय के सम्यग् अवबोध के लिए उसी विषय से सम्बद्ध अन्य उद्धरण एव उदाहरण अथवा प्रत्युदाहरण जुटाता चला जाता है, और वस्तुत: किसी टीकाकार की इसी स्थिति में ही यथार्थता निहित है।

नमिसाधु का इस सम्बन्ध में योगदान यह है कि इसके टिप्पण के बिना यह ग्रन्थ कहीं अधिक दुर्बोध समझा जाता। इस दृष्टि से तो यह टीका अति उपादेय है ही, साथ ही वर्ण्यविषय को कहीं अधिक विशद रूप भी मिला है।

३. आशाधर—पीटरसन के कथानुसार रुद्रट के ग्रन्थ के एक अन्य टीकाकार है आशाधर, जो कि जैनाचार्य थे। वह सन् १२४० तक जीवित रहे।[१]

---

१. विशेष विवरण के लिए देखिए 'सस्कृत पोएटिक्स' खण्ड १, पृष्ठ ९९-१०१

काव्यालंकार : सामान्य परिचय

काव्यालंकार मे १६ अध्याय है, जिनमे कुल ७३४ पद्य हैं। १२वें अध्याय के ४०वें पद्य के उपरान्त १४ पद्य प्रक्षिप्त माने जाते हैं, यदि उनको भी सम्मिलित किया जाए तो यह पद्य-सख्या ७४८ हो जाती है। इनमे ४९५ कारिकाएँ हैं, और शेष २५३ उदाहरण हैं।

इस ग्रन्थ के प्रसिद्ध टीकाकार नमिसाधु के उल्लेखानुसार यह ग्रन्थ तीन सहस्र श्लोक-प्रमाणों से पिण्डित है—एक श्लोक में ३२ अक्षर होते है—

सहस्रत्रयमन्यूनं ग्रन्थोऽयं पिण्डितोऽखिल: ।
द्वात्रिंशदक्षरश्लोकप्रमाणेन सुनिश्चितम् ॥[1]

इसका आशय यह है कि इस ग्रन्थ में कुल ३००० × ३२ = ९६००० से कम अक्षर नही हैं। उपर्युक्त ७४८ पद्यो मे से प्रत्येक पद्य में यदि ४० अक्षरों का माध्य स्वीकार किया जाए तो कुल अक्षर-सख्या २९९२० होनी चाहिए। यदि यह माध्य अधिक-से-अधिक ५० अक्षरो का भी स्वीकार किया जाए तो अक्षर-सख्या ३७४०० होनी चाहिए। किन्तु ९६००० अक्षरो की गणना को पूरा करने के लिए नमिसाधु के टीकाभाग को भी सम्मिलित कर लिया जाए तो निस्सन्देह यह सख्या लगभग ठीक प्रतीत होती है। इस अनुमान की पुष्टि 'निर्णयसागर बम्बई' द्वारा मुद्रित काव्यालकार से भी हो जाती है, जिसकी पृष्ठसख्या १७५ है। प्रत्येक पृष्ठ पर लगभग ३० पक्तियाँ हैं। प्रत्येक पक्ति मे अक्षरो का माध्य १८-१९ स्वीकार कर लेने पर कुल अक्षर-सख्या लगभग ९६००० हो जाती है। अस्तु !

प्रथम अध्याय मे २२ पद्य हैं। इसमें मगलाचरण, गणेश एवं गौरी के स्तवन के उपरान्त काव्यप्रयोजन और काव्यहेतु का निरूपण किया गया है और इसके बाद कविमहिमा की चर्चा की गयी है।

द्वितीय अध्याय मे ३२ पद्य है। इसमे काव्यलक्षण का सकेत करने के उपरान्त शब्द के पाँच भेदो का निर्देश है। इसके बाद वृत्ति के आधार पर तीन रीतियों की चर्चा है। फिर वाक्य पर सम्यक् प्रकाश डाला गया है और अन्त में वक्रोक्ति और अनुप्रास नामक शब्दालंकारो का निरूपण है।

तृतीय, चतुर्थ, पचम अध्यायो मे क्रमशः ५९ और ३३ पद्य हैं। इनमे क्रमशः यमक, श्लेष और चित्र नामक शब्दालकारों का निरूपण है।

---

१. काव्यालकार : ग्रन्थसमाप्ति-सूचक टिप्पण।

षष्ठ अध्याय मे ४७ पद्य हैं। इसमे दोष-प्रकरण निरूपित हुआ है।

सप्तम अध्याय मे १११ पद्य हैं। इसमें अर्थ के लक्षण और वाचक शब्द-भेदो का स्वरूप निर्दिष्ट करने के उपरान्त अर्थालंकारो का वर्गीकरण प्रस्तुत किया गया है और इसके बाद वास्तव-गत २३ अलकारो के लक्षण एव उदाहरण दिये गये हैं। अष्टम एव नवम अध्यायो मे क्रमशः ११० और ५५ पद्य हैं। इनमे क्रमशः औपम्यगत २१ अलकारो का निरूपण है। दशम अध्याय में २६ पद्य हैं, जिनमे अर्थश्लेष के दस भेदो के लक्षणोदाहरण प्रस्तुत किये गये हैं।

एकादश अध्याय मे ९ अर्थ-दोषो का निरूपण है जो ३६ पद्यो मे समाप्त हुआ है।

द्वादश से लेकर पंचदश अध्यायो मे क्रमश ४७, १७, ३२ और २१ पद्य हैं। इनमे से प्रथम तीन अध्यायों मे शृ गार रस तथा उनके अन्तर्गत नायक-नायिका-भेद का निरूपण किया गया है और पन्द्रहवें अध्याय मे शृ गारेतर नौ रसों का। इनमे शान्त रस के अतिरिक्त प्रेयान् रस भी सम्मिलित है।

षोडश अध्याय मे ४२ पद्य है। इसमे विभिन्न काव्यभेदो—महाकाव्य, महाकथा, आख्यायिका, लघुकाव्य आदि की सामान्य चर्चा है, और अन्त मे भवानी, मुरारि और गणेश का स्तवन किया गया है।

इस प्रकार इस ग्रन्थ मे प्रायः सभी प्रचलित काव्यांगो को स्थान मिला है। कलेवर की दृष्टि से ग्रन्थ का बहुभाग अलकारो को समर्पित हुआ है। २य से लेकर ५म तक तथा ७म से लेकर १०म तक कुल सात अध्यायों मे अलंकारो की चर्चा है। इन अध्यायो मे कुल ४१४ पद्य हैं। इनमे से २य अध्याय के १२ पद्य और ७म अध्याय के ८ पद्य, कुल २० पद्य, अलकारेतर विषयो से सम्बद्ध हैं। ४१४ पद्यो मे से ये २० पद्य निकाल देने पर शेष ३९४ पद्यो मे अलकारो का प्रतिपादन हुआ है। ग्रन्थ मे कुल ७४९ पद्य हैं, अर्थात् ग्रन्थ के लगभग आधे भाग मे अलकारो का निरूपण है। स्वय 'काव्यालंकार' नाम ही, जैसा कि नमिसाधु ने भी सकेत किया है,[1] इस तथ्य का द्योतक है इसमे अलकारो की चर्चा सर्वाधिक होनी चाहिए।

---

१. तत्र काव्यलंकारा वक्रोक्तिवास्तवादयोऽस्य ग्रन्थस्य प्राधान्यतऽभिधेयाः। अभिधेयव्यपदेशेन हि शास्त्रं व्यपदिशन्ति स्म पूर्वकवयः। यथा कुमार-संभवः काव्यमिति। —काव्यलकार १।२ (टिप्पणी)

अलकार-प्रकरण के उपरान्त कलेवर की दृष्टि से दूसरा स्थान रस-प्रकरण का है। इसीके अन्तर्गत नायक नायिका-भेद प्रसग भी सम्मिलित है। यह समग्र प्रकरण १२वें से १५वें तक चार अध्यायो मे निरूपित हुआ है, जिनमे कुल १२३ पद्य हैं। इस दृष्टि से तीसरा स्थान दोष-प्रकरण का है, जिसे ६ठे और ११वें अध्याय मे प्रस्तुत किया गया है। इसमे कुल ८३ पद्य हैं। इस प्रकार कुल ७४८ पद्यो मे से ४०२+१२३+८३=६०८ पद्यो को निकाल देने पर शेष १४० पद्य रहते हैं। इनमे से मगलाचरण एव अन्तिम स्तवन-विषयक ३ पद्यों को छोडकर शेष १३७ पद्यो मे काव्य-स्वरूप, काव्यप्रयोजन, काव्यहेतु, कविमहिमा, शब्द-प्रकार, वृत्ति एव रीति, वाक्यभेद, अर्थ, वाचक शब्द, *महाकाव्य, महाकथा, आख्यायिका, लघुकाव्य, अन्य काव्यरूप, काव्य मे निषिद्ध प्रसग*—इन १६ विषयो की यद्यपि सक्षिप्त चर्चा की गयी है तो भी पाठक उनके स्वरूप से यथाभीष्ट रूप मे परिचित हो जाता है।

काव्य के परम्परागत दस अंग स्वीकार किये जाते हैं। इनका नामोल्लेख इस प्रकार किया जा सकता है - काव्यस्वरूप (काव्यलक्षण, काव्यहेतु, काव्यप्रयोजन), शब्दशक्ति, ध्वनि, गुणीभूतव्यग्य, रस, नायक-नायिका-भेद, दोष, गुण, रीति और अलकार। इनमे से शब्दशक्ति, ध्वनि, गुणीभूतव्यग्य और गुण का निरूपण इस ग्रन्थ मे नही मिलता। इसमे शब्द, वाचक-शब्द तथा वाक्य की चर्चा अवश्य की गयी है, पर इससे शब्दशक्ति-प्रकरण पर किंचित् प्रकाश नही पड़ता—यहा तक कि अभिधा शक्ति का भी सकेत नही मिलता। यद्यपि ध्वनि-तत्त्व बीजरूप मे रुद्रट से लगभग तीन शती पूर्व भामह के समय से ही विद्यमान था - भामह के अतिरिक्त दण्डी और उद्भट के ग्रन्थो मे भी इसके सकेत मिल जाते हैं, इधर स्वय रुद्रट-सम्मत भाव अलकार का प्रथम प्रकार *गुणीभूतव्यग्यकाव्य माना जा सकता है और द्वितीय प्रकार* ध्वनिकाव्य[1]—निस्सदेह ये दोनो प्रकार ध्वनि और गुणीभूतव्यग्य के ही समानान्तर हैं, किन्तु फिर भी, इन दोनो को इस ग्रन्थ मे स्पष्टतः एक विवेच्य काव्यांग के रूप मे स्थान नही मिला। कारण स्पष्ट है कि ये दोनो काव्यांग अभी स्थिर नही हुए थे—आनन्दवर्द्धन का 'ध्वन्यालोक,' चाहे कारण कुछ भी हो, अभी रुद्रट के हाथो मे नही पहुँचा था।

१- का० अ०, ७.३८-४१

इस ग्रन्थ में गुण को स्थान न मिलना न केवल आश्चर्यजनक है अपितु खटकता है। इनसे पूर्व यह काव्यांग भरत, भामह, दण्डी और वामन द्वारा सम्यक् रूप से निरूपित हो चुका था। भामह ने केवल तीन गुण स्वीकार किये थे और शेष तीनों आचार्यों ने दस, किन्तु रुद्रट ने इनमें से किसी आधार को स्वीकार नहीं किया। यदि वे चाहते तो भरत के समान दस गुणों का प्रतिपादन स्वतन्त्र रूप से करते, अथवा दण्डी या वामन में से किसी एक के अनुकरण में रीति-प्रकरण के ही अन्तर्गत दस गुणों को समाविष्ट कर देते। पर ऐसा प्रतीत होता है, जैसा कि हम आगे भी देखेंगे, कि रुद्रट अपने से पूर्ववर्ती इन प्रख्यात आचार्यों में से साक्षात् रूप से किसी से भी प्रभावित नहीं हैं, अन्यथा उन-जैसा संग्रहकर्ता आचार्य 'गुण' जैसे महत्त्वपूर्ण काव्यांग की चर्चा अवश्य करता। अस्तु !

अलंकार-प्रकरण

रुद्रट-प्रस्तुत शब्दालंकारों में वक्रोक्ति अलंकार, जैसा कि ऊपर निर्दिष्ट कर आये हैं, सर्वप्रथम शब्दालंकार के रूप में प्रस्तुत हुआ है। यमक, श्लेष तथा चित्र अलंकारों के भेदोपभेदों का उल्लेख यद्यपि रुद्रट से पूर्व भामह तथा दण्डी द्वारा प्रतिपादित किया जा चुका था, किन्तु इन्होंने इनके नवीन उपभेदों का समावेश किया तथा सभी भेदों को पहले की अपेक्षा कहीं अधिक व्यवस्थित, विशद तथा स्पष्ट रूप में प्रस्तुत किया। प्रतिपादन-शैली के अतिरिक्त उदाहरणों की दृष्टि से भी ये प्रसंग सर्वप्रथम स्पष्ट रीति से निरूपित हुए हैं, और परवर्ती आचार्यों में भोजराज तथा विश्वनाथ के ग्रन्थों में जो एतद्विषयक स्वच्छता है, उसमें रुद्रट का साक्षात् अथवा प्रकारान्तर से योगदान स्वीकार किया जा सकता है।

रुद्रट ने ५७ अर्थालंकारों का निरूपण किया है, इनमें केवल २६ अलंकार ऐसे हैं, जो भरत, भामह, दण्डी और उद्भट द्वारा पूर्वतः निरूपित हो चुके थे।[1] क्या शेष ३१ अलंकारों की आविष्कृति का श्रेय रुद्रट को मिलना चाहिए? निस्सन्देह इतना विशाल एवं मौलिक कृतित्व सामान्यतः एक व्यक्ति द्वारा प्रायः सम्भव नहीं है। इस स्थिति में केवल एक विकल्प शेष रह जाता है कि रुद्रट किसी ऐसे आचार्यवर्ग की शताब्दियों से प्रवाहित

१. देखिए 'संस्कृत-साहित्य का इतिहास' (भाग २) सेठ कन्हैयालाल पोद्दार; पृष्ठ ६४

विचारधारा से प्रभावित रहा होगा जो इन प्रख्यात आचार्यों से नितान्त अलग रहकर काव्यशास्त्रीय विषयो पर विचार-विमर्श करता चला आया होगा। रुद्रट द्वारा प्रस्तुत अर्थालकारो का वर्गीकरण ही इस मान्यता का एक अन्य पोषक प्रमाण है। इनसे पूर्ववर्ती आचार्यों के ग्रन्थो मे तो इस प्रकार के वर्गीकरण के साक्षात् अथवा असाक्षात् सकेत तक नही मिलते। हाँ, उक्त सभी नवीन अलकारो को तथा वर्गीकरण को एक ग्रन्थ के माध्यम से सर्वप्रथम काव्यशास्त्रीय जगत् के समक्ष प्रस्तुत करने का श्रेय नि.सन्देह रुद्रट को ही दिया जा सकता है, जो कि अपने-आप मे एक महत्त्वपूर्ण, स्तुत्य एव उपादेय प्रयास है, तथा काव्यशास्त्र के अध्येता के लिए अनिवार्यतः अध्येतव्य विषय है यद्यपि यह वर्गीकरण पूर्णत मान्य नही है। रुद्रट-प्रस्तुत अनेक अलकार तो आगे चलकर अनेक आचार्यों द्वारा अधिकाशत. इसी रूप मे अपनाये गए, किन्तु इनका वर्गीकरण परवर्ती आचार्यों द्वारा प्रचलित एव प्रसारित नही हुआ।

अर्थालकार को चार वर्गों में विभक्त किया गया है—वास्तव, औपम्य, अतिशय और श्लेष। वास्तवमूलक अलकारो की सख्या २३ है, औपम्यमूलक अलकारो की २१, अतिशयमूलक अलंकारो की १२ और श्लेषमूलक केवल १ ही अलकार गिनाया गया है—श्लेष। इस प्रकार यद्यपि कुल ५७ अर्थालंकारो को इस ग्रन्थ मे स्थान मिला है,[१] तथापि इनमे से निम्नोक्त चार अलंकार दो-दो वर्गों मे रखे गये हैं—जैसे उत्तर और समुच्चय अलंकार वास्तवगत भी हैं और अतिशयगत भी, तथा विषम वास्तवगत भी है और औपम्यगत भी, उत्प्रेक्षा औपम्यगत भी है और अतिशयगत भी, तथा विषम वास्तवगत भी है और अतिशयगत भी। किन्तु इन चार अलकारो के लक्षणो एव उदाहरणों से स्पष्टत. ज्ञात होता है कि ये अपने-अपने वर्ग में भिन्न-भिन्न ही हैं। उदाहरणार्थ, वास्तवगत उत्तर-अलकार औपम्यगत उत्तर-अलकार से भिन्न ही है। अत: रुद्रट द्वारा निरुपित अर्थालकारों की सख्या ५७ ही माननी चाहिए, इनसे चार कम करके ५३ नही।

---

१. श्लेष अलंकार के दस भेद गिनाए गये हैं (देखिए का० अ०, पृष्ठ २१), किन्तु उक्त '५७' संख्या मे ये भेद सम्मिलित नही हैं, यद्यपि इनमें से कुछ भेद आगे चलकर स्वतंत्र अलंकार बन गये।

रस-प्रकरण

रुद्रट का रस-प्रकरण भी अनेक दृष्टियों से अपनी विशिष्टता रखता है। निःसन्देह भरत इनसे कई शताब्दी पूर्व रस का प्रतिपादन कर चुके थे, किन्तु रुद्रट का यह प्रकरण भरत के एतद्-विषयक प्रकरण से विषय-सामग्री की दृष्टि से, और इसकी अपेक्षा कहीं अधिक प्रतिपादन-शैली की दृष्टि से, पर्याप्त भिन्न है। इन दोनों आचार्यों के इन प्रकरणों को एक साथ देखें तो यह भिन्नता और अधिक स्पष्ट रूप से लक्षित होती है।

पहले विषय-सामग्री को लीजिए। भरत के नाट्यशास्त्र में रस-विषयक विवेचन छठे और सातवें अध्याय में हुआ है—छठे अध्याय में रस का विवेचन है और सातवें अध्याय में भाव का। इन दोनों अध्यायों में क्रमशः रस और भाव के स्वरूप का तथा इनके पारस्परिक सम्बन्ध का निर्देश किया गया है। आठों रसों का परिचय देते हुए भरत ने प्रत्येक रस के स्थायिभाव, विभाव, अनुभाव, व्यभिचारिभाव और सात्त्विक, भावों का नामोल्लेख किया है। रसों के वर्णों और देवताओं से अवगत कराया है तथा रसों के भेदों की चर्चा की है। इन सभी प्रसंगों का संक्षिप्त परिचय इस प्रकार है—

भरत ने मूल रूप से चार रस माने हैं—शृंगार, रौद्र, वीर और बीभत्स। फिर इनसे क्रमशः हास्य, करुण, अद्भुत और भयानक रसों की उत्पत्ति मानी है। (ना० शा० ६।३९-४१)। विभिन्न रसों में जो भेद भरत ने प्रस्तुत किये हैं (ना० शा० ६।४८ वृत्ति, ६।७७-८३), उनमें से आगे चलकर कुछ तो प्रचलित रहे और कुछ अप्रचलित हो गये—

प्रचलित भेद—(१) शृंगार के सम्भोग और विप्रलम्भ नामक दो भेद। (२) हास्य के स्मित, विहसित आदि छः भेद। (३) वीर के दानवीर, धर्मवीर और युद्धवीर—ये तीन भेद।

अप्रचलित भेद—(१) शृंगार के वाङ्नेपथ्यक्रियात्मक—तीन भेद। (२) हास्य के आत्मस्थ और परस्थ दो भेद। (३) हास्य और रौद्र के अंग-नेपथ्य-वाक्यात्मक—तीन-तीन भेद। (४) करुण के धर्मोपघातज, अपचयोद्भव और शोककृत—तीन भेद (५) भयानक के स्वभावज, सत्त्वसमुत्थ और कृतक तीन भेद, तथा व्याज-अपराध-त्रासगत अन्य तीन भेद। (६) बीभत्स के क्षोभज शुद्ध और उद्वेगी—तीन भेद। (७) अद्भुत के दिव्य और आनन्दज—दो भेद।

भरत ने रस-प्रकरण मे भावो की संख्या ४९ गिनायी है—८ स्थायिभाव, ३३ व्यभिचारिभाव और ८ सात्त्विक भाव। (ना० शा०, ७।६ वृत्ति) आठ स्थायिभावो के अनुकूल रसों की सख्या भी इनके मत मे आठ है (ना० शा०, ६।१५-१७), शान्त रस का उल्लेख इस ग्रन्थ मे नही है। स्थायिभाव ही अन्य शेष ४१ भावों से सयुक्त होकर रसत्व को प्राप्त करता है, अतः स्थायिभाव और अन्य भावो मे वैसा ही पारस्परिक [क्रमशः मुख्य-गौण] सम्बन्ध है जैसा कि राजा और उसके सहचरो मे होता है। (ना० शा० ७।७ वृत्ति, पृष्ठ ८१)

भरत के कथनानुसार भाव का व्युत्पत्तिपरक अर्थ है—भावयन्तीति भावा.। किं भावयन्ति ? उच्यते—वागंगसत्त्वोपेतान् काव्यार्थान् भावयन्ति इति भावा.। (ना० शा० ७ म अ०) अर्थात् जो वाचिक, आगिक तथा सात्त्विक अभिनयो के द्वारा सामाजिक के हृदय मे जो काव्यार्थों का भावन (अवगमन) कराते हैं, वे भाव कहाते हैं। रस और भाव के पारस्परिक सम्बन्ध के विषय मे भरत का कथन है कि इनमे एक-दूसरे के प्रति कारण-कार्य-सम्बन्ध है—भावो से विभिन्न रसो की उत्पत्ति होती है। इस उत्पत्ति के लिए भावो को अभिनय का आश्रय लेना पडता है और तभी भरत के शब्दो मे कह सकते हैं—

न भावहीनोऽस्ति रसो न भावो रसवर्जितः।
परस्परकृता सिद्धिस्तयोरभिनये भवेत् ॥ ना० शा० ६।३६

भरत के कथनानुसार विभाव, अनुभाव, व्यभिचारिभावो के सयोग से रस की निष्पत्ति होती है—विभावानुभावव्यभिचारिसंयोगाद् रसनिष्पत्तिः, और इस सिद्धान्त-कथन की व्याख्या मे उनका कहना है कि नाना भावों से उपहित स्थायिभाव ही रसत्व को प्राप्त करते है—'× × × एवं नानाभावोपहिता अपि स्थायिनो भावा रसत्वमाप्नुवन्ति ॥ (ना० शा० पृष्ठ ७१)। विभावादि के सयोग से उत्पन्न रस को एक लौकिक उदाहरण द्वारा समझाते हुए वे कहते हैं कि जिस प्रकार ससार मे नाना प्रकार के व्यजनो, मिष्टानो और रासायनिक द्रव्यो का पारस्परिक सयोग हर्षोत्पादक षड्रसास्वाद को उत्पन्न करता है उसी प्रकार विभावादि का सयोग रस को उत्पन्न करता है। स्थायिभावो का यह आस्वाद तभी सम्भव है जब ये नाना प्रकार के भावो के नाट्कीय अभिनय से प्रकट किये गये हो और वाचिक, आगिक तथा सात्त्विक अभिनयों से सयुक्त हो। (ना० शा०, पृष्ठ ७१)

× × ×

भरत-विवेचित उपर्युक्त सामग्री के   से रुद्रट-प्रस्तुत रस-प्रसग का तुलनात्मक अध्ययन सुकर हो सकेगा। रुद्रट ने पहले दस रस गिनाये हैं—आठ भरत-सम्मत तथा दो अन्य रस—शान्त और प्रेयान्। फिर शृ गार रस का निरूपण किया गया है जिसके अन्तर्गत नायक-नायिका-भेद प्रसग भी सम्मिलित है। पुन सम्भोग शृ गार के प्रसग में कतिपय कामशास्त्रीय चर्चाओं का उल्लेख किया है। विप्रलम्भ शृ गार के अन्तर्गत इसके चार भेदो का निरूपण किया गया है। प्रसगवशात् काम की दस दशाओं की चर्चा की गयी है। मान-विमोचन कराने के अनेक उपायों का उल्लेख किया गया है। पुन. शृ गाराभास पर किंचित् प्रकाश डाला गया है और फिर शृ गार से सम्बद्ध रीतियो का निर्देश किया गया है। इसके उपरान्त शेष रसो की सामान्य चर्चा की गयी है और इन रसों के साथ भी रीति-प्रयोग का उल्लेख किया गया है।

इन दोनो आचार्यों के प्रसगो को देखने से एक स्थिति तो यह मानी जा सकती है कि भरत-विवेचित रस-सामग्री के यथावश्यक एव सुकर प्रसगो को जिज्ञासु-जनो के अध्ययनार्थ एकत्र सजो दिया गया है; और दूसरी स्थिति यह कि रुद्रट के सम्मुख भरत-प्रणीत ग्रन्थ है ही नहीं। भरत और रुद्रट के बीच रस-विषयक जो प्रसग धीरे-धीरे अधिक प्रचलित होते गये और सामान्य अध्येताओ के लिए पर्याप्त समझे जाने के कारण और भी अधिक प्रचार पा गये, उन्ही का सकलन रुद्रट ने किया है। इस दृष्टि से भरत का रुद्रट पर साक्षात् प्रभाव न होकर असाक्षात्—बहुत दूर का ही—प्रभाव मानना चाहिए। हमें दूसरी स्थिति मान्य प्रतीत होती है। यदि रुद्रट के सम्मुख भरत का ग्रन्थ होता त े वे अन्य अनेक आवश्यक प्रसगो का समावेश इस ग्रन्थ में करते। रस-निष्पत्ति-विषयक सूत्र तो अनिवार्यत: उद्धरणीय था। इसके अतिरिक्त रुद्रट द्वारा शान्त और प्रेयान् नामक दो अन्य रसो का समावेश भी इस तथ्य को ही सूचित करता करता है। नाट्यशास्त्र के अननुरूप नायक-नायिका-भेद प्रसग का शृ गार रस के अन्तर्गत निरूपण करना भी इसी ओर इंगित करता है।

प्रतिपादन - शैली की दृष्टि से देखें तो यह स्थिति और भी अधिक मान्य प्रतीत होती है। दोनो ग्रन्थो की विषय-सामग्री के नियोजन एव क्रमबद्धता में तो अन्तर है ही, साथ ही शैली में भी अन्तर है—शैली से हमारा तात्पर्य केवल यह नहीं है कि भरत ने पद्य के साथ-साथ गद्य का भी प्रयोग किया है—

यदि रुद्रट चाहते तो उनके अनुकरण में रस-जैसे गम्भीर विषय को सुव्यवस्थित रूप देने के उद्देश्य से गद्य का भी आधार ग्रहण करते। शैली से हमारा तात्पर्य इनके वाक्य-विन्यास से भी है। रुद्रट पर भरत की शैली का किसी रूप में प्रभाव स्वीकृत नहीं किया जा सकता। भरत का वाक्य-विन्यास सुगम एवं सरल है, रुद्रट का संकुल एवं सुघटित है। उदाहरणार्थ शृंगारेतर रसों को लीजिए। रुद्रट अपने वक्तव्य को केवल चार पंक्तियों में समाप्त कर देने के लिए सचेष्ट हैं (*प्रेयान् इसका अपवाद है। इसका निरूपण छः पंक्तियों में है*), किन्तु भरत इस बन्धन से विमुक्त हैं। अस्तु ! निष्कर्षतः रुद्रट पर भरत का साक्षात् प्रभाव स्वीकृत नहीं करना चाहिए।

× × ×

रुद्रट के ग्रन्थ से प्रतीत होता है कि अब रस की महत्ता कहीं अधिक बढ़ चली थी। इनसे पूर्व भरत ने रस को नाटक के अनिवार्य धर्म के रूप में स्वीकार किया था तथा कतिपय काव्यतत्त्वों—अलंकार, गुण, दोष—के रसाश्रयत्व पर भी उन्होंने प्रकाश डाला था।[1] इसके उपरान्त अलंकारवादी आचार्यों—भामह, दण्डी और उद्भट—ने यद्यपि रस, भाव आदि को रसवद्-आदि अलंकार-नाम से अभिहित किया, तथापि उन्होंने अपने दृष्टिकोण से इसे समुचित समादर भी प्रदान किया। भामह और दण्डी ने इसे महाकाव्य के लिए 'एक आवश्यक तत्त्व' के रूप में स्वीकृत किया।[2] भामह के कथनानुसार, कटु औषध के समान कोई शास्त्र-चर्चा भी रस के संयोग से मधुवत् बन जाती है।[3] दण्डी का माधुर्य गुण 'रसवत्' ही है, तथा इसकी यह रसवत्ता मधुपों के समान सहृदयों को प्रमत्त बना देती है।[4] *दण्डी के 'माधुर्य' गुण का एक भेद*

---

१. (क) एतद् रसेषु भावेषु सर्वकर्मक्रियासु च।
सर्वोपदेशजननं नाट्यमेतद् भविष्यति॥ नाट्यशास्त्र १।११०

(ख) बहुरसकृतमार्गं सन्धिसन्धानसंयुतम्।
भवति जगति योग्यं नाटकं प्रेक्षकाणाम्॥ वही १७।११३

२. (क) युक्तं लोकस्वभावेन रसैश्च सकलैः पृथक्। का० अ० १।२१
(ख) अलंकृतमसंक्षिप्तं रसभावनिरन्तरम्। का० आ० १।१८

वस्तुगत माधुर्य कहाता है, जिसका अपर नाम 'अग्राम्यता' है। दण्डी के शब्दों में, यही अग्राम्यता काव्य में 'रस' के सेचन के लिए सर्वाधिक शक्तिशाली अलकार है।[3]

इधर रुद्रट ने अलकारवादी आचार्यों के अननुरूप रस को रसवद् अलकार के अन्तर्गत समाविष्ट न कर स्वतन्त्र रूप से ही वर्णित किया है। भामह और दण्डी के समान इन्होंने भी रस को महाकाव्य के लिए आवश्यक तत्त्व माना है।[4] प्रथम बार इन्होंने ही वैदर्भी, पाचाली नामक रीतियों और मधुरा तथा ललिता वृत्तियों के रसानुकूल प्रयोग का निर्देश किया है,[5] शृ गार रस का प्राधान्य स्वीकार किया है[6] तथा कवि को रस के लिए प्रयत्नशील रहने का आदेश दिया है।[7]

इन प्रसगों में से महाकाव्य में रसप्रयोग के प्रसग को छोड़कर शेष सभी प्रसग ऐसे हैं जो अलकारवादी आचार्यों की दृष्टि में रखते हुए नितान्त नूतन हैं। यह सब इस बात का सूचक है कि रुद्रट अलकारवादी आचार्यों से प्रभावित न होकर किसी अन्य अप्रख्यात आचार्यवर्ग से ही प्रभावित था।

रुद्रट के रस-प्रकरण के अन्तर्गत तीन प्रसग विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं—(१) प्रेयान् रस का निरूपण, (२) शृ गार रस की उत्कृष्टता, (३) नायक-नायिका-भेद।

प्रेयान् रस—

रुद्रट के अनुसार प्रेयान् रस का स्थायिभाव है स्नेह। स्नेह कहते हैं निश्चल मनोवृत्ति को, जो प्रकृति-साहचर्य अर्थात् स्वभाव की समानता के

१. स्वादुकाव्यरसोन्मिश्रं शास्त्रमप्युपयुञ्जते।
प्रथमालीढमधवः पिबन्ति कटु भेषजम्॥ का० अ० ५।३

२. मधुरं रसवद् वाचि वस्तुन्यपि रसस्थितिः।
येन माद्यन्ति धीमन्तो मधुनेव मधुव्रताः॥ का० आ० १।५१

३. कामं सर्वोऽप्यलकारो रसमर्थे निषिञ्चतु।
तथाप्यग्राम्यतैवैनं भारं वहति भूयसा॥ का० आ० १।६०

४ का० अ० १६।१,५ (पृष्ठ ४१८, ४१९)

५. वही १४।३७ (पृ० ४०६)

६. वही १४।३८ पृ० (४०६)

७ का० अ० १२-२ (पृ० ३६०)

कारण तथा [पारस्परिक] उपचार (शिष्ट व्यवहार) के कारण उत्पन्न होती है।[1] रुद्रट से पूर्व यद्यपि इस रस की कल्पना नहीं हुई थी तो भी प्रेय. (प्रेयस्वत्) अलंकार के रूप में इसके स्रोत अवश्य विद्यमान थे।

२. शृंगार रस—

रुद्रट के अनुसार शृंगार रस अन्य रसों की अपेक्षा इसी कारण प्रधान है कि इससे बाल से वृद्ध-पर्यन्त सभी मानव प्रभावित होते हैं। (१४।३८)

रुद्रट यदि शृंगार रस की उत्कृष्टता के प्रसंग में उक्त व्यावहारिक कारण के अतिरिक्त पूर्ववर्ती एवं परवर्ती आचार्यों के[2] समान कतिपय शास्त्रीय कारण भी प्रस्तुत कर देते तो उनका यह प्रसंग कहीं अधिक पुष्ट होता। फिर भी, इस सम्बन्ध में व्यावहारिक कारण प्रस्तुत करने का सर्वप्रथम श्रेय इनको ही देना चाहिए।

नायक-नायिका-भेद—

रुद्रट का यह प्रकरण इतना सुव्यवस्थित है कि शताब्दियों-पर्यन्त इस भेद-योजना को ही मूल रूप में अपनाया गया। यहाँ तक कि विश्वनाथ एवं भानुमिश्र जैसे परवर्ती आचार्यों के ग्रन्थों में भी अधिकतर स्थलों पर रुद्रट के इसी प्रकरण का अनुकरण एवं अनुमोदन किया गया प्रतीत होता है। किन्तु इस सुव्यवस्था का सारा श्रेय रुद्रट को नहीं दिया जा सकता। भरत और रुद्रट के बीच लगभग एक सहस्र वर्ष के सुदीर्घ काल में काल-कवलित अनेक ग्रन्थों में इस प्रसंग की चर्चा हुई होगी, जिसका विकसित एवं परिष्कृत रूप रुद्रट के ग्रन्थ में स्थान पा गया। जो हो, आज तक की जानकारी के अनुसार काव्यालंकार ही प्रथम काव्यशास्त्र है जिसके नायक-नायिका-भेद प्रकरण को मूलरूप में अपनाकर समय-समय पर उसमें परिवर्द्धन एवं परिष्करण होता रहा।

प्रक्षिप्त अंश—रुद्रट के इसी प्रकरण में उल्लिखित १४ कारिकाएँ [१२।४०—१ से १४] प्रक्षिप्त मानी जाती हैं। इस पाठांश में सर्वप्रथम

---

१. का० अ० १५. १७-१६

२. नाट्यशास्त्र ६.४५ वृत्ति, काव्यानुशीलन (हेमचन्द्र) पृष्ठ ८१, एकावली पृष्ठ ६६, नाट्यदर्पण पृष्ठ १६३, साहित्यदर्पण ३. १८६, भावप्रकाश पृष्ठ ६०, प्रतापरुद्रयशोभूषण, पृष्ठ १६४ आदि।

इनके अतिरिक्त रुद्रट-प्रस्तुत विपरीत-कल्पना और अपहेतु को भामह-प्रस्तुत कल्पनापुष्ट और हेतुहीन के साथ 'किंचिद् नाम-साम्य के आधार पर' परस्पर-सम्बद्ध किया जा सकता है।

रुद्रट ने चार उपमा-दोषों—सामान्य शब्दभेद, वैषम्य, असम्भव और अप्रसिद्धि का भी निरूपण किया है, जिनके सम्बन्ध में नमिसाधु की टिप्पणी है कि भामह-सम्मत सात उपमा-दोषों का अन्तर्भाव इन्हीं चारों में हो सकता है।
(देखिए—पृष्ठ ३४७-३४८)

केवल रुद्रट-प्रस्तुत दोष—

असमर्थ, देश्य, सकीर्ण, गर्भित, गतार्थ, निरागम, बाधयन्, असम्बद्ध, विरस, तद्वान्, अतिमात्र, न्यून, अधिकपदता, अपुष्टार्थता और अचारुपदता।

इन नवीन दोषों को सर्वप्रथम प्रतिपादित करने का श्रेय तो रुद्रट को मिलेगा ही, साथ ही जिस रूप से इन्होंने सर्वप्रथम सभी दोषों को पद, वाक्य तथा अर्थगत रूप में वर्गीकृत एवं व्यवस्थित किया है और जिस सम्यग् रूप से इनके लक्षण एवं उदाहरण प्रस्तुत किये हैं, उसका श्रेय भी इन्हें ही मिलेगा। परिणामतः, इन्हीं का दोष-प्रकरण भी परवर्ती आचार्यों द्वारा स्रोत स्वरूप प्रयुक्त होता रहा है।

अन्य काव्य-तत्त्व

जैसा कि पहले निर्दिष्ट कर आये हैं, कलेवर की दृष्टि से अलकार, रस-एवं नायक-नायिका-भेद और दोष के उपरान्त काव्यलक्षण, काव्यप्रयोजन, काव्यहेतु आदि १६ काव्य-तत्त्वों[1] की चर्चा उल्लेखनीय है—

१ काव्यलक्षण—'ननु शब्दार्थौ काव्यम्' रुद्रट के इस कथन को यदि काव्यलक्षण स्वीकार कर लें तो यह कथन अतिशिथिल है। इससे काव्य का वास्तविक रूप अवगत नहीं होता। शब्द और अर्थ अपने समन्वित रूप में तो न केवल काव्य के लिए अपेक्षित हैं अपितु शास्त्र एवं वार्ता के लिए भी अपेक्षित हैं। अतः यह लक्षण अतिव्याप्ति दोष से दूषित है। वस्तुतः रुद्रट को 'ननु शब्दार्थौ काव्यम्' द्वारा काव्यस्वरूप अथवा काव्यलक्षण प्रस्तुत करना अभीष्ट था भी नहीं। वे तो शब्द और अर्थ का स्वरूप प्रतिपादित करना चाहते थे और इसीकी भूमिका-स्वरूप उन्होंने उक्त वाक्य

---

१ देखिए पृष्ठ १०७

कहा था—स्वयं 'ननु' शब्द से यही तथ्य स्पष्टतः लक्षित होता है। अस्तु! और इसी तथ्य की पुष्टि इस ग्रन्थ के विषय-क्रम से भी हो जाती है। ग्रन्थ के द्वितीय अध्याय में 'ननु शब्दार्थौ काव्यम्' कथन के उपरान्त शब्द के प्रकारों का निर्देश है, पुन. शब्द से सम्बद्ध वृत्ति, रीति एवं वाक्य की चर्चा है; फिर इसी अध्याय तथा तृतीय, चतुर्थ एवं पंचम अध्याय में शब्दालंकारों का निरूपण है और षष्ठ अध्याय में पदगत तथा वाक्यगत दोषों का। सप्तम अध्याय में अर्थ का लक्षण तथा वाक्यार्थ की चर्चा के उपरांत अर्थालंकारों का निरूपण प्रारम्भ हो जाता है, जो दशम अध्याय में जाकर समाप्त होता है। ग्रन्थ-प्रणेता अब भी अपना क्रम-निर्वहण करने के उद्देश्य से एकादश अध्याय में अर्थदोषों का निरूपण करता है। यदि वह चाहता तो दोष-प्रकरण को एक साथ निरूपित करता, किन्तु शब्दालंकारों के बाद शब्ददोष और फिर अर्थालंकारों के बाद अर्थदोष का निरूपण इसी तथ्य का द्योतक है कि 'शब्दार्थौ काव्यम्' यह कथन काव्यलक्षण का सूचक न होकर मूलतः काव्य के एक सामान्य स्वरूप का सूचक है और इसके बाद ग्रन्थ-प्रणेता पहले शब्द और फिर अर्थ के आधार पर विभिन्न काव्य-तत्त्वों का निरूपण करता चला जाता है।

[२, ३] **काव्यहेतु और काव्यप्रयोजन**—इनमें से काव्यहेतु-प्रसंग का तो रुद्रट ने यथावत् निरूपण किया है, किन्तु काव्यप्रयोजन का निरूपण करना वस्तुत. उसका उद्देश्य नहीं था। रस-निरूपण की भूमिका-स्वरूप ही इसका वर्णन दो स्थलों पर हुआ है—पहली बार ग्रन्थारम्भ में (देखिए पृष्ठ ५), और दूसरी बार प्रसंगवश (देखिए पृष्ठ ३६०)। ग्रन्थारम्भ में यदि रुद्रट का प्रमुख उद्देश्य काव्यप्रयोजन निर्दिष्ट करना रहा भी हो, किन्तु दूसरे स्थल पर तो वे प्रकारान्तर से काव्य-महिमा का निर्देश कर रहे हैं। उनका वह प्रकरण न तो सुसम्बद्ध है और न गम्भीर—

ननु काव्येन क्रियते सरसानामवगमश्चतुर्वर्गे।

× × ×

तस्मात् तत्कर्तव्यं यत्नेन महीयसा रसैर्युक्तम्॥ १२।१,२

और इसके बाद रस-प्रकरण आरम्भ हो जाता है।

हाँ, काव्यहेतु-प्रसंग अपेक्षाकृत अधिक सुसम्बद्ध, प्रौढ एवं गम्भीर है। शक्ति, व्युत्पत्ति और अभ्यास नामक काव्यहेतु तो रुद्रट से पहले भी निरूपित

हो चुके थे, किन्तु शक्ति की जो परिभाषा रुद्रट ने प्रस्तुत की है, वैसी न तो इनसे पूर्व प्रस्तुत हुई थी और न इनके बाद हुई है—

मनसि सदा सुसमाधिनि विस्फुरणमनेकधाऽभिधेयस्य।
अक्लिष्टानि पदानि च विभान्ति यस्यामसौ शक्तिः॥ १।१५

पाश्चात्य दृष्टि से जिन काव्यप्रेरक तत्त्वों का प्रायः उल्लेख किया जाता है, उनका समन्वित रूप कुछ इस प्रकार बनता है : जगत् की नानाविध घटनाओं के अनुभव से हमारे मन पर जो प्रभाव पड़ते हैं उनको—दूसरे शब्दों में, 'आत्म' और 'अनात्म' के संघर्ष से उत्पन्न भावों को—अभिव्यक्त करने की तीव्र अभिलाषा काव्य की प्रेरणा है, और यह काव्यगत अभिव्यक्ति सामान्य कोटि की न होकर सुन्दर शब्दों में होनी है। अब रुद्रट के शब्दों को देखिए—'अभिधेयस्य अनेकधा विस्फुरणम् यस्याम् असौ शक्तिः'—काव्यप्रणयन-प्रतिभा उसे कहते हैं जिसमें वर्ण्य विषय का—जगत् की घटनाओं का—नानाविध रूप में विस्फुरण *अर्थात् अभिव्यक्ति की जाती है, और यह अभिव्यक्ति 'सुसमाधिनि मनसि'* – सुसमाधिस्थ मन में—एकाग्रचित्त में (आधुनिक शब्दावली में कहें तो कवि के 'आत्म' में) होती है तथा ऐसी अभिव्यक्ति में 'अक्लिष्टानि पदानि विभान्ति'—अक्लिष्ट (सुन्दर एवं विषयानुरूप) पद सुशोभित होते हैं।

निस्सन्देह ऐसे स्थलों को देखकर कुछ इस प्रकार के निष्कर्ष निकालना नितान्त भ्रमपूर्ण एवं अवैज्ञानिक ही है कि आधुनिक पाश्चात्य चिन्तकों एवं मनीषियों ने भारतीय शास्त्र से प्रभावित होकर अपने विचार प्रस्तुत किये हैं, किन्तु यह तो मानना पड़ेगा कि मानव-मन के ऐक्य के कारण ही इस प्रकार की समान धारणाएँ सम्भव हो पाती हैं। रुद्रट के काव्यहेतु-प्रसंग में प्रतिभा के सहज और उत्पाद्य नामक दो भेद भी सर्वप्रथम यहीं निर्दिष्ट हुए हैं, जिन्हें परवर्ती आचार्यों में से हेमचन्द्र ने *उल्लिखित किया है।*

(४) **कवि-महिमा**—यह प्रसंग अति सामान्य कोटि का है।

(देखिए पृष्ठ १६)

(५, ६, ७, ८) *शब्द, वृत्ति, रीति तथा वाक्य—ये सभी परस्पर-*सम्बद्ध प्रसंग हैं, जिनकी चर्चा द्वितीय अध्याय के पूर्वार्द्ध में की गयी है। मूलतः यहां रुद्रट का ध्येय शब्द की परिचिति प्रस्तुत करना है, जिसकी 'प्रतिज्ञा' उन्होंने 'ननु शब्दार्थौ काव्यम्' के रूप में की थी। सार्थक वर्णसमूह को शब्द कहते हैं। शब्द के चार प्रकार हैं– नाम, आख्यात, उपसर्ग और निपात। कुछ

मनीषी पाँचवा प्रकार भी मानते हैं—कर्मप्रवचनीय। [देखिए काव्यालंकार २।२] नाम (संज्ञा, विशेषण और सर्वनाम—विशेषतः संज्ञा और विशेषण शब्दों) की वृत्ति दो प्रकार की होती है—समासवती और असमासवती, और समास के तारतम्य के आधार पर रीतियाँ चार प्रकार की होती हैं—वैदर्भी, पाचाली, लाटीया और गौडीया। सव्यपेक्ष वृत्ति वाले शब्दों का समूह वाक्य कहाता है, वाक्य तथा अनेक गुणों से सम्पन्न होना चाहिए। (२।८) वाक्यों में सौंदर्य-विधायक पदों का प्रयोग प्राकृत, संस्कृत आदि छह भाषाओं में होता है। (२।११-१२)

(९, १०) अर्थ और वाचक शब्द—ये दोनों प्रसंग भी परस्पर-सम्बद्ध होने के कारण एक साथ निरूपित हुए हैं। अर्थ अभिधावान् होता है। इसका वाचक कोई न कोई शब्द होता है। वाचक शब्द चार प्रकार का है—द्रव्य, गुण, क्रिया और जाति। (इनके विशेष विवरण के लिए देखिए ७।१-८) वाचक शब्द का ऐसा व्यवस्थित स्वरूप-निर्देश भी काव्यशास्त्रीय ग्रन्थों में सर्वप्रथम इसी ग्रन्थ में प्रस्तुत हुआ है।

(११) महाकाव्य—महाकाव्य का स्वरूप सर्वप्रथम इस ग्रन्थ में सर्वाधिक विशद एवं स्वच्छ रूप में प्रस्तुत हुआ है। इसमें ग्रन्थकार का लक्ष्य राज-सम्बन्धी कथानक के विवरण प्रस्तुत करने का अधिक रहा है—सैन्य-प्रयाण, स्कन्धावारों की स्थापना, मन्त्रिपरिषद्, सामूहिक संगीत, मद्यपान आदि। इसी प्रसंग में निम्नोक्त पद्य उल्लेखनीय है —

योऽद्धय प्रातरिति प्रबन्धमधुपीति निशि कलसश्रेय्यः।
स्वबन्ध विशकमानान् सवशान् दापयेत् सुभटान्॥ १६।१७

(१२, १३, १४) महाकथा, आख्यायिका, लघुकाव्य—इन तीनों प्रसंगों के स्वरूप-निर्देश में भी यथेष्ट सामग्री प्रस्तुत की गयी है। (देखिए १६।२०-३५)

(१५) अन्य काव्य—रुद्रट ने महाकाव्य, कथा, आख्यायिका और लघुकाव्य के अतिरिक्त निम्नोक्त अन्य चार काव्य-रूपों का उल्लेख-मात्र किया है—वर्णक, प्रशस्ति, कुलक और नाटक, इन पर विशिष्ट प्रकाश नहीं डाला। (देखिए १६।३३)

इसी प्रसंग में 'काव्यं तद्बहुभाषं विचित्रमयन्त्रं चाभिहितम्' पंक्ति व्याख्यापेक्ष है। नमिसाधु ने इसे नाटक का विशेषण मानते हुए कहा है कि नाटक नामक काव्य बहुभाषा-सम्पन्न होता है, तथा [सन्धि-सन्ध्यंग से संयुक्त

होने के कारण] विचित्र होता है। किन्तु हमें ऐसा प्रतीत होता है कि रुद्रट का तात्पर्य उपर्युक्त चार काव्य-रूपों के अतिरिक्त दो अन्य रूपों से भी है—बहुभाषा-संयुक्त काव्य और विचित्र काव्य, जिसमें अनेक काव्य-रूपों का सम्मिश्रण हो। उक्त कथन में 'काव्य' शब्द नाटक के लिए भी प्रयुक्त हो सकता है, क्योंकि नाटक भी काव्य का ही एक रूप है, किन्तु इस अर्थ की अपेक्षा हमें अधिक समुचित अर्थ यही प्रतीत होता है कि काव्य को 'बहुभाषम्' और 'विचित्रम्' का विशेष्य मानकर ये दो अन्य काव्य-रूप स्वीकृत किये जाएँ।

(१६) काव्य में निषिद्ध प्रसंग—यह स्थल रुद्रट की अपने युग के प्रति सजगता एवं चेतनता प्रकट करता है। [देखिए पीछे पृष्ठ ९९]

उदाहरण-भाग

इस ग्रन्थ के उदाहरण-भाग का प्रणयन ग्रन्थकार ने स्वयं किया है, अथवा इन्हें किसी अप्रख्यात काव्यशास्त्रीय ग्रन्थों से अथवा विभिन्न काव्य-ग्रन्थों से संकलित किया है, अथवा किसी मौखिक परम्परा से इन्हें लिया है—यद्यपि इस सम्बन्ध में निश्चित रूप से कुछ नहीं कहा जा सकता, फिर भी सम्भावना यही की जा सकती है कि उपर्युक्त चारों स्रोत ही प्रयुक्त हुए हैं; और शायद स्व-प्रणीत उदाहरण संख्या में बहुत अधिक होंगे। इस दृष्टि से इनके उपरान्त मौखिक परम्परा से प्राप्त उदाहरणों को स्थान देना चाहिए, फिर काव्यशास्त्रीय ग्रन्थों में प्राप्त तथा अन्ततः काव्य-ग्रन्थों से प्राप्त उदाहरणों को।

उदाहरण—भाग का सम्यक् अध्ययन करने से यह तथ्य स्पष्ट रूप से लक्षित होता है कि ग्रन्थकार का उद्देश्य लक्षण-पक्ष की पुष्टि करना है—उसने इस प्रकार के सुनियोजित उदाहरण प्रस्तुत किये हैं जो स्व-सम्बद्ध विभिन्न काव्य-तत्त्वों के स्वरूप का अवबोध कराने में नितान्त समर्थ हैं। वस्तुतः काव्यशास्त्रीय ग्रन्थ के प्रणेता के रूप में रुद्रट की सफलता भी इसी तथ्य में निहित है कि वह उदाहरणों के माध्यम से पाठक को विभिन्न काव्य-तत्त्वों के स्वरूप से अवगत करा दे। इसके लिए उसे अति श्रम करना पड़ा होगा—विशेषतः यमक अनुप्रास, शब्दश्लेष, चित्र, विरोधाभास, अर्थश्लेष जैसे अलंकारों के उदाहरण-निर्माण अथवा संकलन करने में, क्योंकि इनमें कवि-कल्पना की इतनी आवश्यकता नहीं रहती जितनी कि कवि के शब्द-कौशल (पच्चीकारी) की।

इसी प्रकार विभिन्न दोषों के उदाहरणों का निर्माण करना भी सरल कार्य नहीं है, क्योंकि जानबूझकर अशुद्ध प्रयोग करना मन पर अनावश्यक बोझ

डालता है। दोषों के उदाहरणों को विभिन्न काव्य-ग्रन्थों से सकलित करना तो अपेक्षाकृत और भी अधिक दुष्कर है, क्योंकि दोषदृष्टि के साथ किसी ग्रन्थ के अध्ययन के लिए अनुदारता एव असहानुभूति जैसी अवाञ्छनीय एव काव्यास्वाद-विघातक भावनाओं का जानबूझकर प्रश्रय लेना आवश्यक हो जाता है — दूसरे शब्दो मे, सहृदयता को किसी-न-किसी रूप मे कुण्ठित एव सविद्ध करना पड़ता है। रुद्रट-प्रस्तुत दोषों के प्रायः सभी उदाहरण सुघटित एव सटीक हैं—निस्सदेह ग्रन्थकार को इनके पणयन एव सकलन के लिए भी पर्याप्त प्रयास करना पडा होगा। अलकार और दोष-प्रकरणों के अतिरिक्त इस ग्रन्थ मे निरूपित तीसरा काव्यतत्त्व है—रस, तथा इसी मे अन्तर्भूत नायक-नायिका-भेद। रुद्रट ने इन दोनो काव्य-तत्त्वो के विभिन्न भेदोपभेदो के उदाहरण प्रस्तुत नही किये। इस अभाव के तीन कारण सम्भव हो सकते हैं—एक यह कि इन उदाहरणों से ग्रन्थ के कलेवर मे वृद्धि हो जाती — विशेषत. नायक-नायिकाओ के विभिन्न भेदोपभेदो के उदाहरण देने से। दूसरा कारण यह है कि ग्रन्थकार को किसी प्रख्यात एव अप्रख्यात काव्य-शास्त्रीय ग्रन्थ से इनके सुसम्बद्ध एव सुसगत उदाहरण नही मिले। तीसरा कारण यह कि ग्रन्थकार का लक्ष्य एक अलकार-विषयक ग्रन्थ का निर्माण करना था, न कि रस-विषयक ग्रन्थ का। कारण जो भी हो, रुद्रट यदि नायक-नायिका-भेद के न सही, शृ गार आदि दसो रसो के—विशेषत प्रेयान् रस के, जिसका सर्वप्रथम उल्लेख उन्ही के ग्रन्थ मे मिलता है—उदाहरण प्रस्तुत कर देते तो ग्रन्थ का महत्त्व कही और अधिक बढ जाता—किसी अलकार-ग्रन्थ में यदि दोष-प्रकरण का विस्तृत एवं विशेषत सोदाहरण निरूपण किया जा सकता है तो रस-प्रकरण मे उदाहरणो की प्रस्तुति तो और भी अधिक वाञ्छनीय थी।

रुद्रट-प्रस्तुत उदाहरण लक्षण-लक्ष्य-समन्वय की दृष्टि से निस्सन्देह सुगठित एव सुघटित हैं, किन्तु शायद यही इनका गुण निम्नोक्त अवगुण का कारण भी बन गया है कि काव्य-सौन्दर्य की दृष्टि में वे उतने प्रशसनीय नही बन पाये। इनका अनुभूति-पक्ष प्रायः शिथिल है। पाठक किसी काव्य-तत्त्व के विभिन्न घटको को तो इनमे पा लेता है, पर वे उसके हृदय को आकृष्ट नही कर पाते। इसी कारण हमारा अनुमान है कि अधिकतर उदाहरण विभिन्न काव्यग्रन्थो से सकलित न किये जाकर स्वनिर्मित ही प्रस्तुत किये गये हैं। यदि यह परिकल्पना सत्य है तो रुद्रट सफल आचार्य तो थे, पर वे सफल कवि नही थे। अन्यथा उत्प्रेक्षा, सूक्ष्म जैसे अलकारो के उदाहरणो मे भी, जहाँ

काव्यचमत्कार-प्रदर्शन का अवकाश रहता है, रुद्रट केवल इतिवृत्त का ही उपन्यास करके रह गये है।

प्राय उदाहरणों के विषय निम्नोक्त है—नायिका का रूप-चित्रण, नायक एवं नायिका के संयोग तथा वियोग के चित्र[१], विभिन्न देवताओ, विशेषत शिव-पार्वती की स्तुति[२], राजा की स्तुति, किसी राजा द्वारा प्रदत्त दान[३], वसन्त एव शरद् ऋतुओं का वर्णन[४], नीति[५], कविप्रशंसा[६], आदि। इन विषयों मे सम्बन्धित अधिकतर पद्य परम्पराभुक्त एवं काव्यरूढ हैं। वस्तुतः विशेष (विरोधाभास), परिसंख्या, एकावली, विभावना, विशेषोक्ति, तद्गुण जैसे अलंकारों मे तो प्राय इसी प्रकार की शैली सुरुचिपूर्ण सहृदयो के लिए अवाञ्छनीय रहती है। फिर भी, कतिपय उदाहरण कवित्वपूर्ण हैं, जिनमे कल्पना-जन्य सौन्दर्य निहित है—

—राजभवन के नीली मणियो से बने हुए फर्श पर जब चन्द्रमा की किरणें पड़ती है तो ऐसा लगता है, जैसे पत्ते उग आये हो और तारो का प्रतिबिम्ब पड़ने से वहाँ फूल लगे दिखायी देते हैं। ६।१३

—बहुत घने कुंकुम राग से अरुण यह [प्रातःकालीन] सन्ध्या [रवि-रथ की] पताका के समान शोभित हो रही है, और [मानो] उदयाचल की ओट मे छिपे सूर्य की समीपता सूचित कर रही है। ८।३७

—आपके शासन मे अनेक यज्ञो के धुएँ से व्याप्त दिशाओ को देखकर हम वर्षागमन की आशंका से व्याकुल हो रहे हैं। ८।८८

—मदिरा के मद से कुछ-कुछ लाल और भ्रमरसमूह के समान काले

१. (क) ४।१९, ७।१४, २२, ८।६, ८, १०, १६, १८, २०
(ख) ७।३३, ५७
(ग) ६।१०; ७।१६, ५५, ६०
२ ५।६-६, १२, १८, २१, ७।३६, ३७
३. ५।३०, ६।३०, ३१, ३७; ७।२८, ४३, ४६, ५०, ७५; २।२७
४. (क) २।३०, ३।१४, ७।२५
(ख) ७।२६, ६०; ८।६२
५. ७।७६, ८।२०, ८।२३
६. ६।१६

बालों की वेणी वाला यह तरुणी का मुख है—ऐसा सभी लोग कहते हैं, किंतु मेरा विचार है कि यह चन्द्रमा है, और अभी-अभी उदय होने से कुछ-कुछ लाल है, तथा उदयगिरि पर स्थित रात्रि के कुटिल अन्धकार ने इसे सम्भवत पीछे से पकड रखा है। ८।७०-७१

—*क्या यह चन्द्रबिम्ब है ? यदि है तो इसमें कलंक क्यो नही ? क्या* यह मुख है ? यदि यह मुख है तो इसकी इतनी प्रभा कैसे ? फिर यह क्या हो सकता है ? हे सुन्दरि ! महल की छत पर तुम्हारे सारे शरीर के छिप जाने के कारण केवल तुम्हारे मुख को देखकर पथिक लोग इस प्रकार सन्देह कर रहे हैं। ८।६०-६१

—तिरछी दृष्टि के कारण स्वभावत. चचल और सरस उस कामिनी के नेत्रयुगल मे अनुराग रहने पर भी उसे कौन जान सकता है ? ७।१०७

—जहाँ पर रात्रि मे महामणियाँ कज्जल और बत्ती के बिना ही सुरत-समय का दीपक होती हैं, और वस्त्र-विहीना वधू द्वारा [मणियों के ऊपर] डाली हुई पुष्पमाला से भी उनका प्रकाश मन्द नही पडता। ९।५३

बस, कुछ इतने ही इने-गिने उदाहरण कवि की कल्पना-शक्ति के निर्देशक हैं—अधिकतर उदाहरण परम्पराभुक्त अथवा काव्यरूढि-सम्पन्न हैं। उदाहरणार्थ --

—तुम कुछ खिन्न से दिखायी पडते हो, अवश्य ही कान्ता के चरणो पर सिर रखकर आये हो, अन्यथा तुम्हारे माथे पर यह मेंहदी का तिलक कैसे लगा ? ७।५७

—सुन्दरी के, चन्द्रमा की कला के समान कोमल, अगों को भरता तो है नवयौवन और काम बढता है विरही नवयुवकों के हृदय मे। ९।४६

—अभिसारिकाएँ निर्मल शुक्ल वस्त्र पहनने के कारण गहरी चांदनी मे अलक्षित होकर नि शक रूप से अपने प्रेमियो के घरो मे द्रुत वेग से प्रवेश कर रही हैं। ९।२३

— हे हस, मेरी प्रिया को मुझे वापस दे दो। उसे तूने ही चुराया है—क्या यह बात असत्य है ? यह तेरी गति उसकी ही है। यह तेरी अति मधुर वाणी भी उसी की ही है। ११।२३

— आपके अपराधो के साथ ही उसका सन्ताप बढ़ता जा रहा है, और

तुम्हारे स्नेह के साथ-ही-साथ वह बेचारी भी क्षीण होती जा रही है। ७।१६

—हे राजन्! कैदी शत्रुओं के [हाथ-पैरों में पड़ी] शृंखलाओं के नाद से आप निद्रात्याग करते हैं और इसी नाद में चारण लोगों द्वारा किया हुआ कलकल (प्रभात-वेला का स्तुतिगान) भी दब गया है। ७।४३

—यह चम्पक वृक्ष का शिखर पुष्पसमूह के व्याज से कामाग्नि के समान ऊँचे चढ़कर वियोगियों को जलाने की इच्छा से देख रहा है। ८।१३

—मृगशावक के समान चंचलनयना उस युवती ने अपने विमल कपोल पर तिलक क्या बनाया कि मेरे मन पर अपने शरीर का चित्र बना डाला। ८।१०

—वर्षा ऋतु आने पर पानी से लबालब भरे हुए तालाब में मानो हंस के वियोग से संतप्त होकर कमलिनी ने तुरन्त जल में प्रवेश कर लिया है। ८।१५

—चन्द्रमा तो क्षीण होकर भी फिर वृद्धि को प्राप्त कर लेता है, किन्तु गया हुआ यौवन फिर वापस नहीं आता। इसलिए हे सुन्दरि! [अब] प्रसन्न हो [कर मान जाओ] ७।६०

और, यदि किन्हीं-किन्हीं उदाहरणों में परम्परागत वर्णनशैली के साथ-साथ कल्पना का मिश्रण है भी तो वे सुबुद्ध पाठक के लिए सुरुचि के स्थान पर कुरुचि के ही कहीं अधिक उत्पादक हैं। उदाहरणार्थ—

—हे राजन्! आपकी शत्रुस्त्रियों का आँसू कामुक व्यक्ति की भाँति क्या-क्या नहीं करता? पहले तो वह उनके चन्द्रबिम्ब के समान निर्मल कपोलों का चुम्बन करता है। फिर आगे बढ़ता हुआ उनके स्थूल कुचों का ताडन करता है। तत्पश्चात् उनके गले लगता है। इस प्रकार आनन्दानुभव में बाधा न डालते हुए वह उनके जघन आदि का स्पर्श करता है। १०।२६

और वैसे, इस प्रकार के पद्यों की भी कमी नहीं है जो सर्वथा काव्य-चमत्कारहीन हैं। उदाहरणार्थ—

—हे मित्र! तुम क्या सोच रहे हो? मैं तुम्हें कह रहा हूँ। इधर देखो, इधर! अरे तुम क्यों नहीं देखते हो? हे मित्र! इन ऐसी सुन्दर स्त्रियों को देखो। ६।३५

निष्कर्षतः, इस ग्रन्थ का उदाहरण-पक्ष शास्त्रीय दृष्टि से जितना अधिकांशतः सुपुष्ट है, काव्यत्व की दृष्टि से उतना ही शिथिल है। फिर भी,

यदि कतिपय परवर्ती प्रख्यात आचार्यों — मम्मट, धनञ्जय, रुय्यक और विश्वनाथ—द्वारा इनके उदाहरणों को उद्धृत किया गया है तो इसका कारण शास्त्रीय पुष्टता ही है। ऐसे उदाहरणों की संख्या कम-से-कम ६० है, और ये सभी सर्वप्रथम रुद्रट द्वारा ही प्रस्तुत किये गए हैं। इस ग्रन्थ के २५१ उदाहरणों में से ६० उदाहरणों का विश्वनाथ-पर्यन्त उद्धृत होते रहना इनकी शास्त्रीय परिपक्वता के अतिरिक्त प्रकारान्तर से इस ग्रन्थ की ख्याति का भी सूचक है।

प्रतिपादन-शैली

प्रतिपादन-शैली की दृष्टि से संस्कृत के काव्यशास्त्रीय ग्रन्थ तीन रूपों में विभक्त किये जाते हैं—पद्यात्मक शैली, सूत्रवृत्ति शैली और कारिकावृत्ति शैली।

(क) पद्यात्मक शैली—संस्कृत के कुछ आचार्यों ने केवल पद्यात्मक शैली को अपनाया है। उदाहरणार्थ भरत, भामह, दण्डी, उद्भट, वाग्भट प्रथम जयदेव, अप्पय्यदीक्षित आदि के नाम उल्लेखनीय हैं। इनमें से भरत ने कुछ स्थानों पर गद्य का भी आश्रय लिया है।

(ख) सूत्रवृत्ति शैली—वामन और रुय्यक के शास्त्रीय सिद्धान्त सूत्रबद्ध हैं, और सूत्रों की वृत्ति गद्यात्मक है। उदाहरण देने के लिए इन दोनों ने पद्य का आश्रय लिया है। इनसे मिलती-जुलती शैली भानुमिश्र, जगन्नाथ, सन्त अकबरशाह आदि की है।

(ग) कारिकावृत्ति शैली—आनन्दवर्द्धन, कुन्तक, मम्मट, विश्वनाथ आदि ने कारिकावृत्ति शैली को अपनाया है। इनके प्रमुख शास्त्रीय सिद्धान्त कारिकाबद्ध हैं। उनकी व्याख्यात्मक विवेचना गद्यबद्ध वृत्ति में है, उदाहरण पद्यात्मक है।

रुद्रट का यह ग्रन्थ पद्यात्मक शैली में लिखा गया है। प्रायः सभी लक्षण और उदाहरण पृथक्-पृथक् पद्यों में हैं, कहीं-कहीं, विशेषतः दोषप्रकरण में, एक ही पद्य में लक्षण एवं उदाहरण प्रस्तुत किये गये हैं। उदाहरणार्थ देखिए—एकादश अध्याय। प्रायः सभी अध्यायों के अन्तिम पद्य में उस अध्याय का उपसंहार प्रस्तुत किया गया है।[1]

शास्त्रीय पक्ष को प्रस्तुत करने की आदर्श शैली यह है कि उसे सरल

---

१. देखिए २, ३, ४, ५, ११, १२, १३, १४, १५, १६ अध्यायों के अन्तिम पद्य।

एव सुबोध रूप मे प्रस्तुत किया जाए। इस ग्रन्थ के शास्त्रीय पक्ष की प्रतिपादन-शैली अति दुरूह तो नही है, किन्तु सर्वत्र ऐसी सुबोध भी नही है कि पढते ही समझ मे आ जाए। अनेक स्थलो मे नमिसाधु की टिप्पणी की सहायता के बिना अर्थावबोध मे कठिनता उत्पन्न हो जाती है।[1]

इस दुर्बलता का मूल कारण है कि रुद्रट अपने प्रतिपाद्य को छन्दोबद्ध करते समय शब्दो को यथाभीष्ट 'गणो' की सुघटना के अनुसार रखते चले जाते है और इस बात की चिन्ता नही करते कि परस्पर-सम्बद्ध शब्द यथासम्भव एक-साथ ही आ जाएँ। यदि ऐसा होता तो विषय सरल बन जाता। उदाहरण के लिए निम्नांकित कारिकाएँ देखिए—८।३२, ४७, १०५। कहीं-कहीं उन्होने एक ही पद्य मे अनेक घटको को सँजो देने के उद्देश्य से विषय को दुरूह भी बना लिया है। उदाहरणार्थ, 'मान' का लक्षण लीजिए—

मान: स नायके य विकारमायाति नायिका सेर्ष्या।
उद्दिश्य नायिकान्तरसम्बन्धसमुद्भव दोषम् ॥ १२।१५

'साहित्यदर्पण' इस दृष्टि से निस्सन्देह एक सफल ग्रन्थ है। उपर्युक्त सभी पद्यो मे निरूपित काव्य-तत्त्वो की तुलना साहित्यदर्पण मे प्रतिपादित इन्ही तत्त्वो से करने पर इस कथन की पुष्टि हो जाती है। किन्तु ऐसे स्थल बहुत अधिक नही है। समग्र रूप मे ग्रन्थ की प्रतिपादन-शैली ग्रन्थकार के उपयुक्त शब्द-चयन एव प्रौढ विवेचन-क्षमता ही को प्रकट करती है।

विभिन्न काव्यशास्त्रीय सिद्धान्त और रुद्रट

अन्तत: विचारणीय प्रश्न यह है कि रुद्रट का विभिन्न काव्यसिद्धान्तो मे से किसके साथ सम्बद्ध किया जाए? उन्हे प्राय. अलकारवादी माना जाता है। इस मान्यता की पुष्टि मे एक ही प्रमुख तर्क दिया जा सकता है कि उन्होने अलकार का वर्णन अपेक्षाकृत अधिक मनोयोग के साथ किया है। उनके ग्रन्थ का लगभग आधा भाग अलकार को समर्पित है। उन्होने अपने समय तक सर्वाधिक अलकारो का निरूपण किया है। वे अनेक नवीन अलकारो को प्रकाश मे लाये है। उन्होने अनेक अलकारो के भेदोपभेदो को व्यवस्थित रूप

---

१. उदाहरणार्थ —
१।११, १।१४, १।१५, ४।१, ४।३२, ६।१२, ६।२४, ७।८, ७।१६, ५१, ८।३२, ८,४७, ८।५७, ८।६७, ८। १०५।

दिया है तथा सबसे बढ़कर तथ्य यह है कि उन्होंने अलंकारों का वर्गीकरण सर्वप्रथम प्रस्तुत किया है। किन्तु उधर भामह, दण्डी और उद्भट—इन तीनों आचार्यों को निम्नोक्त दो आधारों पर अलंकारवादी कहा जाता है—

१. भामह ने अलंकार को काव्य का अनिवार्य तत्त्व माना है :

न कान्तमपि निर्भूषं विभाति वनितामुखम् ।

२. उक्त सभी आचार्य काव्य के सभी उपादेय अंगों को किसी-न-किसी रूप में अलंकार में अन्तर्भूत करते हैं। उदाहरणार्थ, अलंकार-सम्प्रदाय के अनुसार अनुप्रास, उपमा आदि तो अलंकार हैं ही, रस, भाव, रसाभास भावशान्ति आदि भी रसवत्, प्रेयस्वत्, ऊर्जस्वि, समाहित आदि अलंकार ही हैं। दूसरे शब्दों में, रसध्वनिवादी जिन्हें 'अलंकार्य' (अलंकारों द्वारा अलंकरणीय) मानते हैं, उन्हें यहाँ 'अलंकार' कहा गया है। इसी प्रकार गुण और ध्वनि को भी प्रकारान्तर से 'अलंकार' में अन्तर्भूत किया गया है—यहाँ तक कि नाट्य-सन्धियों, नाट्यसन्ध्यंगों, रसवृत्तियों, रसदृश्यगों तथा 'भूषण' आदि लक्षणों को भी 'अलंकार' नाम देने का स्पष्ट उल्लेख किया गया है।

अब यदि इन दोनों आधारों के साथ रुद्रट-विषयक उक्त आधारों की तुलना की जाए, जिनके बल पर उन्हें अलंकारवादी मान सकते हैं, तो ये अत्यन्त अपुष्ट, तर्कहीन एवं शिथिल सिद्ध होते हैं। अलंकारों का निरूपण करना, उनका व्यवस्थित वर्गीकरण प्रस्तुत करना, उन्हें अन्य काव्यांगों की अपेक्षा ग्रन्थ का अधिक कलेवर समर्पित करना, आदि—इस तथ्य के द्योतक नहीं हैं कि रुद्रट भी भामह, दण्डी और उद्भट के समान अलंकार को काव्य का सर्वस्व स्वीकार करते थे, विशेषतः उस स्थिति में जब कि उन्होंने न तो इस प्रकार के कथन प्रस्तुत किये हैं, और न कहीं यह संकेत किया है कि किसी अलंकार में रस आदि जैसे महनीय काव्य-तत्त्व समाविष्ट किये जा सकते हैं—हाँ रुद्रट-प्रस्तुत 'भाव' अलंकार के दोनों प्रकार मम्मट सम्मत गुणीभूतव्यंग्य और ध्वनि के आसपास माने जा सकते हैं—इन दोनों आचार्यों द्वारा प्रस्तुत उदाहरण लगभग एकसे हैं। किन्तु केवल एक आनुषंगिक एवं अनायास संकेत-मात्र से ही यह सिद्ध करने का प्रयास करना भारी भूल होगी कि रुद्रट ने ध्वनि और गुणीभूतव्यंग्य जैसे महत्त्वपूर्ण काव्यतत्त्वों को 'अलंकार' में अन्तर्भूत किया है, अतः वे अलंकारवादी थे, विशेषतः उस स्थिति में, जब कि उन्होंने भामह, दण्डी एवं उद्भट के समान रस का अन्तर्भाव रसवद् अलंकार में न कर रस का विवेचन एक स्वतन्त्र काव्य-तत्त्व के रूप में प्रस्तुत किया है,

शृंगार रस को अपने दृष्टिकोण से सर्वोत्कृष्ट रस स्वीकार किया है, इस रस के आलम्बन-विभाव के रूप में नायक-नायिका-भेद का निरूपण किया है तथा रस को महाकाव्य के लिए आवश्यक तत्त्व माना है – ये सभी तथ्य उन्हें अलंकारवादी आचार्य स्वीकार करने में साधक नहीं हैं।

तो क्या रुद्रट रसवादी आचार्य थे ? हमारा विचार है कि वे रसवादी भी नहीं थे। कारण अनेक हैं—रस का यथासम्भव विस्तृत निरूपण करना, रस के प्रति समादर-भाव रखते हुए कवि को सरस काव्य की रचना का आदेश देना—ये सभी प्रसंग इस तथ्य के द्योतक नहीं हैं कि रुद्रट रसवादी आचार्य थे। उन्होंने अपने ग्रन्थ में रस-प्रकरण के अन्तर्गत न तो विभाव, अनुभाव तथा सचारिभावों का नामोल्लेख एवं स्वरूप-निर्देश किया है, न विभिन्न रसों के स्वरूप-निर्देश में इनकी सम्बद्धता दिखायी है। इतना ही नहीं, इनके ग्रन्थ में विभाव, अनुभाव, सचारिभाव जैसे शब्दों का प्रयोग तक नहीं हुआ है – भरत का रसनिष्पत्ति-विषयक सूत्र तक उद्धृत नहीं किया गया। परन्तु ये सभी प्रसंग यदि रुद्रट के ग्रन्थ में सविस्तर वर्णित किये जाते, तो भी इन्हें रसवादी आचार्य स्वीकार न किया जाता। वस्तुतः रसवादी आचार्य उन्हें स्वीकृत करना चाहिए जो रस के प्रति समादर-भाव प्रकट करने के अतिरिक्त निम्नोक्त दो आधारों को साक्षात् रूप से अथवा प्रकारान्तर से स्वीकृत करते हों —

१. रसवादी आचार्य रस के साथ अन्य काव्यतत्त्वों —अलंकार, गुण रीति आदि को सम्बद्ध करते हुए इन्हें रस के पोषक रूप में स्वीकार करते हैं। परिणामतः, इन काव्य-तत्त्वों का लक्षण रस के ही आधार पर प्रस्तुत करते हैं, इतना ही क्यों, दोष का लक्षण भी रस के ही 'अपकर्ष' पर निर्धारित करते हैं—जहाँ दोष रस का अपकर्षक है वही वह दोष है, अन्यथा दोष नहीं है। आनन्दवर्द्धन, मम्मट, विश्वनाथ आदि आचार्य इसी धारणा के पोषक हैं।[1]

---

१. (क) उपकुर्वन्ति तं सन्तं येऽङ्गद्वारेण जातुचित्।
हारादिवदलंकारास्तेऽनुप्रासोपमादयः॥ का० प्र० ८।६७
(ख) ये रसस्याङ्गिनो धर्माः शौर्यादय इवाऽऽत्मनः।
उत्कर्षहेतवस्ते स्युरचलस्थितयो गुणाः॥ का० प्र० ८।६६
(ग) पदसंघटना रीतिरङ्गसंस्थाविशेषवत्।
उपकर्त्री रसादीनाम् × × ×॥ सा० द० ९।१
(घ) रसापकर्षका दोषाः। सा० द० ७।१

२. (क) रसवादी आचार्य वे स्वीकार किये जाते हैं जो यद्यपि आनन्दवर्द्धन के अनुकरण में रस को व्यंग्य पर आश्रित मानकर उसे असंलक्ष्य-*क्रम-व्यंग्य* नामक ध्वनि का पर्याय स्वीकार करते हैं, तो भी वे रस को ही काव्य की आत्मा-रूप में स्वीकृत करते हैं। विश्वनाथ एवं उनके अनुकर्ता ऐसे ही आचार्य हैं।

(ख) इनके अतिरिक्त ऐसे आचार्य भी हैं, जो आनन्दवर्द्धन के अनुकर्ता नहीं हैं, और रस को काव्य की आत्मा मानते हैं। उदाहरणार्थ—अग्नि-पुराणकार ऐसे आचार्य हैं जिन्होंने ध्वनि-तत्त्व का उल्लेख नहीं किया, अथवा महिमभट्ट ऐसे आचार्य हैं जिन्होंने ध्वनि-तत्त्व का अपनी दृष्टि से खण्डन किया है।[1] अतः इन जैसे आचार्यों के मत में रस को ध्वनि का एक भेद मानने का प्रश्न ही उत्पन्न नहीं होता—किन्तु फिर भी, इन्होंने रस को काव्य की आत्मा माना है।[2]

उक्त दोनों धारणाओं का ही मिला-जुला परिणाम यह हुआ कि रस-वादी आचार्यों ने, दूसरे शब्दों में, रस को काव्य की आत्मा स्वीकृत करने वाले आचार्यों ने, 'काव्यपुरुष-रूपक' के प्रसंग में रस को काव्य की आत्मा घोषित करते हुए अन्य काव्य-तत्त्वों को इस रूप में प्रस्तुत किया कि वे रस-रूप केन्द्र पर ही अवस्थित रहकर अपना स्वरूप एवं अस्तित्व बनाये रह सकते हैं। राजशेखर और विश्वनाथ के कथन इस प्रसंग में उल्लेखनीय हैं,[3] और विश्वनाथ ने तो सर्वप्रथम अपना काव्य-लक्षण भी इसी मान्यता के आधार पर प्रस्तुत किया—वाक्यं रसात्मकं काव्यम्।

---

१. महिमभट्ट ने ध्वनि का अन्तर्भाव 'अनुमान' में करने का प्रयास किया है।

२. (क) वाग्वैदग्ध्यप्रधानेऽपि रस एवात्र जीवितम्। (अग्निपुराण)

(ख) काव्यस्यात्मनि संगिनि × × × रसादिरूपे न कस्यचिद् विमतिः।
—सा० द० प्रथम परिच्छेद से उद्धृत।

३. (क) काव्यमीमांसा (बि० राष्ट्रभाषा परिषद्) पृ० १३-१४

(ख) काव्यस्य शब्दार्थौ शरीरम्, रसादिश्चात्मा, गुणाः शौर्यादिवत्, दोषाः काणत्वादिवत्, रीतयोऽवयवसंस्थानवत्, अलंकाराः कटककुण्डलादि-वद् इति।
—सा० द० १म परि०

किन्तु रुद्रट किसी भी दृष्टि से रसवादी आचार्य सिद्ध नहीं होते। काव्य-पठन का क्या प्रयोजन है – इसी प्रसग मे उन्होने 'सरस' व्यक्तियो के विषय मे कहा है कि वे तो काव्य के द्वारा ही चतुर्वर्ग [धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष] का ज्ञान शीघ्र एव सरल रूप से प्राप्त कर लेते हैं—क्योकि ऐसे व्यक्ति [अध्यात्मवादी व्यक्तियो के असमान] नीरस शास्त्रो से भयभीत होते है। अतः कवियो को अति प्रयत्नपूर्वक रसयुक्त काव्य की रचना करनी चाहिए, अन्यथा वे भी शास्त्र के समान उद्वेगजनक ही होगे। (१२।१,२) बस, इतनी पृष्ठभूमि प्रस्तुत करने के उपरान्त उन्होंने दस रसो का स्वरूप प्रस्तुत करना प्रारम्भ कर दिया है। उनके इस प्रसग मे उक्त तीनों आधारो मे से किसी आधार पर साक्षात् अथवा प्रकारान्तर से प्रकाश नहीं डाला गया—केवल एक सकेत अवश्य मिलता है कि प्रयाम्, करुण, भयानक और अद्भुत रसो मे तो वैदर्भी और पाचाली रीतियों का यथावत् प्रयोग करना चाहिए, और रौद्र रस मे लाटिया और गौडीया का। किन्तु यह सकेत भी आनुषगिक ही है। यदि इसे रुद्रट की मान्यता ही मान लिया जाए तो भी इतने मात्र से उन्हें रसवादी आचार्य मानना समुचित नही है। अस्तु!

इसके अतिरिक्त वे रीतिवादी, ध्वनिवादी और वक्रोक्तिवादी आचार्य भी नहीं हैं, क्योंकि उन पर ध्वनि एव वक्रोक्ति सिद्धान्तों के प्रभाव पड़ने का प्रश्न ही उपस्थित नही होता। इनके प्रवर्तक आचार्य आनन्दवर्द्धन तथा कुन्तक इनसे परवर्ती हैं। रीतिवादी आचार्य वामन निस्सन्देह इनसे पूर्व विद्यमान थे, किन्तु इनके ग्रन्थ पर उनका साक्षात् अथवा असाक्षात् कोई प्रभाव लक्षित नहीं होता।

निष्कर्षत, उन्हें काव्यशास्त्र के उपर्युक्त प्रख्यात पाच सिद्धान्तों में से किसी भी सिद्धान्त के साथ सम्बद्ध नहीं किया जा सकता। वे वस्तुतः अपने समय के एक सफल सग्रहकर्ता आचार्य हैं।

महत्त्व

रुद्रट के ग्रन्थ के सम्यक् अध्ययन से यह स्पष्टतः लक्षित होता है कि यद्यपि वे अपने से पूर्ववर्ती किसी भी प्रख्यात काव्याचार्य से साक्षात् रूप से प्रभावित नहीं हैं—न भरत से, न भामह, दण्डी तथा उद्भट से, और न वामन से। फिर भी, उन्हें किन्ही काव्याचार्यों से प्रभावित स्वीकृत करना ही पड़ेगा, क्योंकि एक व्यक्ति द्वारा इतनी अधिक नवीन सामग्री प्रस्तुत

करना—विशेषतः अलकार-प्रकरण मे—नितान्त असम्भव प्रतीत होता है, और विशेषतः उस स्थिति मे जब कि काव्यशास्त्रीय सिद्धान्तो के निर्माण के सम्बन्ध मे यह कथन स्वाभाविक एव नितान्त मान्य है कि इनकी उत्पत्ति नहीं होती, अपितु इनका विकास होता है। रुद्रट द्वारा निरूपित एव प्रतिपादित नूतन अलकारों एव अलकार-वर्गों का—विशेषत. नूतन अलकारो का—विकास मानना चाहिए। इस दृष्टि से रुद्रट *उस अप्रख्यात आचार्य-वर्ग का प्रतिनिधित्व* करते हैं, जो उक्त भरत आदि पाचों आचार्यों से साक्षात् रूप से अप्रभावित रहकर काव्यसिद्धान्तो का स्वतन्त्र प्रतिपादन कर रहे थे।[1] पहला महत्त्व तो रुद्रट का यही है।

रुद्रट का दूसरा महत्त्व यह है कि इनके ग्रन्थ के अवलोकन से कुछ इस प्रकार के आभास मिल जाते हैं कि अब अलकारवादी एव रीतिवादी सिद्धान्त-परम्परा समाप्त हो चुकी है तथा किसी ऐसे सिद्धान्त का प्रतिस्फुटन होने जा रहा है जो काव्य का बाह्यपरक तत्त्व न होकर आन्तरिक तत्त्व है—हमारा सकेत ध्वनि-सिद्धान्त की ओर है। इस दृष्टि से रुद्रट एक ओर अलकारवादी तथा रीतिवादी आचार्यों और दूसरी ओर ध्वनिवादी आचार्य आनन्दवर्द्धन के बीच एक शृंखला का कार्य करते हैं। वैसे, उद्भट, रुद्रट और आनन्दवर्द्धन का आविर्भावकाल एक ही शताब्दी में—नवम शताब्दी मे—माना जाता है। उद्भट अलकारवाद के समर्थक आचार्य हैं, आनन्दवर्द्धन ध्वनिवाद के, और रुद्रट इन दोनो की मध्यवर्ती शृंखला का कार्य करते हैं—किन्तु यह तो एक सयोगमात्र ही है। यो, वर्ण्यविषय की दृष्टि से तो रुद्रट मध्यवर्ती आचार्य होने के नाते अपना विशिष्ट महत्त्व रखते ही हैं।

रुद्रट का तीसरा महत्त्व यह है कि काव्यशास्त्रीय ग्रन्थो मे यदि भरत के नाट्यशास्त्र को काव्यविधान का ग्रन्थ न मानकर नाट्यविधान का ही ग्रन्थ मानें तो रुद्रट का ग्रन्थ काव्यविधान का प्रथम 'सग्रह-ग्रन्थ' है और सग्रह-ग्रन्थों

---

१. इस मान्यता की पुष्टि इस तथ्य से भली भांति हो जाती है कि अग्निपुराणकार और भोजराज की भी यही स्थिति है। वे भी अपने ग्रन्थो मे प्रतिपादित वर्ण्यविषय की दृष्टि से अपने से पूर्ववर्ती प्रख्यात आचार्यों की परम्परा मे सयुक्त नहीं किये जा सकते, *क्योंकि ये उनसे प्रभावित प्रतीत* नहीं होते। *विद्वद्गोष्ठियो मे जो भी* काव्यशास्त्रीय सिद्धान्त चर्चित एवं विवेचित होते होंगे, उन्ही का सकलन इनके ग्रन्थो मे उपलब्ध होता है।

में यह विशिष्टता अनिवार्यतः होनी चाहिए कि वे किसी एक सिद्धान्त के प्रतिपादक और परिपोषक न हों। एक संग्रह-ग्रन्थ होने के नाते यदि यह ग्रन्थ किसी एक सिद्धान्त से प्रभावित अथवा उसका प्रतिपादक नहीं है तो यही इसकी विशिष्टता है। यों, संग्रह-ग्रन्थों का निजी विशिष्ट महत्त्व यह होता है कि ये एक कोष का कार्य करते हैं। यह ग्रन्थ तो इस दृष्टि से और भी *अधिक महत्त्वपूर्ण है कि इसमें अपने समय तक के काव्यशास्त्रीय सिद्धान्तों का व्यवस्थित, सुनियोजित एवं स्वस्थ तथा स्वच्छ संग्रह प्रस्तुत किया* गया है।

रुद्रट का चौथा और अन्तिम महत्त्व निम्नोक्त तथ्यों में निहित है -

(१) यद्यपि यह अलंकारवादी युग के आचार्य थे, तो भी भरत के उपरान्त रस का स्वतन्त्र निरूपण इनके ग्रन्थ में उपलब्ध है।

(२) प्रेयान् रस की सर्वप्रथम चर्चा इन्होंने की है।

(३) सर्वप्रथम इन्होंने नायक-नायिका-भेद-प्रकरण को रस-प्रकरण के अन्तर्गत निरूपित करके प्रकारान्तर से इसे शृंगार रस का ही एक प्रसंग निर्दिष्ट किया है, क्योंकि वस्तुत. नायक और नायिका, तथा सखी, दूती आदि ये सभी शृंगार रस के विभाव ही हैं। आगे चलकर, यही व्यवस्था अनेक *आचार्यों ने भी अपनायी, जिनमें से भोज और विश्वनाथ के नाम विशेष रूप* से उल्लेख्य हैं।

(४) इन्होंने नायक-नायिका-भेद का विस्तृत निरूपण किया है। नायिका के प्रसिद्ध तीन भेदों—स्वकीया, परकीया और सामान्या का उल्लेख भी सर्वप्रथम इन्हीं के ग्रन्थ में मिलता है।

(५) इनके ग्रन्थ में निरूपित ६३ अलंकारों में से २७ अलंकार सर्वप्रथम इनके ग्रन्थ में उपलब्ध हैं।

(६) 'वक्रोक्ति' को एक शब्दालंकार के रूप में सर्वप्रथम इन्होंने निरूपित किया है।

(७) अलंकारों का वर्गीकरण भी सर्वप्रथम इन्होंने प्रस्तुत किया है।

(८) इनके उदाहरणों में यद्यपि काव्य-चमत्कार का प्रायः अभाव ही है, तथापि ये पूर्ववर्ती अलंकार-ग्रन्थों के उदाहरणों की अपेक्षा संख्या की दृष्टि से तो सर्वाधिक हैं ही, साथ ही सर्वाधिक व्यवस्थित एवं सुघटित रूप में भी सर्वप्रथम प्रस्तुत हुए हैं। यह ठीक है कि परवर्ती आचार्यों ने अधिकांशत.

इन्हीं उदाहरणों को उद्धृत नहीं किया, तथापि इसी प्रकार के उदाहरणों के लिए द्वार अवश्य उन्मुक्त हो गया।

(झ) इस ग्रन्थ की अन्यतम विशिष्टता है प्रतिपादित विषयों का सुनियोजित क्रम। 'शब्दार्थौ काव्यम्' को लक्ष्य में रखकर पहले शब्दगत काव्य-तत्त्वों की चर्चा की गयी है, फिर अर्थगत काव्य-तत्त्वों की। यद्यपि यह योजना इनसे पूर्ववर्ती आचार्य भामह ने भी अपनायी थी, तो भी रुद्रट ने इसे कहीं अधिक सुनियोजित एवं व्यवस्थित रूप में प्रस्तुत किया। और यदि आगे चलकर रुद्रट के परवर्ती आचार्यों में से मम्मट जैसे व्यवस्थापक आचार्य ने भी अपने प्रसिद्ध ग्रन्थ काव्यप्रकाश को शब्द और अर्थ के ही आधार पर प्रायः क्रमबद्ध किया तो इसका, प्रत्यक्ष न सही—अप्रत्यक्ष श्रेय, रुद्रट को भी दिया जाना चाहिए।

००

९. आनन्दवर्धन की काव्यशास्त्र को देन
—ध्वनि-सिद्धान्त के माध्यम से

आनन्दवर्द्धन कश्मीर के राजा अवन्तिवर्मा के सभा-पण्डित थे। इनका जीवन-काल नवम शती का मध्य भाग है। इनकी ख्याति 'ध्वन्यालोक' नामक अमर ग्रन्थ के कारण है, जिसके माध्यम से उन्होंने काव्यशास्त्र में युगान्तर उपस्थित कर दिया।

ध्वन्यालोक के दो प्रमुख भाग हैं—कारिका और वृत्ति। यद्यपि इस विषय में विद्वानों का मतभेद रहा है कि इन दोनों भागों का कर्ता एक व्यक्ति है या दो हैं, पर अधिकतर विद्वान् आनन्दवर्द्धन को ही दोनों भागों का कर्ता मानते हैं। इस ग्रन्थ में चार उद्योत हैं, और ११७ कारिकाएँ। प्रथम उद्योत में तीन प्रकार के ध्वनिविरोधियों—अभाववादी, भक्तिवादी और अलक्षणीयतावादी—का खण्डन किया गया है, तथा ध्वनि का स्वरूप प्रतिपादित किया गया है। द्वितीय और तृतीय उद्योत में ध्वनि-भेदों का विस्तृत निरूपण है। प्रसंगवश गुण, अलंकार, संघटना और रस-विरोधी तत्त्वों (रस-दोषों) का भी इसी उद्योत में यथेष्ट निरूपण है। अभिधा और लक्षणा के होते हुए भी ध्वनि की स्थिति क्यों आवश्यक है, इस विषय पर भी तृतीय उद्योत में प्रकाश डाला गया है, तथा गुणीभूतव्यंग्य-काव्य और चित्र-काव्य का स्वरूप भी निर्दिष्ट किया गया है। चतुर्थ उद्योत में ध्वनि से सम्बद्ध स्फुट प्रसंगों का पर्याप्त विवेचन है।

ध्वनि-सिद्धान्त के प्रतिष्ठापक आनन्दवर्द्धन से पूर्व केवल भरत रसवादी आचार्य माने जाते हैं। शेष आचार्यों में से भामह, दण्डी और उद्भट अलंकारवादी थे, तथा वामन रीतिवादी। इनके अतिरिक्त रुद्रट एक संग्रहकर्ता आचार्य के रूप में, आनन्दवर्द्धन से पूर्ववर्ती आचार्यों और आनन्दवर्द्धन के बीच, एक योजक शृंखला के समान विद्यमान थे। उक्त अन्तिम दोनों वादों का क्षेत्र काव्य के बाह्य रूप तक ही अधिकांशतः सीमित था। यदि रस, भाव, आदि की चर्चा की गयी तो वह भी इन्हें रसवद्, प्रेयः आदि अलंकार मात्र मान कर, और यदि लक्षणा तथा व्यंजना की ओर संकेत किया गया तो प्रायः अलंकारों को ही लक्ष्य में रखकर तथा अत्यन्त साधारण रूप में। उधर भरत का रसवाद भी

विभावादि-सामग्री से अनुप्राणित नाटक के अतिरिक्त प्रबन्ध-काव्य पर घटित होता था, अनेक मुक्तकों पर भी घटित हो जाता था, किन्तु फिर भी, ऐसी अनेक चमत्कारपूर्ण मुक्तक रचनाओं को, जो विभावादि की सम्पूर्ण सामग्री से शून्य हों, रसवाद के आवेष्टन में लाना कठिन ही नहीं, असम्भव था, क्योंकि रस अपनी विशिष्ट शास्त्र-प्रक्रिया में परिबद्ध है, उसकी सीमा विभाव आदि सामग्री तक सीमित है। इस प्रकार आनन्दवर्धन ने उक्त तीनों—रस-सिद्धान्त, अलंकार-सिद्धान्त और रीति-सिद्धान्त की त्रुटियों को पहचाना, और समकालीन अथवा पूर्ववर्ती (अब अज्ञात) आचार्यों से प्रेरणा प्राप्त कर ध्वनि-सिद्धान्त की स्थापना की।[1]

इसके अतिरिक्त आनन्दवर्धन से पूर्व अभिधा, लक्षणा और तात्पर्य नामक तीन वृत्तियां भी प्रचलित थीं, किन्तु आनन्दवर्धन ने इनसे ज्ञात अर्थ से अतिरिक्त अर्थ की द्योतक, एक अन्य चतुर्थ व्यंजना वृत्ति के आधार पर व्यंग्यार्थ की स्वीकृति करते हुए ध्वनि-तत्त्व का प्रतिष्ठापन किया। इस प्रकार आनन्दवर्धन ने अपने से पूर्ववर्ती तीनों सिद्धान्तों और तीनों वृत्तियों की तुलना में ध्वनि-तत्त्व को व्यापक रूप प्रदान करते हुए इसे ही प्रचारित किया। इस ध्वनि-शब्द के ही अन्य पर्यायवाची शब्द हैं—ध्वनन, द्योतन, व्यंजन, प्रत्यायन, अवगमन आदि।[2]

ध्वनि का स्वरूप—आनन्दवर्धन ने ध्वनि के स्वरूप को स्पष्ट करने के लिए दो उदाहरण प्रस्तुत किये हैं। उनका आख्यान इस प्रकार है—'जिस प्रकार किसी अंगना के सुन्दर अवयव और उनसे फूटता हुआ लावण्य एक पदार्थ नहीं है, और जिस प्रकार दीप और उनसे निसृत प्रकाश भी एक पदार्थ नहीं है, उसी प्रकार 'शब्द तथा अर्थ' और उनसे अभिव्यक्त 'ध्वनि' (व्यंग्यार्थ) भी एक पदार्थ नहीं है। शब्द तथा अर्थ काव्य के बाह्य उपकरण मात्र हैं, पर

---

१. (क) काव्यस्यात्मा ध्वनिरिति बुधैर्यः समाम्नातपूर्वः।—ध्वन्यालोक १.१

(ख) विमतिविषयो य आसीन्मनीषिणां सततमविदितसतत्वः।
ध्वनिसंज्ञितः प्रकारः काव्यस्य व्यंजितः सोऽयम् ॥—वही ३.३४

२. तस्मादभिधा-तात्पर्य-लक्षणा-व्यतिरिक्तश्चतुर्थोऽसौ व्यापारो ध्वनन-द्योतन-व्यंजन-प्रत्यायनाऽवगमनादिसोदरव्यपदेशनिरूपितोऽभ्युपगन्तव्यः।
—ध्वन्यालोकलोचन पृष्ठ ६०

ध्वनि तो कोई अन्य अवर्णनीय पदार्थ है।[1] उनके इस कथन का तात्पर्य यह है कि जिस प्रकार अवयव-समुदाय और लावण्य[2] में; तथा दीप और प्रकाश में परस्पर साधन-साध्यभाव है; उसी प्रकार शब्दार्थ और ध्वनि में भी साधन-साध्यभाव है; और यही कारण है कि कवि को शब्दार्थ-रूप साधन को भी सदा अपेक्षा रखनी पड़ती है। वस्तुतः देखा जाए तो शब्दार्थ और ध्वनि का यह सम्बन्ध उक्त लौकिक उदाहरणों से किंचित् असदृश है। अवयव-समुदाय अथवा दीप को अपने-अपने साध्य की सिद्धि के लिए गौण अथवा हीन नहीं बनना पड़ता, पर ध्वनि की अभिव्यक्ति तभी सम्भव है, जब शब्द अपने अर्थ को तथा अर्थ अपने-आप को गौण बना दे। स्वयं आचार्य के शब्दों में ध्वनि का लक्षण इस प्रकार है—

> यत्रार्थः शब्दो वा तमर्थमुपसर्जनीकृतस्वार्थौ।
> व्यंक्तः काव्यविशेषः स ध्वनिरितिसूरिभिः कथितः॥ ध्वन्यालोक १.१३

अर्थात्, जहाँ [वाच्य] अर्थ और [वाचक] शब्द अपने-अपने अस्तित्व को गौण बना कर जिस [विशिष्ट] अर्थ को प्रकट करते हैं, वह [अर्थ] ध्वनि कहाता है।

इसी प्रसंग में आनन्दवर्धन का निम्नोक्त कथन भी उद्धरणीय है, जिसमें शब्दार्थ (वाचक शब्द और वाच्य अर्थ) के परस्पर-सम्बन्ध पर प्रकाश डाला गया है—

> शब्दार्थशासनज्ञानमात्रेणैव न वेद्यते।
> वेद्यते स तु काव्यार्थतत्त्वज्ञैरेव केवलम्॥ ध्वन्यालोक १.७

अर्थात्, व्यंग्यार्थ की प्रतीति शब्दार्थ की प्रक्रिया, अर्थात् वाच्यार्थ के ज्ञानमात्र

---

१. (क) प्रतीयमानं पुनरन्यदेव वस्त्वस्ति वाणीषु महाकवीनाम्।
यत्तत् प्रसिद्धावयवातिरिक्तं विभाति लावण्यमिवांगनासु॥
—ध्वन्यालोक १.४

(ख) आलोकार्थी यथा दीपशिखायां यत्नवान् जनः।
तदुपायतया तद्वद् अर्थे वाच्ये तदादृतः॥ —वही १.९

२. लावण्य का लक्षण है—
मुक्ताफलेषु च्छायायास्तरलत्वमिवान्तरा।
प्रतिभाति यदंगेषु तल्लावण्यमिहोच्यते॥ (अज्ञात)

से नही हो जाती, अपितु यह केवल काव्यार्थ के तत्त्व को जानने वालो को ही होती है।

ध्वनि के स्वरूप के सम्बन्ध मे आनन्दवर्धन-प्रस्तुत उपर्युक्त कथनो का निष्कर्ष इस प्रकार है—

१. 'ध्वनि' (व्यग्यार्थ) शब्दार्थ से विभिन्न तत्त्व है।

२. 'ध्वनि' लावण्य, लज्जा आदि के समान एक आन्तरिक तत्त्व है।

३. शब्दार्थ आधार एवं साधन है, और ध्वनि आधेय एव साध्य। जिस प्रकार लावण्य के लिए अगना के अगो की, अथवा प्रकाश के लिए दीपशिखा की अपेक्षा रहती है, उसी प्रकार ध्वनि के लिए शब्दार्थ (वाचक शब्द और वाच्य अर्थ के समन्वित रूप) की अपेक्षा रहती है।

४. सक्षेप मे कहे तो वाच्यार्थ से भिन्न अर्थ व्यग्यार्थ अथवा ध्वनि कहाता है। ध्वनि, ध्वन्यर्थ, व्यंग्य, व्यग्यार्थ, व्यजित अर्थ, प्रतीत अर्थ, प्रतीयमान अर्थ, अवगमित अर्थ, आदि—ये सब पर्यायवाची शब्द हैं।

५ इसी ध्वनि (व्यग्यार्थ) को आनन्दवर्धन ने, और उनके अनुकरण पर मम्मट और जगन्नाथ ने, काव्य की आत्मा माना है।

ध्वनि-विरोधी आचार्य और व्यंजना की स्थापना

आनन्दवर्धन को ध्वनि (व्यजनाशक्ति-जन्य व्यग्यार्थ) नामक काव्य-तत्त्व के प्रवर्तक होने का श्रेय दिया जाता है। यद्यपि उन्होने कई बार यह उल्लिखित किया है कि उनके समकालीन अथवा पूर्ववर्ती आचार्यो ने इस तत्त्व की ओर सकेत किया था, किन्तु इन आचार्यों के ग्रन्थो की उपलब्धि-पर्यन्त आनन्दवर्धन को ही ध्वनि-सम्प्रदाय के प्रवर्तन का श्रेय मिलता रहेगा। यह अनुमान कर लेना भी सहज-सम्भव है कि इन पूर्वाचार्यो के ध्वनि-विषयक मौलिक सिद्धान्तो की केवल पण्डित-गोष्ठियों मे चर्चा मात्र रही होगी, और इन पर किसी प्रसिद्ध और स्वतन्त्र ग्रन्थ का निर्माण नही हुआ होगा।[1] हाँ, इतना तो निश्चित है कि यह सिद्धान्त आनन्दवर्धन के समय मे इतना प्रचलित हो गया था कि इसके विरोधी भी उत्पन्न हो गये थे, जिन्हें करारा उत्तर देने के लिए आनन्दवर्धन को अपने ग्रन्थ मे सर्वप्रथम लेखनी उठानी पड़ी। इन विरोधियो मे से तीन

१. विनाऽपि विशिष्टपुस्तकेषु विनिवेशनाद् इत्यभिप्रायः।

—ध्वन्यालोकलोचन, पृष्ठ ११

वर्ग प्रमुख थे . अभाववादी, भक्तिवादी और अलक्षणीयतावादी।[1] प्रथम वर्ग को ध्वनि की सत्ता ही स्वीकृत नहीं है, तथा तृतीय वर्ग इसकी सत्ता स्वीकार करता हुआ भी इसे अनिर्वचनीय कहता है, और द्वितीय वर्ग ध्वनि को 'भाक्त' अर्थात् लक्षणागम्य, अतएव गौण मानता है। सम्भव है कि इन सभी अथवा एक या दो वर्गों की कल्पना आनन्दवर्धन ने स्वयं कर ली हो; अथवा इस प्रसंग का दायित्व भी गोष्ठीगत मौखिक शास्त्रीय चर्चाओं पर ही हो। पर इस सम्बन्ध में निश्चयपूर्वक कुछ कह सकना नितान्त कठिन है; क्योंकि एक तो भरत अथवा भामह से लेकर आनन्दवर्धन के ही लगभग समकालीन रुद्रट तक उपलब्ध काव्यशास्त्रीय ग्रन्थों में ध्वनि-विरोधियों की चर्चा तक नहीं की गयी, और दूसरे, इन विरोधी आचार्यों तथा उनके ग्रंथों का नामोल्लेख स्वयं आनन्दवर्धन ने भी नहीं किया।

. आनन्दवर्धन के पश्चात् भी ध्वनि-सिद्धान्त के अन्य विरोधी उत्पन्न हो गये। ध्वनि को भट्टनायक ने भावकत्व-व्यापार में अन्तर्भूत किया, धनिक ने तात्पर्यार्थ वृत्ति में, कुन्तक ने वक्रोक्ति में और महिमभट्ट ने अनुमान में। इनमें से भट्टनायक का खण्डन अभिनवगुप्त ने किया और धनिक तथा महिमभट्ट का मम्मट ने। हाँ, कुन्तक का न तो विशेष विरोध किया गया और न समर्थन। 'वक्रोक्ति' पर महिमभट्ट द्वारा प्रस्तुत आक्षेप निःसन्देह सटीक है, किन्तु विश्वनाथ का 'वक्रोक्ति' पर आक्षेप शिथिल भी है तथा असगत भी।[2] मम्मट ने तात्पर्य-वाद और अनुमानवाद के अतिरिक्त अभिधावाद और लक्षणावाद का भी खण्डन किया है। इनमें से अभिधावाद भट्ट लोल्लट आदि काव्यशास्त्रियों तथा प्राभाकर मीमांसकों का मत है, और लक्षणावाद 'गुणवृत्ति' (लक्षणा शक्ति) को स्वीकार करने वाले उद्भट के साथ संयुक्त किया जाता है। ध्वनि अर्थात् व्यंजना की स्थापना के लिए उक्त आचार्यों के इन वादों का खंडन करना अपेक्षित है।

(क) आनन्दवर्धन से पूर्ववर्ती अथवा उनके समकालीन आचार्यों द्वारा प्रस्तुत वाद

आनन्दवर्धन ने विभिन्न ध्वनि-विरोधी आचार्यों की प्रकल्पना करते हुए निम्नोक्त तीन वादों का खंडन किया—(१) अभाववाद (२) लक्षणावाद और (३) अलक्षणीयतावाद।

---

१. तस्याभावं जगदुरपरे भाक्तमाहुस्तमन्ये ॥
केचिद् वाचां स्थितमविषये तत्त्वमूचुस्तदीयम् । ध्वन्या० १ १

२. देखिए: भारतीय काव्यशास्त्र (सत्यदेव चौधरी), पृष्ठ ५५६ ५६२

इनमें से लक्षणावाद पर आगे यथास्थान—अभिधावाद के उपरान्त—प्रकाश डाला जा रहा है, और शेष दो पर इसी प्रसंग में।

१ अभाववाद

अभाववादी ध्वनि की सत्ता ही स्वीकार नहीं करते। उनका प्रमुख तर्क यह है कि अलंकार, रीति, गुण आदि काव्य-तत्त्वों की स्वीकृति में ध्वनि को मानना व्यर्थ है। उदाहरणार्थ भामह, दण्डी और उद्भट—इन अलंकारवादियों की ओर से कहा जा सकता है कि 'अलंकार' नामक तत्त्व की स्वीकृति किये जाने पर 'ध्वनि' नामक तत्त्व की आवश्यकता ही नहीं है—तस्याऽभावं जगदुरपरे। कतिपय स्थल लीजिए—

—भामह ने प्रतिवस्तूपमा अलंकार के लक्षण में 'गुणसाम्य-प्रतीति' अर्थात् गम्यमान औपम्य की चर्चा की है। विशेषण-साम्य के बल पर अन्य अर्थ की 'गम्यता' को इन्होंने समासोक्ति कहा है, तथा अन्य प्रकार के अभिधान (कथन-विशेष) को पर्यायोक्त।[1]

—इसी प्रकार दण्डि-सम्मत व्यतिरेक अलंकार का एक रूप तो वह है, जिसमें उपमान-उपमेयगत सादृश्य किसी शब्द द्वारा प्रकट किया जाता है; पर दूसरा वह, जिसमें सादृश्य 'प्रतीयमान' होता है। भामह के समान दण्डी ने भी पर्यायोक्त के स्वरूप को 'प्रकारान्तर-कथन' पर आधृत माना है।[2] इसी अलंकार का उद्भट-सम्मत निम्नोक्त लक्षण तो व्यंजना के स्वरूप का स्पष्ट निर्देशक है—

पर्यायोक्तं यदन्येन प्रकारेणाऽभिधीयते।
वाच्यवाचकवृत्तिभ्यां शून्येनावगमात्मना॥ काव्यालंकारसारसंग्रह ४.६

अर्थात्, पर्यायोक्त उसे कहते हैं जहाँ अभीष्ट विषय का अन्य प्रकार से कथन किया जाए; और वह अन्य प्रकार है—वाच्य-वाचक वृत्ति, अर्थात् अभिधा वृत्ति से शून्य अर्थ का अवगमन।

---

१. (क) समानवस्तुन्यासेन प्रतिवस्तूपमोच्यते।
यथेवानभिधानेऽपि गुणसाम्यप्रतीतितः॥ काव्यालंकार (भामह) २.३४
(ख) यत्रोक्ते गम्यतेऽन्योऽर्थस्तत्समानविशेषणः।
सा समासोक्तिरुद्दिष्टा संक्षिप्तार्थतया यथा॥—वही २.७९
(ग) पर्यायोक्तं यदन्येन प्रकारेणाभिधीयते॥ —वही ३.८
२. काव्यादर्श २.१८६, २.२९५

सामने आ रहा है। अहो! दैव-गति कैसी विचित्र है कि फिर भी उनका समागम नहीं हो रहा।

यहाँ आनन्दवर्धन के अनुसार यद्यपि व्यंग्य के रूप में एक अन्य अर्थ की प्रतीति हो रही है, फिर भी, ऐसे स्थलों में व्यंजना (अभिधामूला व्यंजना तथा अलंकार-ध्वनि) न मानी जाकर समासोक्ति अलंकार ही मानना चाहिए, क्योंकि यहाँ व्यंग्य की अपेक्षा वाच्य का ही चारुत्व अधिक है, और कवि को इसी की ही प्रधानता विवक्षित है।[1]

किन्तु इसके विपरीत—

असावुदयमारूढः कान्तिमान् रक्तमण्डलः ।
राजा हरति लोकस्य हृदयं मृदुभिः करैः ॥[2]

ऐसे पद्यों में वाच्यार्थ की अपेक्षा व्यंग्यार्थ का ही चारुत्व अधिक है। अतः यहाँ व्यंजना अथवा ध्वनि (अभिधामूला व्यंजना अथवा अलंकार-ध्वनि) है।

(ग) इसी प्रसंग में उनका एक अन्य अकाट्य तर्क भी अवेक्षणीय है—जिस प्रकार दीपक, अपह्नुति आदि अलंकारों के उदाहरणों में उपमा अलंकार की व्यंग्य रूप में प्रतीति होने पर भी उसका प्राधान्य विवक्षित न होने के कारण *वहाँ उपमा नाम से व्यवहार नहीं होता*, इसी प्रकार समासोक्ति, आक्षेप, पर्यायोक्त आदि अलंकारों में व्यंग्यार्थ की प्रतीति होने पर भी उसका प्राधान्य विवक्षित न होने के कारण 'ध्वनि' नाम से व्यवहार नहीं होता; और यदि पर्यायोक्त आदि अलंकारों के उदाहरणों में कहीं व्यंग्य की प्रधानता हो भी, तो उस अलंकार का अन्तर्भाव महाविषयीभूत (अंगीभूत) ध्वनि में किया जायगा, न कि ध्वनि का अन्तर्भाव अंगभूत अलंकार में। *ध्वनि तो काव्य की आत्मा है, अलंकार्य है, अतः वह न तो अलंकार का*

---

१. अत्र सत्यमपि व्यंग्यप्रतीतौ वाच्यस्यैव चारुत्वमुत्कर्षवद् इति तस्यैव प्राधान्यविवक्षा। —ध्वन्यालोक १.१३ (वृत्ति)

२. (क) वाच्यार्थ चन्द्रमा के पक्ष में—उदयाचल पर स्थित लाल-लाल रंग वाला सुन्दर चन्द्रमा कोमल किरणों से लोगों के हृदय को आकृष्ट करता है।

(ख) व्यंग्यार्थ राजा के पक्ष में—उन्नतशील सुन्दर राजा, जिसने देश को अनुरक्त किया हुआ है, थोड़ा 'कर' ग्रहण करने के कारण प्रजा के हृदय को आकृष्ट करता है।

स्वरूप धारण कर सकती है और न अलंकार में उसका अन्तर्भाव किया जा सकता है।[१]

निष्कर्ष यह कि आनन्दवर्धन के मतानुसार उक्त पर्यायोक्त, प्रतिवस्तूपमा आदि अलंकारों में व्यंग्यार्थ की प्रतीति होने पर भी उसका प्रधान रूप से कथन नहीं होता। उनमें प्रधान चमत्कार तो अलंकार-तत्त्व का ही रहता है, अतः इन्हें ध्वनि न कहकर अलंकार कहना चाहिए।[२] हाँ, व्यंग्यांश समन्वित *इन पर्यायोक्त आदि अलंकारों का चमत्कार अन्य वाच्यालंकारों—उपमा, रूपक* आदि की—तुलना में वहीं अधिक बढ़ जाता है।[3] और, यदि कहीं इन अलंकारों के उदाहरणों में व्यंग्यार्थ की प्रधानता हो भी, तो उन्हें इन अलंकारों के स्थान पर 'ध्वनि' का ही उदाहरण माना जाएगा।[४] वस्तुतः ध्वनि अंगी है, और अलंकार, गुण और वृत्तियाँ उसके अंग हैं।[५]

---

१. आनन्दवर्धन से परवर्ती सभी ध्वनिवादी आचार्यों ने इनके साथ अपनी सहमति प्रकट की है। उदाहरणार्थ—
शब्दार्थसौन्दर्यतनोः काव्यस्याऽऽत्मा ध्वनिर्मतः।
तेनाऽलंकार्य एवाय नालंकारत्वमर्हति ॥ अलंकारमहोदधि ३ ६४

२. अलंकारान्तरस्यापि प्रतीतौ यत्र भासते।
तत्परत्वं न वाच्यस्य नाऽसौ मार्गो ध्वनेर्मतः ॥
यत्र वाच्यस्य व्यंग्यप्रतिपादनौन्मुख्येन चारुत्वं न प्रकाशते नासौ ध्वनेर्मार्गः।
—ध्वन्यालोक २ २७ तथा वृत्ति

३ (क) शरीरीकरणं येषां वाच्यत्वेन व्यवस्थितम्।
तेऽलंकाराः परां छायां यान्ति ध्वन्यंगतां गताः ॥—वही, २ ३७
(ख) वाच्यालंकारवर्गोऽयं व्यंग्यांशानुगमे सति।
प्रायेणैव परां छायां बिभ्रल्लक्ष्ये निरीक्ष्यते ॥ वही ३ ३७

४. *यत्र तु व्यंग्यपरत्वेनैव वाच्यस्य व्यवस्थानं तत्र व्यंग्यमुखेनैव व्यपदेशो* युक्तः।
—वही, पृ० १६१

५. काव्यविशेषोऽङ्गी ध्वनिरिति कथितः। तस्य पुनरंगानि अलंकाराः गुणा वृत्तयश्च—ध्वन्या० पृ० ४७
विशेष विवरण के लिए देखिए : ध्वन्यालोक १.१३, २ २७ (वृत्ति भाग)।
[परन्तु आनन्दवर्धन के उक्त खण्डन करने पर भी इनके परवर्ती आचार्य प्रतिहारेन्दुराज ने उद्भट-प्रणीत काव्यालंकारसार-संग्रह की टीका में

(ख) आनन्दवर्धन से परवर्ती आचार्य

१. अभिधावाद

भट्ट लोल्लट प्रभृति अभिधावादी अपने मत की पुष्टि में मीमांसा-सम्मत कतिपय सिद्धान्त उपस्थित करते हैं, जिनका संक्षिप्त विवरण इस प्रकार है—

१. अभिधावादियों के मत में 'यत्पर: शब्द: स शब्दार्थ:' अर्थात् वक्ता को एक शब्द का जितना भी अर्थ अभीष्ट होता है, वह शब्द उतने ही अर्थ का वाचक होता है। दूसरे शब्दों में, वह सम्पूर्ण अर्थ अभिधागम्य होने के कारण वाच्यार्थ ही कहाता है, व्यंग्यार्थ नहीं। उदाहरणार्थ, 'गंगा पर घोष है' इस कथन से वक्ता को यदि कुटीर की पवित्रता और शीतलता बताना अभीष्ट हो तो यह अर्थ भी अभिधागम्य ही है। इसके लिए व्यंजना शक्ति की स्वीकृति व्यर्थ है।

पर ध्वनिवादियों के अनुसार उक्त सिद्धान्त-कथन का यह अभिप्राय नहीं है जो कि अभिधावादियों ने अपने मत की पुष्टि में प्रस्तुत किया है। वस्तुत: इसका अभिप्राय यह है कि किसी वाक्य में जितना अर्थ अप्राप्त होता है 'अदग्धदहन-न्याय'[1] के अनुसार केवल उतने का ही विधान (ग्रहण) कर लिया जाता है? और यह ग्रहण भी वाक्य में उपात्त अर्थात् प्रयुक्त शब्दों के ही अर्थ का होता है, अनुपात्त अर्थात् अप्रयुक्त शब्दों के अर्थ का नहीं।[2] पर व्यंग्यार्थ की प्रतीति के लिए ऐसा कोई नियत विधान नहीं हो सकता कि वह केवल उपात्त शब्दों से ही सम्बद्ध हो, वह अनुपात्त शब्दों से भी प्रतीत हो सकता है। उदाहरणार्थ, 'गंगा में घोष है' इस कथन में कोई भी शब्द शीतलता अथवा पवित्रता का वाचक नहीं है।

उक्त मान्यता का अभिप्राय यह है कि जिस प्रकार 'अग्नि' काष्ठ आदि पदार्थों के केवल उसी भाग को जलाती है जो कि बिना जला होता है, उसी प्रकार अभिधा शक्ति द्वारा केवल उतने ही अर्थ का विधान अथवा ग्रहण होता है जितना कि अप्राप्त है, और वह भी वाक्य में उपात्त (पठित अथवा श्रुत) शब्दों का, न कि अनुपात्त शब्दों का। उदाहरणार्थ, 'प्रथमो धावति,' अर्थात् पहला [बालक अथवा घोड़ा] दौड़ता है, इस वाक्य में 'प्रथम' इस उपात्त शब्द का अभिधा शक्ति द्वारा केवल इतना ही अर्थ गृहीत हो सकता है

१. 'अग्नि किसी पदार्थ के उस भाग को जलाती है जो कि पहले जला हुआ *नहीं होता'—इस न्याय के अनुसार।*

२. इत्युपात्तस्यैव शब्दस्यार्थे तात्पर्यं, न तु प्रतीतमात्रे।

—का० प्र० ५ म० उ० पृष्ठ ३२७-३२८

कि 'पहले से इतर दूसरा, तीसरा आदि' नहीं दौड़ता है। यह भी वाच्यार्थ है, यदि चाहें तो इसे 'अतिरिक्त वाच्यार्थ' कह सकते हैं। किन्तु व्यंग्यार्थ इस तथाकथित 'अतिरिक्त वाच्यार्थ' से भी भिन्न होता है। वस्तुतः किसी भी वाक्य में *व्यंग्यार्थ का द्योतक कोई भी शब्द उपात्त नहीं होता।* जैसे 'पुत्रस्ते जातः' (तेरा पुत्र उत्पन्न हुआ है), इस वाक्य का हर्षद्योतक *व्यंग्यार्थ* व्यंजना का विषय है, न कि अभिधा का, क्योंकि उक्त वाक्य में कोई ऐसा उपात्त शब्द नहीं है, जो इस व्यंग्यार्थ का द्योतक बन सके। एक स्पष्ट उदाहरण और लीजिए—'वेदकक्षायां शूद्रश्छात्रः श्रेष्ठः।' (वेद की कक्षा में शूद्र छात्र सर्वाधिक *प्रवीण है।) इस वाक्य में 'शूद्र' इस उपात्त शब्द का 'अतिरिक्त वाच्यार्थ'* होगा 'शूद्रेतर'—ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्य, और व्यंग्यार्थ होगा कि 'शूद्र भी वेदानुशीलन जैसे गम्भीर विषय में निपुण हो सकते हैं, अध्ययन के लिए मेधा अपेक्षित है, न कि किसी विशिष्ट वर्ण में जन्म-ग्रहण।' अस्तु! इस प्रकार व्यंजना शक्ति का अभिधा शक्ति में अन्तर्भाव नहीं किया जाना चाहिए।[1]

२. अभिधावादियों के मत में अभिधा शक्ति का व्यापार उस प्रकार दीर्घ-दीर्घतर है, जिस प्रकार किसी बलवान् पुरुष द्वारा छोड़े हुए बाण का। जिस प्रकार वह बाण कवच-भेदन, उरोविदारण और प्राण-हरण तीनों का कारण बनता है, उसी प्रकार अभिधा शक्ति का दीर्घ-दीर्घतर व्यापार भी वाच्य और व्यंग्य दोनों अर्थों का बोध करने में समर्थ है।[2] परन्तु व्यञ्जना-स्थापकों के मत में अभिधावादियों का यह कथन भी असंगत है। इसके निम्नोक्त कई कारण हैं—

(क) *अभिधा-जन्य वाच्यार्थ का सम्बन्ध वाक्य में प्रयुक्त शब्दों के साथ* होता है, न कि इनसे प्रतीयमान अर्थ के साथ भी। उदाहरणार्थ, 'मित्र! तुम्हारा पुत्र उत्पन्न हुआ', इस वाक्य से प्रतीयमान हर्ष-भाव किसी भी शब्द अथवा शब्द-समूह का वाच्यार्थ नहीं है।

---

१. 'यत्परः स शब्दार्थः' इस कथन के समकक्ष दो अन्य कथन भी उद्धरणीय हैं, जो कि उक्त धारणा को ही प्रकारान्तर से प्रस्तुत करते हैं—

(क) भूतभव्यसमुच्चारणे भूतं भव्यायोपदिश्यते। का० प्र० ५.४७ (वृत्ति)

(ख) तद्यत्रोभे भावप्रधाने भवतः। निरुक्त १.१.६, १०

किन्तु विस्तार-भय से इन कथनों पर यहां प्रकाश नहीं डाला जा रहा।

२. (क) इषोरिव दीर्घदीर्घतरोऽभिधाव्यापारः। का० प्र० ५ उ०, पृ० २२१

(ख) यथा बलवता प्रेरित एक एवेषुरेकेनैव वेगाख्येन व्यापारेण रिपोर्वर्मच्छेदं

(ख) यदि अभिधा शक्ति ही तीनों अर्थों की द्योतिका है, तो फिर लक्ष्यार्थ के लिये मीमांसकों ने लक्षणा शक्ति की स्वीकृति क्यों की है ? यदि लक्ष्यार्थ के लिए लक्षणा शक्ति स्वीकृत हो सकती है तो व्यंग्यार्थ के लिए व्यंजना शक्ति भी स्वीकृत करने में कोई आपत्ति नहीं होनी चाहिए।

(ग) यदि व्यंग्य-व्यंजक-भाव न स्वीकार किया जाकर केवल वाच्य-वाचक-भाव स्वीकार किया जाए तो वाक्य में शब्द के क्रम-परिवर्तन अथवा पर्याय-परिवर्तन को सदा ही सह्य समझना चाहिए। उदाहरणार्थ, 'कुरु रुचिम्' को 'रुचिंकुरु' में परिवर्तित करने से 'चिकु' पदांश में अश्लील दोष की स्वीकृति नहीं होनी चाहिए, तथा 'शिवशंकर ! हमारा कल्याण कीजिए,' इस वाक्य में 'शिवशंकर' के स्थान पर 'रुद्र' शब्द का प्रयोग सदोष नहीं मानना चाहिए। इसी प्रकार 'दुःश्रवता' को शृंगार' आदि रसों में तो दोष स्वीकृत किया जाता है, परन्तु वीर, रौद्र आदि रसों में नहीं, और इधर 'च्युतसंस्कृति' को प्रायः सभी रसों में दोष माना जाता है। दोषों की यह नित्यानित्य-व्यवस्था भी अभिधा-जन्य वाच्यार्थ पर अवस्थित नहीं हो सकती, इसका आधार व्यंजना-जन्य व्यंग्यार्थ ही है।

(घ) अभिधा को दीर्घ-दीर्घतर व्यापार स्वीकृत कर लेने की स्थिति में मीमांसा का यह सिद्धान्त कि 'श्रुति, लिंग, वाक्य, प्रकरण, स्थान और समाख्या—इन छह प्रमाणों के समवाय में पूर्व-पूर्व प्रमाण उत्तरोत्तर प्रमाण की अपेक्षा सबल होता है' व्यर्थ हो जाता है। क्योंकि इन सबल-दुर्बल प्रमाणों का कार्य दीर्घ-दीर्घतर अभिधा से ही सिद्ध हो जाने के कारण इनकी आवश्यकता शेष नहीं रहती।

३. मीमांसक अपने मत की सिद्धि के लिए एक अन्य सिद्धान्त उपस्थित करते हैं—'निमित्तानुसारेण नैमित्तिकानि कल्प्यन्ते' अर्थात् जिस प्रकार का निमित्त (कारण) होगा, नैमित्तिक (कार्य) भी उसी के अनुरूप होगा। व्यंग्यार्थ रूप नैमित्तिक का निमित्त 'शब्द' के अतिरिक्त और कोई नहीं हो सकता। अतः शब्द बोधक अथवा वाचक है, और व्यंग्यार्थ बोध्य अथवा वाच्य है। यह

मर्मभेदं प्राणहरणं च विधत्ते, तथा सुकविप्रयुक्त एक एव शब्द एकेनैवाभिधा-व्यापारेण पदार्थोपस्थितिमन्वयबोधं व्यंग्यप्रतीतिं च विधत्ते जनयति।

—का० प्र०, बालबोधिनी टीका, पृष्ठ २२५

१. तुलनार्थ—सति हि निमित्ते नैमित्तिकं भवितुमर्हति, नाऽसति।

—शबरभाष्य।

वाचक-वाच्य सम्बन्ध जब अभिधा द्वारा स्थापित हो सकता है, तो व्यंजना की स्वीकृति अनावश्यक है।[1]

पर व्यंजनावादी व्यंग्यार्थ का निमित्त 'शब्द' को नहीं मानते। क्योंकि शब्द व्यंग्यार्थ का न तो 'कारक निमित्त' बन सकता है, और न 'ज्ञापक निमित्त'। शब्द तो व्यंग्यार्थ का प्रकाशक है, अत 'कुम्भकार-घट' इस कारण-कार्य-सम्बन्ध में कुम्भकार के समान 'शब्द' व्यंग्यार्थ का 'कारक निमित्त' नहीं है। शब्द' व्यंग्यार्थ का 'ज्ञापक निमित्त' भी नहीं है, क्योंकि 'दीप-घट' इस ज्ञापक-ज्ञाप्य सम्बन्ध में घट के समान व्यंग्यार्थ का अस्तित्व पूर्व विद्यमान नहीं रहता। इसके अतिरिक्त अभिधा शक्ति द्वारा अर्थ-बोध परस्पर अन्वित पदों के संकेत से ही होता है, पर व्यंग्यार्थ कभी संकेतित नहीं होता। इस प्रकार शब्द 'निमित्त' के किसी भी उक्त रूप पर घटित नहीं होता। इसलिए व्यंग्यार्थ को उसका नैमित्तिक मानना समुचित नहीं है। अतएव अभिधा द्वारा व्यंग्यार्थ की गम्यता भी सिद्ध नहीं हो सकती।

४ अन्विताभिधानवादी अभिधा के समर्थन में कह सकते हैं कि अभिहितान्वयवादियों के विपरीत इनके मत में अभिधा शक्ति केवल पदार्थ का सामान्य ज्ञानमात्र करा के विरत नहीं हो जाती, अपितु वाक्य के अन्वितार्थ का विशेष (अथवा सामान्यावच्छादित विशेष) ज्ञान करा देती है, अतः विशेष ज्ञान के अन्तर्गत व्यंग्यार्थ के भी सम्मिलित हो जाने के कारण व्यंजना शक्ति की स्वीकृति नहीं करनी चाहिए।[2] पर व्यंजनावादियों के मत में एक तो व्यंग्यार्थ वाक्य का अन्वितार्थ नहीं होता, और दूसरे, वह विशेष से भी बढ़कर 'अति विशेष' होता है; और कहीं वाच्यार्थ से विपरीत भी होता है। अत अभिधा शक्ति द्वारा इसकी सिद्धि सम्भव नहीं है।[3]

---

१. ननु व्यंग्यप्रतीतिर्नैमित्तिकी। निमित्तान्तरानुपलब्धेः शब्द एव निमित्तम्। तच्च बोध्यबोधकस्वरूपं निमित्तत्वं वृत्तिं विना न सम्भवतीति अभिधेव वृत्तिरिति मीमांसकैकदेशिमतमाशंकते।

—का० प्र०, बा० बो० टीका, पृष्ठ २२४

२. × × × तथापि सामान्यावच्छादितो विशेषरूप एवासौ प्रतिपद्यते व्यतिषक्तानां पदार्थानां तथाभूतत्वादित्यन्विताभिधानवादिनः।

—का० प्र० ५म उ०, पृष्ठ २२३

३. तेषामपि मते सामान्यविशेषरूपः पदार्थः संकेतविषय इत्यतिविशेषभूतो वाक्यार्थान्तर्गतोऽसंकेतितत्वादवाच्य एव यत्र पदार्थः प्रतिपद्यते तत्र दूरेऽर्थान्तरभूतस्य 'निश्शेषच्युते' त्यादौ विध्यादेश्चर्चा।— वही, पृष्ठ २२३

शेष रहे अभिहितान्वयवादी। इनके मत मे अभिधा शक्ति जब परस्पर-सम्बद्ध वाक्यार्थ का ज्ञान नही करा सकती, इसके लिए इन्हे तात्पर्य वृत्ति माननी पड़ती है, तो फिर यह व्यग्य जैसे दूरवर्ती अर्थ का बोध कराने मे कैसे समर्थ होगी ?[1]

२ तात्पर्यवाद

अभिहितान्वयवादी मीमासक तात्पर्य वृत्ति मे व्यजना शक्ति का अन्तर्भाव मानते हैं। काव्यशास्त्रियो मे धनजय और धनिक तात्पर्यवादी आचार्य माने जाते हैं।[2] धनजय के कथनानुसार जिस प्रकार 'द्वार द्वार' कहने से वक्ता की अश्रूयमाण भी क्रिया 'खोलो,' अथवा 'बन्द करो,' का ज्ञान प्रकरणादि-वश वाक्यार्थ अर्थात् तात्पर्यार्थ वृत्ति द्वारा हो जाता है, उसी प्रकार विभावादि-युक्त काव्य मे स्थापित भाव का ज्ञान भी काव्य के वाक्यार्थ (तात्पर्य) से ही हो जाता है।[3] इसके लिए अलग वृत्ति मानने की आवश्यकता नही है।

धनिक ने धनजय के उक्त अभिप्राय को थोडा तीव्र रूप मे प्रस्तुत करते हुए कहा है कि 'जिस प्रकार कोई भी लौकिक वाक्य वक्ता की अभिप्रेत विवक्षा (तात्पर्य) पर आश्रित रहता है, उसी प्रकार काव्य भी [कवि के] तात्पर्य पर आश्रित रहता है। वस्तुत., तात्पर्य कोई तुला-धृत पदार्थ तो है नही कि जिसके विषय मे यह कहा जा सके कि इसकी विश्रान्ति अर्थात् सीमा यहाँ तक नियत है, इसके आगे नही।'[4]

---

१. × × × विशेषे सकेत. कर्तुं न युज्यत इति सामान्यरूपाणां पदार्थानामाकाक्षासंनिधियोग्यतावशाद् परस्परसंसर्गो यत्राऽपदार्थोऽपि विशेषरूपो वाक्यार्थस्तत्राऽभिहितान्वयवादे का वार्ता व्यंग्यस्याभिधेयतायाम् ।

—का० प्र० ५म उ०, पृष्ठ २१६

२. धनञ्जय और धनिक भाट्ट मीमासको से अधिक प्रभावित जान पडते हैं।

३. वाच्या प्रकरणादिभ्यो बुद्धिस्था वा यथा क्रिया ।
वाक्यार्थः कारकैर्युक्ता स्थायिभावस्तथेतरैः ॥ द० रू० ४. ३७

४. (क) पौरुषेयस्य वाक्यस्य विवक्षापरतन्त्रता ।
वक्त्रभिप्रेततात्पर्यमतः काव्यस्य युज्यते ॥ द० रू० ४ ३७ (वृत्ति)

(ख) एतावत्येव विश्रान्तिस्तात्पर्यस्येति किं कृतम् ।
यावत्कार्यप्रसारित्वात्तात्पर्यं न तुलाधृतम् ॥ द० रू० ३.३७

किन्तु ध्वनिवादी तात्पर्यवादियों से इसी बात पर सहमत नहीं हैं। इनके अनुसार तात्पर्य नामक वृत्ति पदों के अन्वितार्थ का बोध करा चुकने के बाद जब विश्रान्त हो जाती है तो व्यंग्यार्थ-द्योतन के लिए व्यंजना शक्ति की आवश्यकता पड़ती है, पर तात्पर्यवादी इस 'विश्रान्ति' को स्वीकार नहीं करते—

ध्वनिश्चेत् स्वार्थविश्रान्तं वाक्यमर्थान्तराश्रयम्।
तत्परत्वं त्वविश्रान्तौ, तन्न विश्रान्त्यसम्भवात्॥ द० रू० ४.३७ (वृत्ति)

निष्कर्ष यह है कि तात्पर्यवादी वाक्यार्थमात्र से आगे प्रतीयमान अर्थ के लिए भी तात्पर्य शक्ति की स्वीकृति करते हैं, पर ध्वनिवादी व्यंजना शक्ति की। *यहाँ एक स्वाभाविक शंका उपस्थित होती है कि क्या वाक्यार्थ* और प्रतीयमानार्थ दोनों एक हैं। स्वयं तात्पर्यवादी इन्हें भिन्न-भिन्न तथा पौर्वापर्य-रूप से स्थित मानते हैं। अतः मीमांसकों के ही सिद्धान्त "**शब्दबुद्धि-कर्मणां विरम्य व्यापाराभाव**" के अनुसार तात्पर्य शक्ति वाक्यार्थमात्र का बोध करा चुकने के बाद विरत हो जाती है। अब प्रतीयमान अर्थ के बोध के लिए किसी अन्य शक्ति की स्वीकृति अनिवार्य है; तात्पर्यवादी भले ही इसे भी तात्पर्य शक्ति नाम दें, पर इसकी कार्य-सीमा वहीं से आरम्भ होगी, जहाँ प्रथम तात्पर्य शक्ति की विश्रान्ति होगी। अब केवल नाम में ही अन्तर रह जाता है—*उसे तात्पर्य शक्ति कहें, अथवा व्यंजना शक्ति, पर है यह प्रथम* तात्पर्य से भिन्न ही। अतः इसे व्यंजना शक्ति कहना ही समुचित है।

३. लक्षणावाद

भट्ट उद्भट प्रभृति आचार्य लक्षणावादी माने जाते हैं। इनके मत में व्यंग्यार्थ का अन्तर्भाव लक्ष्यार्थ में किया जाना चाहिए। अतः लक्षणा शक्ति से परे व्यंजना शक्ति मानने की आवश्यकता नहीं है।

ये ध्वनि (व्यंजना) को भाक्त अर्थात् लक्षणा-गम्य मानते हैं—**भाक्त-माहुस्तमन्ये।**[1] किन्तु आनन्दवर्धन ने ध्वनि को लक्षणा-गम्य न मानते हुए इसे एक स्वतन्त्र तत्त्व के रूप में प्रतिष्ठित किया है। इस सम्बन्ध में उनकी मान्यतानुसार मम्मट ने जो तर्क प्रस्तुत किये हैं, उनका सार इस प्रकार है[2]—

१. लक्षणा शक्ति तीन हेतुओं पर आधारित है—मुख्यार्थ-बोध, मुख्यार्थ से सम्बद्ध अर्थ की प्रतीति, तथा रूढ़ि अथवा प्रयोजन। उदाहरणार्थ—

---

१. ध्वन्यालोक १.१

२. ध्वन्यालोक १.१४-१८, काव्यप्रकाश २.१४, २२-३१ तथा ५.४७.६६

अब विवेच्य विषय पर आएं। उक्त वाक्य में 'गंगा' इस लाक्षणिक शब्द से जब शीतलता-पवित्रता आदि प्रयोजन-द्योतक अर्थ लेते हैं, तो इस स्थिति में मुख्यार्थ-बाध आदि उक्त तीन हेतु घटित नहीं होते, जैसे कि इससे तट-रूप लक्ष्यार्थ ग्रहण करने में घटित होते हैं। अर्थात् शीतलता-पवित्रता आदि के द्योतन में 'गंगा' शब्द स्खलद्गति नहीं है[1], क्योंकि शीतलता-पवित्रता आदि धर्म तो मुख्यार्थ-बाध आदि के बिना भी—अविनाभूत[2] होने से—गंगा शब्द के अर्थ के साथ स्वय ही उपस्थित हो जाते हैं। वस्तुतः लक्षणा शक्ति का क्षेत्र भी इसी रूप में सीमित है कि जब मुख्यार्थ का अन्य प्रमाणों से बाध हो जाता है तभी लक्षणा शक्ति प्रवृत्त होती है और इसके द्वारा उस लक्ष्यार्थ की प्रतीति होती है जो अभिधेय (मुख्यार्थ) के साथ अविनाभूत रूप में सम्बद्ध रहता है।[3]

निष्कर्ष यह कि गंगा शब्द का शीतलता-प्रयोजनता रूप अर्थ न तो अभिधा शक्ति का विषय है, क्योंकि इस अर्थ में 'गंगा' शब्द संकेत-ग्रह नहीं करता, और न लक्षणा शक्ति का विषय है, क्योंकि यहां उक्त तीनों हेतु घटित नहीं होते।[4]

(ग) यदि शीतलता-पवित्रता रूप प्रयोजन को व्यंग्यार्थ न मानकर लक्ष्यार्थ माना जाए तो फिर इसकी सिद्धि के लिए किसी अन्य प्रयोजन को मानना होगा। प्रथम तो यहां कोई अन्य प्रयोजन है नहीं, और यदि कोई ढूंढ भी लें तो उसे भी लक्ष्यार्थ मानने पर उसकी सिद्धि के लिए किसी अन्य प्रयोजन की खोज करनी होगी।[5]

(घ) लक्षणा शक्ति द्वारा ही 'प्रयोजन-विशिष्ट लक्ष्यार्थ' की स्वीकृति कर लेनी चाहिए, अतः व्यंजना शब्द-शक्ति की सत्ता पृथक् नहीं माननी

१. न च शब्दः स्खलद्गतिः। का० प्र० २.१६
२. 'अविनाभूत' से तात्पर्य है वियोग का अभाव, जो जिसके बिना सम्भव न हो, अनिवार्य तत्त्व।
३. मानान्तरविरुद्धे हि मुख्यार्थस्य परिग्रहे।
अभिधेयाविनाभूतप्रतीतिर्लक्षणोच्यते॥ —श्लोकवार्तिक (कुमारिल भट्ट)
४. 'हेत्वाभावान्न लक्षणा' की ही वस्तुतः व्याख्या है—न च शब्दः स्खलद्गतिः।
५. (क) न प्रयोजनमेतस्मिन्। का० प्र० २.१६
(ख) एवमप्यनवस्था स्याद् या मूलक्षयकारिणी। का० प्र० २.१७

सार यह है कि व्यंग्यार्थ वाच्यार्थ से ही सम्बद्ध रहता है। यदि वह वाच्यार्थ से सम्बद्ध न हो तो किसी भी शब्द से कोई भी अर्थ प्रतीत होने लगेगा। दूसरे शब्दों में, तथाकथित 'व्यंग्य-व्यंजक भाव' के लिये व्याप्ति-सम्बन्ध की स्वीकृति अनिवार्य है। अन्य अर्थ की अभिव्यक्ति के लिए जो [व्यंजना नामक] तत्त्व ध्वनिवादियों को अभीष्ट है, वही अनुमानवादियों को गमकत्व (अनुमान) नाम से अभीष्ट है।[1] अतः व्यञ्जना व्यापार अनुमान प्रमाण का विषय है।

अनुमान की प्रक्रिया में व्याप्ति और पक्षधर्मता—ये दो मुख्य अंश हैं। व्याप्ति कहते हैं—हेतु तथा साध्य के नित्य साहचर्य को। उदाहरणार्थ, जहाँ-जहाँ धुआँ है, वहाँ-वहाँ अग्नि है—यह व्याप्ति है। इस वाक्य में धूम हेतु है और अग्नि साध्य। पक्षधर्म कहते हैं उस आश्रय को, जिसमें साध्य सन्दिग्ध रूप में रहता है। उदाहरणार्थ 'वह पर्वत वह्निमान् है' इस कथन में पर्वत पक्ष धर्म है। अनुमान का आश्रय भी तभी लिया जाता है, जब किसी पक्ष धर्म में साध्य की स्थिति सिद्ध करनी हो; जैसे—पर्वत में अग्नि की स्थिति। महानस जैसे सपक्ष धर्म अर्थात् निश्चित आश्रय में, और सरोवर जैसे विपक्ष धर्म अर्थात् असम्भव आश्रय में अग्नि रूप साध्य को अनुमान द्वारा सिद्ध करने का प्रश्न ही उपस्थित नहीं होता, क्योंकि सपक्ष धर्म में साध्य की स्थिति निश्चित है; और विपक्ष धर्म में असम्भव है। पर्वत में अग्नि की स्थिति सिद्ध करने के लिए अनुमान के विभिन्न पाँच अवयवों का स्वरूप इस प्रकार होगा—

(क) प्रतिज्ञा—वह पर्वत अग्निमान् है।

(ख) हेतु—धूम वाला होने से।

(ग) उदाहरण—

जो जो धूमयुक्त होता है, वह अग्नियुक्त होता है, जैसे महानस। (अन्वय)

जो धूमयुक्त नहीं होता, वह अग्नियुक्त भी नहीं होता, जैसे सरोवर। (व्यतिरेक)

(घ) उपनय—वह पर्वत अग्नि से व्याप्त धूम से युक्त है, अथवा वह पर्वत महानस के समान धूमवान् है।

(ङ) निगमन—अतः वह पर्वत अग्निमान् है।

महिमभट्ट ने उक्त प्रक्रिया के आधार पर आनन्दवर्धन द्वारा प्रस्तुत ध्वनि के उदाहरणों को अनुमान-गम्य सिद्ध करने का प्रयास किया है। उदाहरणार्थ,

---

१. याऽर्थान्तराभिव्यक्तौ वः सामग्रीष्टा निबन्धनम्।
सैवानुमितिपक्षे नो गमकत्वेन सम्मता ॥ व्यक्तिविवेक ३.३०,३१

गोदावरी तीर-स्थित सकेत-कुञ्ज मे आ धमकने वाले किसी धार्मिक व्यक्ति से कुलटा का यह कथन—'अब इस कुञ्ज मे निर्भर होकर भ्रमण करो, क्योंकि यहां के वासी सिंह ने कुत्ते को मार डाला है'¹—वाच्यार्थ-रूप मे विधि-वाक्य प्रतीत होता हुआ भी व्यग्यार्थ-रूप मे निषेध-वाक्य है कि यहां मत घूमा करो। महिमभट्ट के अनुसार यह निषेधार्थ अनुमान-गम्य है, न कि व्यञ्जना-गम्य। अनुमान की प्रक्रिया इस प्रकार होगी—

—यह धार्मिक व्यक्ति (पक्ष) सिंह-युक्त गोदावरी-तीर पर भ्रमणवान् नहीं है=साध्य।

—क्योंकि कुत्ते के लौट जाने पर ही वह भ्रमण कर सकता है=हेतु।

—किसी भी अन्य भीरु व्यक्ति के समान=दृष्टान्त।

परन्तु ध्वनिवादी इस निषेध-रूप अर्थ को अनुमान का विषय नहीं मानते। अनुमान की व्याप्ति सद् अर्थात् निश्चित हेतु से ही सम्भव है; असद् अर्थात् अनिश्चित हेतु से नहीं। पर ध्वनि-काव्य कवि की कल्पना पर आश्रित होने के कारण असद्-हेतु से भी युक्त होता है। उक्त उदाहरण मे 'जहां-जहां भीरु का अभ्रमण होगा, वहां-वहां भय का कारण अवश्य होगा'—यह व्याप्ति असंगत है, क्योंकि भीरु लोग भी भययुक्त स्थान पर गुरु की कठोर आज्ञा अथवा प्रिया के अनुराग अथवा किसी अन्य कारण से भ्रमण करते देखे जाते हैं। अत. यहां सद् हेतु न होकर अनैकान्तिक (अनिश्चयात्मक) हेत्वाभास है।

इसके अतिरिक्त उक्त अनुमान-प्रक्रिया विरुद्ध और असिद्ध नामक दो अन्य हेत्वाभासों के कारण भी युक्ति-संगत नहीं है—

(क) वह धार्मिक व्यक्ति कुत्ते की अपवित्रता के कारण उससे भयभीत हो कर तो वहां भ्रमण नहीं कर सकता, पर वीर व्यक्ति होने से सिंह से भय-भीत न होने के कारण वह उस स्थान पर भ्रमण कर सकता है—यह विरुद्ध हेत्वाभास है।

(ख) गोदावरी तीर पर सिंह है भी या नहीं—यह न तो प्रत्यक्ष प्रमाण द्वारा सिद्ध है और न अनुमान प्रमाण द्वारा। आप्त-प्रमाण द्वारा भी यह सिद्ध नहीं हो सकता, क्योंकि सिंह की सूचना देने वाली कुलटा अथवा सामान्या नारी है, जिसका वचन प्रमाण नहीं माना जा सकता—यह असिद्ध

---

१. भ्रम धार्मिक विश्रब्धः स शुनकोऽद्य मारितस्तेन।
गोदानदीकच्छनिकुञ्जवासिना दृप्तसिंहेन॥
—का० प्र० ५.१३६ (संस्कृतच्छाया)

हेत्वाभास है। इन सब कारणों से व्यंजना-शक्ति के स्थान पर अनुमान को मानना सर्वथा असंगत है।[१]

× × ×

इस प्रकार ध्वनिवादियों ने अन्य विरोधी पक्षों का युक्ति-संगत खण्डन करके व्यञ्जना (ध्वनि) की सुदृढ़ स्थापना की है। इस प्रसंग के अन्त में 'अलंकारसर्वस्व' के व्याख्याकार जयरथ का यह कथन उद्धरणीय है—

> तात्पर्यशक्तिरभिधा लक्षणानुमिती द्विधा ।
> अर्थापत्तिः क्वचित्तन्त्रं समासोक्त्याद्यलंकृतिः ॥
> रसस्य कार्यता भोगो व्यापारान्तरबाधनम् ।
> द्वादशेत्थं ध्वनेरस्य स्थिता विप्रतिपत्तयः ॥

अर्थात् ध्वनि-विरोध के सम्बन्ध में निम्नोक्त १२ विप्रतिपत्तियाँ निर्दिष्ट की जा सकती हैं—

(१) तात्पर्या वृत्ति,

(२) अभिधा शक्ति,

(३, ४) लक्षणा शक्ति के दो भेद—[सम्भवतः जहत्स्वार्था और अजहत्-स्वार्था],

(५, ६) अनुमान के भेद—[अज्ञात],

(७) अर्थापत्ति [अनुमान पक्ष का ही एक परिष्कृत रूप],

(८) तन्त्र [सम्भवत श्लेषालंकार के समकक्ष, किन्तु श्लेषालंकार अभिधा का ही विषय है],

(९) समासोक्ति आदि अलंकार [देखिए पृष्ठ १४१-१४५],

(१०) रसकार्यता [अर्थात् रससिद्धान्त, देखिए पृष्ठ १६२-१७३],

(११) भोग [भट्टनायक का मन्तव्य : रस-निष्पत्ति-प्रसंग में],

(१२) व्यापारान्तरबाधन—हमारे विचार में सम्भवतः इससे अभिप्रेत यह है कि 'ध्वनि' को ध्वनि न कहकर 'व्यापारान्तरबाधन' कहना चाहिए, क्योंकि यह वह व्यापार है जिसके द्वारा वाच्यार्थ को बाधित (अस्वीकृत) समझा जाता है।[२]

---

१. विशेषत. द्रष्टव्य—काव्यप्रकाश ५ म०उ०

२. डॉ० वी. राघवन को इससे कुन्तक-सम्मत 'वक्रोक्ति' अभिप्रेत है, और प्रो० कुप्पुस्वामी को 'अनिर्वचनीयतावाद' (देखिए पृष्ठ १४५)

काव्य की आत्मा

आनन्दवर्धन ने, जैसा कि ऊपर कह आये हैं, ध्वनि को काव्य की आत्मा के रूप में स्वीकृत किया । इन से पूर्व भामह, दण्डी तथा उद्भट ने 'अलंकार' को काव्य का सर्वस्व और वामन ने 'रीति' को काव्य की आत्मा के रूप में घोषित किया था । अपने मत की पुष्टि के लिए आनन्दवर्धन ने इन दोनों तत्त्वों का खण्डन किया । अलंकार से सम्बद्ध खण्डन अभाववादी आचार्यों के प्रसंग में ऊपर यथास्थान प्रस्तुत किया जा चुका है । (देखिए पृष्ठ १४१-१४५) रीति को इन्होंने 'संघटना' नाम देते हुए कहा कि यह दह गुणों पर आश्रित रह कर रसों की अभिव्यक्त करती है—

गुणानाश्रित्य तिष्ठन्ती माधुर्यादीन् व्यनक्ति सा ।
रसान्............... .... ॥ ध्वन्या० ३.६

इसका तात्पर्य यह कि आनन्दवर्धन की दृष्टि में रीति की सिद्धि इसी में है कि वह रस की अभिव्यक्ति में सहयोग दे और वह भी साक्षात् रूप में नहीं, एक पग और पीछे—गुणों के आश्रित रहकर, तथा यह भी उस 'रस' की अभिव्यक्ति में, जो स्वयं ध्वनि पर आश्रित है, उसका एक प्रभेद मात्र है । आनन्दवर्धन रीति को केवल घटना (रचना-प्रकार) मात्र मानते हैं । स्वयं वामन भी मूलतः इसे एक बाह्य तत्त्व स्वीकार करते हैं, क्योंकि आनन्दवर्धन ने यदि समास के सद्भाव और असद्भाव को संघटना (रीति) के स्वरूप में स्थान दिया, तो यही दिशा वामन ने भी अपनायी थी । स्पष्ट है कि समास-प्रक्रिया बाह्य तत्त्व का ही सूचक है । आनन्दवर्धन के इसी दृष्टिकोण का परिपालन उनके अनुयायी परवर्ती आचार्यों द्वारा भी किया गया । परिणामतः, रीति अपने 'आत्मपद' से च्युत होकर विश्वनाथ के शब्दों में 'अंगसंस्थान' मात्र बन कर रह गयी ।[1] निष्कर्षतः, आनन्दवर्धन ने 'रीति' को केवल मात्र एक बाह्य तत्त्व स्वीकार करते हुए इसे 'आत्मा' मानने वाले वामन का खण्डन किया है, और उनके सम्बन्ध में स्पष्टतः कहा है कि वह अस्फुट रूप से प्रतीत होने वाले, अर्थात् ध्वनि जैसे आन्तरिक, काव्य-तत्त्व की व्याख्या करने में नितान्त असमर्थ था, और तभी तो उसने रीति का प्रवर्तन किया है—

अस्फुटस्फुरितं काव्यतत्त्वमेतद् यथोदितम् ।
अशक्नुवद्भिर्व्याकर्तुं रीतयः सम्प्रवर्तिताः ॥ ध्वन्या० ३.४७

× × ×

---

१. पदसंघटना रीतिरंगसंस्थाविशेषवत् ।
उपकर्त्री रसादीनाम् × × × ॥ सा० द० ९.१

इस प्रकार आनन्दवर्धन ने ध्वनि-तत्त्व से पूर्ववर्ती उक्त दोनों तत्त्वों का खण्डन उनके प्रति अपनी मान्यताओं के आधार पर किया—'अलंकार' को आभूषक मात्र मानते हुए, तथा रीति को एक संघटना (रचना-प्रकार) मात्र। किन्तु इससे इनके प्रवर्तक आचार्यों के प्रति निस्सन्देह यथोचित *न्याय नहीं* हुआ। वस्तुतः, इनका खण्डन उन्हीं के समान इन दोनों तत्त्वों का व्यापक *अर्थ लेकर ही करना चाहिए था, न कि केवल अपनी मान्यतानुसार उनका* सीमित अर्थ लेकर। आनन्दवर्धन के इस शैथिल्य का, अथवा यों कहिए एक प्रकार की न्यूनता का, आनन्दवर्धन की ही ओर से उत्तर भी दिया जा सकता है कि यदि वे पूर्ववर्ती आचार्यों के अलंकार एवं रीति-विषयक व्यापक दृष्टिकोण को ही अपनाते तो भी परिणाम यही निकलता कि ये दोनों तत्त्व मूलतः बाह्यपरक हैं, और इनके इसी बाह्य स्वरूप का ही इन्होंने अपनी मान्यताओं में स्पष्टतः उल्लेख किया है।

किन्तु, इसके विपरीत आनन्दवर्धन स्वसम्मत 'ध्वनि' को *'नितान्त आन्तरिक काव्य-तत्त्व'* निर्दिष्ट करते हुए इसे काव्य की आत्मा घोषित करते हैं, और वस्तुतः, इसे इस महनीय पद पर आसीन करने के लिए केवल यही एक प्रबल तर्क पर्याप्त है, जिसे इन्होंने अनेक स्थलों पर उद्‌घोषित किया है—

(क) प्रतीयमानं पुनरन्यदेव वस्त्वस्ति वाणीषु महाकवीनाम्।
यत् तत् प्रसिद्धावयवातिरिक्तं विभाति लावण्यमिवांगनासु॥
—ध्वन्या० १.४

(ख) मुख्या महाकविगिरामलङ्कृतिभृतामपि।
प्रतीयमानच्छायैषा भूषा लज्जेव योषिताम्॥[1] ध्वन्या० ३.३८

निस्सन्देह यही *प्रतीयमानार्थ (व्यंग्यार्थ, ध्वनि)* ही अलंकार और रीति जैसे बाह्यपरक उपादानों की तुलना में 'आत्मा' जैसे आन्तरिक तत्त्व से सम्मानित किये जाने का वास्तविक *अधिकारी है। अस्तु!*

---

१. (क) जिस प्रकार *नारियों का लावण्य उनके [मुख, नेत्र, केश आदि]* अवयवों से विभिन्न होता है, उसी प्रकार महाकवियों की वाणियों में प्रतीयमान अर्थ [वाच्यार्थ से भिन्न] कुछ और ही होता है।

(ख) जिस प्रकार [कटक, कुण्डल आदि] आभूषणों से सजी होने पर भी नारियों का मुख्य आभूषण लज्जा है, उसी प्रकार [अनुप्रास, उपमा आदि] अलंकारों से युक्त भी महाकवियों की वाणी का मुख्य आभूषण *व्यंग्यार्थ* का संस्पर्श ही है।

इसके अतिरिक्त आनन्दवर्धन ने काव्य के विविध चमत्कार को ध्वनि पर आधारित मानते हुए अपनी उक्त मान्यता की परिपुष्टि की है। ध्वनि के तारतम्य के अनुरूप इन्होंने काव्य के तीन रूप स्वीकृत किये हैं—ध्वनि, गुणीभूतव्यंग्य और चित्र। ध्वनि-काव्य के प्रमुख भेद पाँच हैं, और गुणीभूतव्यंग्य-काव्य के आठ। फिर, इनके अनेक उपभेद हैं, जो पदांश, पद, वाक्य से लेकर प्रबन्धगतता तक फैले हुए हैं। इस तरह इन दोनों काव्य-तत्त्वों के भेदोपभेदों में प्रत्येक प्रकार का काव्य-सौन्दर्य अन्तर्भूत किया जा सकता है। स्वयं आनन्दवर्धन के शब्दों में, इन दोनों के सम्पर्क से वाणी अतिशय समृद्धि को प्राप्त कर लेती है।[1] ध्वनि-काव्य का एक भेद 'असंलक्ष्यक्रमव्यंग्य' है, जो रस, भाव, रसाभास आदि का पर्याय है।[2] गुणीभूतव्यंग्य-काव्य के एक भेद 'अपरस्यांग' से अभिप्राय है रसवद् आदि अलंकारों का चमत्कार[3]। इधर 'चित्रकाव्य' के अन्तर्गत माधुर्य आदि गुणों और उससे सम्बद्ध रीतियों के अतिरिक्त सभी अलंकारों का चमत्कार सन्निहित है।[4] इसका तात्पर्य यह है कि गुण और अलंकार भी आनन्दवर्धन के अनुसार व्यंग्य-रहित नहीं होते, उनमें भी व्यंग्य की सत्ता रहती है, किन्तु अस्फुट रूप से।[5] निष्कर्षतः, आनन्दवर्धन के अनुसार सभी प्रकार के काव्य-सौन्दर्य में ध्वनितत्त्व—प्रमुख, गौण अथवा अस्फुट रूपों में से—किसी न किसी रूप में अनिवार्यतः विद्यमान रहता है। इसीलिए भी ध्वनि को 'काव्य की आत्मा' माना गया है।

इस प्रकार इन उपर्युक्त दोनों कारणों के आधार पर आनन्दवर्धन ने 'ध्वनि काव्य की आत्मा है' यह घोषित करते हुए अन्य काव्यांगों का स्वरूप स्थिर किया, तथा इन्हें ध्वनि से सम्बद्ध करते हुए इनकी वास्तविक स्थिति का स्पष्टीकरण किया।

× × ×

काव्य की आत्मा के प्रसंग में अलंकार और रीति के अतिरिक्त वक्रोक्ति और रस नामक काव्यतत्त्व भी विचारणीय हैं। इनमें से वक्रोक्ति का विवेचन कुन्तक ने किया जो कि आनन्दवर्धन का परवर्ती है। वह इसे काव्य का जीवित

---

१. ध्वनेरित्थं गुणीभूतव्यंग्यस्य च समाश्रयात्।
न काव्यार्थविरामोऽस्ति यदि स्यात् प्रतिभागुणः ॥ ध्वन्या० ४.६.

२. ध्वन्या० २.३

३. ध्वन्या० २.५, का० प्र० ५ म उ०, पद्य सं० ११६-१२५

४ चित्रमिति गुणालंकारयुक्तम्। का० प्र० १.१५

५. अव्यंग्यमिति स्फुटप्रतीयमानार्थरहितम्। का० प्र० १.४

कहता है । रस का विवेचन भरत के समय से होता चला आया है, और परवर्ती अनेक आचार्यों ने इसे काव्य की आत्मा माना।

वक्रोक्ति[1] अपने ६ प्रमुख भेदों [और उनके ४१ उपभेदों] के अन्तर्गत अधिकतर काव्यांगों और काव्य-तत्त्वों को अपने विशाल अन्तराल में समाविष्ट किये है, और इसका आधार है उक्ति की वक्रता अर्थात् विच्छित्ति। किन्तु कुन्तक-सम्मत विवेचन से यह स्पष्ट नहीं होता कि वक्रोक्ति केवल बाह्य तत्त्व है अथवा केवल आन्तरिक तत्त्व। कहीं वे इसे वामन के समान प्राय बाह्य तत्त्व के रूप में स्वीकार करते प्रतीत होते हैं—न केवल स्थूल प्रसंगों में, अपितु सूक्ष्म प्रसंगों में भी, और कहीं आनन्दवर्धन के समान आन्तरिक रूप में—अन्तर केवल नाम का रहता है—आनन्दवर्धन जिसे ध्वनि कहते हैं कुन्तक उसे वक्रोक्ति कह देते हैं। इस प्रकार हमारे सम्मुख वक्रोक्ति के ये दोनों रूप उपस्थित होते हैं—बाह्य और आन्तरिक, किन्तु फिर भी, कुल मिलाकर कुन्तक की वक्रोक्ति बाह्य-रूपात्मका ही अधिक है।

इस प्रकार हमने देखा कि जिस प्रकार 'ध्वनि' के सम्बन्ध में दृढतापूर्वक यह कहा जा सकता है कि वह अपने आप में, अनिवार्यतः और सम्पूर्णतः, एक आन्तरिक तत्त्व है, उसी प्रकार वक्रोक्ति के सम्बन्ध में दृढतापूर्वक यह नहीं कहा जा सकता कि वह केवल बाह्य अथवा केवल आन्तरिक तत्त्व है।

वक्रोक्ति के उपभेदों पर एक सरसरी-सी दृष्टि डाल देने से भी इस कथन की पुष्टि हो जाएगी। उदाहरणार्थ—'वर्णवैचित्र्य-वक्रता' तो बाह्यपरक है ही, पदपूर्वार्द्ध-वक्रता के ११ उपभेदों में से रूढिवैचित्र्यवक्रता और उपचारवक्रता तो आन्तरिक तत्त्व के सूचक हैं, और शेष ६ उपभेद बाह्य तत्त्व के। इसी प्रकार, यदि समग्र रूप में वक्रोक्ति के सम्बन्ध में इस दृष्टि से विचार करें तो स्पष्टतः ज्ञात होता है कि उसके बाह्य पक्ष का पलड़ा उसके आन्तरिक पक्ष की अपेक्षा कहीं अधिक भारी है। किन्तु ऐसा मानते हुए भी यह निःसंकोच कहा जा सकता है कि 'वक्रोक्ति तत्त्व' की यह बाह्यपरकता भामह आदि के 'अलंकार-तत्त्व' और वामन के 'रीति-तत्त्व'—इन दोनों की अपेक्षा अनेक रूपों से निराली है। कुन्तक का दृष्टिकोण इन आचार्यों की अपेक्षा कहीं अधिक व्यापक है। वक्रोक्ति के ४१ उपभेद, इन उपभेदों में प्रायः सभी स्वीकृत काव्य-तत्त्वों की समाहिति, अलंकार के प्रति कुन्तक का दोहरा दृष्टिकोण, रस के प्रति उनका आग्रहपूर्ण

---

१. वक्रोक्ति का कुन्तक-सम्मत लक्षण है—'वैदग्ध्य-भंगी-भणिति', अर्थात् कवि की विदग्धता से जन्य विचित्र कथन।

समादर, और ध्वनि तथा इसके भेदोपभेदों को प्रकारान्तर से स्वीकृति—ये सभी तथ्य इस वास्तविकता के सूचक हैं कि वक्रोक्ति-सिद्धान्त की यह बाह्यपरकता अलंकार-सिद्धान्त और रीति-सिद्धान्त की बाह्यपरकता की अपेक्षा कहीं अधिक व्यापक है, और कुन्तक द्वारा यही व्यापक एवं विशिष्ट बाह्यरूपात्मिका 'वक्रोक्ति' काव्य की आत्मा के रूप में घोषित की गयी थी।

× × ×

अब रस सिद्धान्त को लीजिए। काव्य की आत्मा के प्रसंग में रस-सिद्धान्त पर प्रकाश डालने से पूर्व यह स्पष्ट कर देना आवश्यक है कि रस शब्द का प्रयोग दो अर्थों में होता है। [१] काव्यानन्द, काव्याह्लाद आदि के अर्थ में, [२] 'रसादि-ध्वनि' के अर्थ में, अर्थात् ध्वनि के 'असंलक्ष्यक्रम-व्यंग्य' नामक एक भेद के अर्थ में। काव्य की आत्मा के प्रसंग में हमें रस शब्द का केवल *प्रथम अर्थ अभीष्ट है। अस्तु!*

काव्यशास्त्रीय क्षेत्र में जितना समादर रस को मिला, उतना किसी अन्य काव्य-तत्त्व को नहीं। भरत को रस-तत्त्व का प्रवर्तक समझा जाता है। उन्होंने इसे नाटक के अनिवार्य धर्म के रूप में स्वीकार किया,[1] तथा कतिपय काव्य-तत्त्वों—अलंकार, गुण, दोष—के रस-सम्प्रयत्व पर भी उन्होंने प्रकाश डाला।[2]

अलंकारवादी आचार्यों—भामह, दण्डी और उद्भट ने यद्यपि रस, भाव आदि को रसवद् आदि अलंकार नाम से अभिहित किया, तथापि उन्होंने अपने दृष्टिकोण से इसे समुचित समादर भी प्रदान किया। भामह और दण्डी ने इसे महाकाव्य के लिए 'एक आवश्यक तत्त्व' के रूप में स्वीकृत किया।[3] भामह

---

१. (क) एतद् रसेषु भावेषु सर्वकर्मक्रियासु च।
सर्वोपदेशजननं नाट्यमेतद् भविष्यति॥ ना० शा० १.११०

(ख) *बहुरसकृतमार्गं सन्धिसन्धानयुक्तम्।*
भवति जगति योग्यं नाटकं प्रेक्षकाणाम्॥ वही, १७.१२२

२. एवमेते ह्यलंकाराः गुणा. दोषाश्च कीर्तिताः।
प्रयोगमेषां च पुनः वक्ष्यामि रससंश्रयम्॥ वही १७-१०८

३. (क) युक्तं लोकस्वभावेन रसैश्च सकलैः पृथक्। का० अ० १.२१
(ख) अलंकृतमसंक्षिप्तं रसभावनिरन्तरम्॥ का० आ० १.१८

के अनुसार कटु औषधि के समान कोई शास्त्र-चर्चा भी रस के संयोग से मधुवत् बन जाती है।[1] दण्डी का माधुर्य गुण 'रसवत्' ही है, तथा यह रसवत्ता मधुपों के समान सहृदयों को प्रमत्त बना देती है।[2] दण्डी के माधुर्य गुण का एक भेद वस्तुगत माधुर्य कहाता है, जिसका अपर नाम 'अग्राम्यता' है। दण्डी के शब्दों में यही अग्राम्यता काव्य में रस-सेचन के लिए सर्वाधिक शक्तिशाली अलंकार है।[3] इनके अतिरिक्त रुद्रट ने भी, जो एक ओर अलंकार-सिद्धान्त और दूसरी ओर ध्वनि-सिद्धान्त से प्रभावित थे, रस को मुक्त कण्ठ से स्वीकार किया। भामह और दण्डी के समान इन्होंने भी रस को महाकाव्य के लिए आवश्यक तत्त्व माना।[4] प्रथम बार इन्होंने ही वैदर्भी, पाचाली नामक रीतियों और मधुरा, ललिता वृत्तियों के रसानुकूल प्रयोग का निर्देश किया,[5] शृंगार रस का प्राधान्य स्वीकार किया,[6] तथा कवि को रस के लिए प्रयत्नशील रहने का आदेश दिया।[7]

अलंकारवादी आचार्यों के उपरान्त ध्वनिवादी आचार्य आनन्दवर्धन ने ध्वनि को काव्य की आत्मा तथा रस को ध्वनि का एक भेद—असंलक्ष्यक्रम-व्यंग्यध्वनि नाम से स्वीकृत करते हुए भी रस को ध्वनि का सर्वोत्कृष्ट रूप घोषित किया। कतिपय प्रमाण लीजिए :

—वाच्यार्थों की बहुविध रचना रस के आश्रय से सुशोभित होती है।[8]

---

१ स्वादुकाव्यरसोन्मिश्रं शास्त्रमप्युपयुंजते।
प्रथमालीढमधवः पिबन्ति कटु भेषजम्॥ का० अ० ५.३

२ मधुरं रसवद् वाचि वस्तुन्यपि रसस्थिति'।
येन माद्यन्ति धीमन्तो मधुनेव मधुव्रताः॥ का० आ० १.५१

३. कामं सर्वोऽप्यलंकारो रसमर्थे निषिञ्चतु।
तथाप्यग्राम्यतैवैनं भारं वहति भूयसा॥ का० आ० १.६२

४. काव्यालंकार १६.१,५

५ ६. काव्यालंकार १४.३७; १४.३८

[illegible] तस्मात्तत्कर्तव्यं यत्नेन महीयसा रसैर्युक्तम्।
उद्वेजनमेतेषां शास्त्रवदेवाऽन्यथा हि स्यात्॥ का० अ० १२.२

८. अवस्थादिविभिन्नानां वाच्यानां विनिबन्धनम्।
भूम्नैव दृश्यते लक्ष्ये तत्तु भाति रसाश्रयात्॥ ध्वन्या० ४.८

—यों तो व्यंग्यार्थ (ध्वनि) के कई भेद हैं, किन्तु रस, भाव आदि [नामक भेद] उनकी अपेक्षा कहीं [अधिक] प्रधान हैं।[1]

—रस के सम्पर्क से प्रचलित अर्थ उस प्रकार नूतन रूप में आभासित होने लगते हैं जिस प्रकार वसन्त के सम्पर्क से द्रुम।[2]

—रस, भाव आदि के विषय से सम्बद्ध रहकर ही वाच्य और वाचक की औचित्यपूर्वक [योजना होती है, और ऐसी] योजना करना महाकवि का मुख्य कर्म है।[3]

—इस व्यंग्य-व्यंजक भाव (अर्थात् ध्वनि-तत्त्व) के अनेक भेदों के होने पर भी कवि को केवल रसादिमय ध्वनि-काव्य में ही अवधानवान् रहना चाहिए।[4]

इसी प्रकार आनन्दवर्धन के प्रख्यात अनुकर्ता मम्मट ने भी रस को काव्य का सर्वोपरि प्रयोजन निर्दिष्ट किया।[5]

आनन्दवर्धन के उपरान्त वक्रोक्तिवादी कुन्तक ने वक्रोक्ति को काव्य का 'जीवित' स्वीकार करते हुए भी रस को काव्य का अमृत एवं अन्तश्चमत्कार का वितानक मानते हुए प्रकारान्तर से इसे सर्वप्रमुख काव्य-प्रयोजन के रूप में घोषित किया।[6] उन्होंने उपसर्गगत और निपातगत पदवक्रता के प्रसंग में रस की चर्चा की[7], प्रकरण-वक्रता और प्रबन्धवक्रता के लिए रस की अनिवार्यता

---

१. प्रतीयमानस्य चान्यभेददर्शनेऽपि रसभावमुखेनैवोपलक्षणं प्राधान्यात्।
—ध्वन्या० १.५ वृत्ति

२. दृष्टपूर्वा अपि ह्यर्थाः काव्ये रसपरिग्रहात्।
सर्वे नवा इवाभान्ति मधुमास इव द्रुमाः॥ ध्वन्या० ४.४

३. वाच्यानां वाचकानां च यदौचित्येन योजनम्।
रसादिविषयेणैतत् कर्म मुख्यं महाकवेः॥ ध्वन्या० ३.३२

४. व्यंग्यव्यञ्जकभावेऽस्मिन् विविधे सम्भवत्यपि।
रसादिमय एकस्मिन् कविः स्यादवधानवान्॥ ध्वन्या० ४.५

५. सकलप्रयोजनमौलिभूतं सद्यःपरनिर्वृतिरेव रसास्वादनसमुद्भूतं विगलितवेद्यान्तरम् आनन्दम्। —काव्यप्रकाश १ म उ०

६. चतुर्वर्गफलास्वादमप्यतिक्रम्य तद्विदाम्।
काव्यामृतरसेनान्तश्चमत्कारो वितन्यते॥ व० जी० १.५

७. रसादिद्योतनं यस्यामुपसर्गनिपातयोः।
वाक्यैकजीवितत्वेन साऽपरा पदवक्रता॥ व० जी० २.३३

का अनेक रूपों में *निर्देश किया,*[1] *और रसवत् अलंकार को 'सब अलंकारों का जीवित'* कहते हुए प्रकारान्तर से रस की उत्कृष्टता मुक्त कण्ठ से स्वीकृत की।[2]

कुन्तक के उपरान्त इस दिशा में अग्निपुराणकार ने काव्य में रस की अनिवार्यता का संकेत करते हुए कहा कि जिस प्रकार लक्ष्मी त्याग (दान) के बिना शोभित नहीं होती, उसी प्रकार वाणी भी रस के बिना शोभित नहीं होती।[3]

रस के प्रति उक्त समादर-भाव अग्निपुराणकार के समय के आस-पास और अधिक उच्च रूप ग्रहण कर गया। अब रस को 'आत्मा' पद पर आसीन कर दिया गया—वाग्वैदग्ध्यप्रधानेऽपि रस एवात्र जीवितम्। अर्थात्, काव्य में यद्यपि वाणी की विदग्धता की प्रधानता (अनिवार्यता) रहती है, किन्तु उसका जीवित (आत्मा) तो रस ही है। इसी प्रकार महिमभट्ट ने भी रस को सर्वसम्मति से *काव्य की आत्मा स्वीकृत करने का निर्देश किया*—काव्यस्यात्मनि संगिनि......रसादिरूपे न कस्यचिद् विमतिः।[4]

इधर इसी बीच 'काव्यपुरुष-रूपक' भी पूर्णतः स्थिर हो चुका था, जिसके बीज दण्डी और वामन के समय से मिलना प्रारम्भ हो गये थे।[5] राजशेखर और उनके उपरान्त विश्वनाथ ने इसी रूपक के अन्तर्गत काव्य की आत्मा रूप में घोषित किया, और विश्वनाथ ने तो सर्वप्रथम अपना काव्य-लक्षण ही इसी मान्यता के आधार पर प्रस्तुत किया—वाक्यं रसात्मकं काव्यम्।[6]

किसी काव्य-तत्त्व को काव्य की आत्मा स्वीकृत करने के दो आधार सम्भव हैं। पहला आधार है उसी काव्य-तत्त्व में काव्य के अन्य तत्त्वों

---

१ व० जी० ४. ४, ८, १०, १६, २१

२ यथा स रसवन्नाम सर्वालंकारजीवितम्।
काव्यैकसारतां याति तथेदानीं विवेच्यते ॥ व० जी० ३.१४

३. लक्ष्मीरिव विना त्यागान्न वाणी भाति नीरसा। अ० पु० ३३६ ९

४ साहित्यदर्पण (प्रथम परिच्छेद) से उद्धृत।

५. दण्डी ने *काव्य के 'शरीर' और 'प्राण' शब्द का प्रयोग किया था तो* वामन ने 'आत्मा' का।

६. विश्वनाथ से पूर्व मम्मट ने भी गुण के लक्षण के प्रसंग के रस को काव्य की आत्मा मानने का संकेत—रूपक का आश्रय लेते हुए, प्रकारान्तर से सही—किया अवश्य था। देखिए पृष्ठ १६७ पा० टि० १, गुण (ख)

का समावेश एवं अन्तर्भाव समझना, और दूसरा आधार है अन्य काव्य-तत्त्वों द्वारा इसी तत्त्व की पुष्टि समझना । निस्सन्देह दूसरा आधार अधिक मान्य है, क्योंकि यह अपेक्षाकृत अधिक पुष्ट, स्वस्थ, आग्रह-रहित एवं तर्कपूर्ण है। रस को काव्य की आत्मा स्वीकृत करने का एक कारण यह भी है कि आनन्दवर्धन और उनके अनुवर्तिओं—मम्मट और विश्वनाथ ने, तथा इनके परवर्ती संग्रह-कर्त्ता आचार्यों ने, अन्य काव्यतत्त्वों—अलंकार, गुण और रीति को रस के साथ सम्बद्ध करते हुए इन्हें उसके पोषक रूप में प्रस्तुत किया। इन्होंने इन तीनों का लक्षण तो रस के आधार पर स्थिर किया ही, दोष का लक्षण भी 'रस' के अपकर्ष पर स्थिर किया—जहाँ दोष रस का अपकर्षक है वहीं वह दोष है, अन्यथा नहीं है।[1]

इस प्रकार हमने देखा कि—

(१) पहले रस के प्रति समादर-भाव प्रकट किया गया,

(२) पुन रस के साथ अन्य काव्य-तत्त्वों का स्वरूप सम्बद्ध किया गया,

---

१ इन चारों काव्य-तत्त्वों के लक्षण लीजिए .

अलंकार—

(क) अंगाश्रितास्त्वलंकारा मन्तव्याः कटकादिवत् ॥ ध्वन्या० २.६

(ख) उपकुर्वन्ति तं सन्तं येऽङ्गद्वारेण जातुचित् ।
हारादिवदलंकारास्तेऽनुप्रासोपमादयः ॥ का० प्र० ८.६७

(ग) शब्दार्थयोरस्थिरा ये धर्माः शोभातिशायिनः ।
रसादीनुपकुर्वन्तोऽलंकारास्तेऽङ्गदादिवत् ॥ सा० द० १०.१

गुण—

(क) तमर्थमवलम्बन्ते येऽङ्गिनं ते गुणाः स्मृताः । ध्वन्या० २.७

(ख) ये रसस्याङ्गिनो धर्माः शौर्यादय इवात्मनः ।
उत्कर्षहेतवस्ते स्युरचलस्थितयो गुणाः ॥ का० प्र० ८ ६६

(ग) रसस्यांगित्वमाप्तस्य धर्माः शौर्यादयो यथा ।
गुणाः..॥ सा० द० ८.१

रीति—

पदसंघटना रीतिरङ्गसंस्थाविशेषवत् ।
उपकर्त्री रसादीनाम्..................॥ सा० द० ९.१

दोष—

(क) मुख्यार्थहतिर्दोषो रसश्च मुख्यः । का० प्र० ७.१

(ख) रसापकर्षकास्दोषाः । सा० द० ७.१

(३) अन्तत: उसे 'आत्मा' रूप मे उद्घोषित कर दिया गया,

और, इस सबका एकमात्र कारण यह है कि रस अन्य काव्य-तत्त्वों की अपेक्षा कहीं अधिक आन्तरिक तत्त्व है—यहाँ तक कि वह 'ध्वनि' के प्रमुख पाँच भेदो मे [redacted] शेष चार भेदो की अपेक्षा भी आन्तरिक है।

× × ×

इस प्रकार 'काव्यात्मा' के प्रसग मे उक्त पाँच सिद्धान्तों[1] के एतद्विषयक पर्यवेक्षण के उपरान्त काव्य की आत्मा किसे माना जाए—इसके निर्णय का मार्ग सुगम हो जाता है। 'चैतन्यमात्मा' तथा 'ज्ञानाधिकरणमात्मा' इस आधार पर काव्य के प्रसग मे 'आत्मा' शब्द का तात्पर्य है—काव्य का अनिवार्य सार अथवा तत्त्व, *तथा वह तत्त्व बाह्य न हो कर आन्तरिक होना चाहिए।* अलकार, रीति और वक्रोक्ति तत्त्व बाह्य ही हैं।[2] शेष रहे दो काव्य-तत्त्व—ध्वनि (व्यग्यार्थ) और रस। हमारे विचार मे ध्वनि को काव्य की आत्मा मानना चाहिए। इस स्वीकृति के अनेक कारण हैं :

—प्रथम कारण यह है कि यह तत्त्व काव्य मे किसी न किसी रूप मे—प्रधान, गौण अथवा अस्फुट रूप मे—अनिवार्यत: विद्यमान रहता है। यहाँ तक कि रस के उदाहरणो मे भी इसी तत्त्व का अस्तित्व अनिवार्यत: अपेक्षित है। ध्वनि-तत्त्व के अभाव मे किसी भी कथन को 'काव्य' नहीं कह सकते, वह या तो 'लोक-वार्ता' कहा जाएगा या 'शास्त्र-कथन'।

—दूसरा कारण यह है कि ध्वनि-तत्त्व रस की अपेक्षा कहीं अधिक व्यापक है। ध्वनि-तत्त्व के तारतम्य के आधार पर काव्य को तीन श्रेणियो मे विभक्त किया जाता है—*ध्वनि-काव्य, गुणीभूतव्यग्य-काव्य* और *चित्र-काव्य*। इन तीनो श्रेणियो मे ध्वनि-तत्त्व क्रमश: मुख्य, गौण और अस्फुट रूप मे विद्यमान रहता है। ध्वनि-काव्य के प्रमुख पाँच भेदो मे से 'असलक्ष्यक्रम व्यग्य-ध्वनि' नामक

---

१. काव्यात्मा के प्रसग मे 'औचित्य-सिद्धान्त' की चर्चा भी की जाती है, किन्तु *औचित्य-तत्त्व वस्तुत: कोई अलग सिद्धान्त अथवा सम्प्रदाय न होकर* गुण, अलकार, रस आदि विभिन्न काव्यागो को परिष्कृत एव उपादेय बनाने का हेतु मात्र ही है। औचित्य के प्रतिपादक क्षेमेन्द्र ने यद्यपि औचित्य को काव्य का 'जीवित' कहा है, किन्तु यहाँ 'जीवित' शब्द आत्मा का पर्याय नहीं है, अपितु इसका तात्पर्य है किसी काव्याग को उपादेय बनाने का हेतु। अत. 'काव्य की आत्मा' के प्रसंग मे यह तत्त्व विचारणीय नहीं है।

२. ये कितनी सीमा तक बाह्य हैं, यह विषय प्रस्तुत प्रसग से सम्बद्ध नहीं है।

ध्वनि-भेद का अपर नाम ही रसादि-ध्वनि (अंगीभूत रस, भाव, रसाभास, भावाभास, भावोदय, भाव-सन्धि, भाव-शबलता और भावशान्ति) है। इस प्रकार अंगीभूत रस आदि का अन्तर्भाव ध्वनि में हो जाता है। गुणीभूतव्यंग्य-काव्य के आठ भेदों में से 'अपरांग' नामक दूसरे भेद के अन्तर्गत रसवद्, प्रेयस्वद् आदि अलङ्कारों का अन्तर्भाव हो जाता है, जो वस्तुतः उस स्थिति में स्वीकृत किये जाते हैं जब रस, भाव आदि अगभूत रूप में वर्णित हो। इस प्रकार रस चाहे अगीभूत रूप में वर्णित हो अथवा अग रूप में, काव्य-श्रेणी की दृष्टि से, ध्वनि पर ही आधारित है। शेष रहे ध्वनि के [रसेतर] शेष चार भेद, और गुणीभूत-व्यग्य के शेष सात भेद—ये सभी तो ध्वनि से सम्बन्धित हैं ही।

अब काव्य के तीसरे प्रमुख-भेद 'चित्रकाव्य' को लीजिए। चित्रकाव्य से तात्पर्य है— अलंकार-प्रयोग, किन्तु इसमे भी ध्वनि-तत्त्व की सत्ता, चाहे वह अस्फुट रूप में ही क्यो न हो, नितान्त अनिवार्य है, और चित्रकाव्य के ही अन्तर्गत सभी शब्दालकारो और अर्थालकारो का काव्य-चमत्कार निहित हो जाता है। शेष रहे गुण और रीति नामक काव्य-तत्त्व, तो ये दोनो क्रमशः साक्षात् तथा प्रकारान्तर से रस-ध्वनि से सम्बद्ध रहने के कारण ध्वनि से ही सम्बद्ध हैं। इसके अतिरिक्त इन दोनो का बाह्य चमत्कार 'चित्र-काव्य' कहाता है। यह चमत्कार भी वस्तुत. रस-ध्वनि का ही उपकारक होता है। इस प्रकार ध्वनि-तत्त्व में सभी प्रकार का काव्य-चमत्कार अन्तर्भूत हो जाता है, अतः यह एक व्यापक काव्य-तत्त्व है।

इस प्रकार उक्त दोनो कारणो से ध्वनि को ही काव्य की आत्मा मानना चाहिए। ० ०

किन्तु समस्या का अन्त यही नही हो जाता। रस को काव्य की आत्मा स्वीकार करने वालो की ओर से यह कहा जा सकता है कि रस (रसादि) के उदाहरण और 'अपरस्यांग' नामक गुणीभूतव्यग्य-काव्य के शेष सात भेदों के उदाहरण भी वस्तुतः रस ही हैं, और यही स्थिति चित्रकाव्य की भी है, क्योकि इनका चमत्कार भी तो किसी न किसी रूप में रस से सम्बद्ध रहता है। उदाहरणार्थ, वस्तु-ध्वनि का प्रसिद्ध उदाहरण *'गतोऽस्तमर्क.'* (अर्थात् *'सूर्य डूब गया'*) तभी काव्य के अन्तर्गत माना जाएगा जब वक्ता का अभिप्राय केवल इतना मात्र न हो कि अब 'अनध्ययन का समय हो गया', अथवा 'कार्य समाप्त करने का समय हो गया', आदि, अपितु वह उसकी आन्तरिक मनोभावनाओ का भी परिचायक हो। उदाहरणार्थ, 'कार्य समाप्त हो गया' इस व्यंग्यार्थ को तभी

काव्य का विषय माना जाएगा, जब वक्ता को अपने प्रियजनों से मिलने की उत्सुकता हो, अथवा उसकी किसी ऐसी अन्य मनोभावना एवं मनोलालसा का पता चले। इस प्रकार ऐसे उदाहरणों में भी वस्तुतः रस की सत्ता विद्यमान रहती है। अतः रस को ही काव्य की आत्मा मानना चाहिए, ध्वनि को नहीं।
उपर्युक्त तर्क के उत्तर में इतना कहना पर्याप्त है कि यह ठीक है कि काव्यत्व *की स्वीकृति वहां होगी जहां किसी अनुभूति का द्योतन हो,* किन्तु इसी आधार पर ध्वनि, गुणीभूतव्यंग्य अथवा चित्र-काव्य के सभी भेदों के उदाहरणों को शृंगार आदि रसों के साथ सम्बद्ध करना समुचित नहीं है, और इसी प्रकार काव्य में वर्णित हर प्रकार की अनुभूति को भी भावपरक स्वीकृत करके उसे रसादि (रस, भाव, रसाभास, भावाभास आदि आठों, अथवा रसवद्, प्रेयस्वद् *आदि सातों) के साथ सम्बद्ध नहीं करना चाहिए। इसके दो कारण हैं—*

—पहला यह कि ध्वनि जैसा आन्तरिक तत्त्व भी तो किसी अनुभूति एवं मनोवृत्ति का द्योतक है। इसे इस दृष्टि से सक्षम न मानकर केवल रस को ही, *जो कि वस्तुतः ध्वनि पर ही आधारित है, ऐसा मानना शास्त्र-संगत नहीं है।*

—दूसरा कारण यह है कि शास्त्रीय दृष्टि से रस अपने पारिभाषिक अर्थ में सब प्रकार के काव्य-तत्त्वों से प्राप्त 'काव्यचमत्कार' अथवा 'काव्यानन्द' *का वाचक नहीं है, अपितु वह विशिष्ट प्रकार के आनन्द का, स्थायिभाव के* साथ विभावादि के संयोग से जन्य आनन्द का, वाचक है। जिस काव्य में विभाव आदि तीनों परिपक्व रूप में वर्णित रहते हैं, अथवा विभाव आदि में से किसी एक अथवा दो के परिपक्व रूप में वर्णित रहने के कारण शेष दो अथवा एक के स्वतःगृहीत हो जाने पर तीनों परिपक्व रूप में वर्णित समझ लिये जाते हैं, *वहीं रस अर्थात् असंलक्ष्यक्रमव्यंग्य-ध्वनि की स्थिति समझी जाती है,* और रस नाम से अभिहित 'काव्यास्वाद' ('काव्याह्लाद') भी इन्हीं स्थलों में स्वीकार किया जाता है। यों चाहे तो रस का व्यापक अर्थ—सब प्रकार का काव्य-चमत्कार, स्पष्ट शब्दों में कहें तो सभी प्रकार के काव्य-तत्त्वों से उत्पन्न काव्य-चमत्कार, भी ले सकते हैं, किन्तु यह उसका लक्ष्यार्थ है, वाच्यार्थ नहीं है, और *शास्त्रीय चर्चाओं में वाच्यार्थ के ही बल पर सिद्धान्त प्रतिपादित किये जाने* चाहिएं, लक्ष्यार्थ अथवा उपचार के बल पर नहीं। इस दृष्टि से रस अपनी सीमा में परिबद्ध है, वह काव्य का अनिवार्य तत्त्व नहीं है।

यहाँ एक शंका प्रस्तुत की जा सकती है कि काव्य में वर्णित ऐसा कौन-सा स्थल है जो विभावादि से—विशेषतः आलम्बन-विभाव से—शून्य हो, और न सही, तो विषय एवं आश्रय का सद्भाव तो रहेगा ही। इस तथ्य को निम्नोक्त

रूप में प्रस्तुत किया गया है—'काव्य में वर्णित ऐसी कोई विषयवस्तु नहीं है, जो किसी चित्तवृत्ति को उत्पन्न न करती हो, और यही चित्तवृत्तियाँ ही तो रसादि हैं'—न हि तदस्ति वस्तु किंचिद् यन्न चित्तवृत्तिविशेषमुपजनयति, चित्तवृत्तिविशेषा हि रसादयः। (ध्वन्यालोक ३ ४३ वृत्ति)

किन्तु चित्तवृत्तियों को रसादि (रस, भाव, रसाभास, भावाभास) आदि कहना लाक्षणिक प्रयोग है। किसी मनोभाव का केवल उल्लेख अथवा वर्णन मात्र तब तक 'रस' नहीं कहाता जब तक कि वह विभावादि के सांचे में ढला हुआ न हो। किसी भी रस के उदाहरण में शास्त्रीय दृष्टि से, जैसा कि अभी ऊपर कहा गया है, विभावादि को, अथवा उनमें से किसी एक अथवा दो को, अभिव्यक्ति परिपक्व रूप में ही विद्यमान रहनी चाहिए। अपरिपक्व स्थिति में इस प्रकार के काव्य-स्थल—'प्राधान्येन व्यपदेशा भवन्ति' इस प्रसिद्ध सिद्धान्त के अनुसार—रसादि (असंलक्ष्यक्रमव्यंग्य-ध्वनि) के उदाहरण न माने जाकर ध्वनि के उक्त शेष चार भेदों में से किसी न किसी के उदाहरण माने जाएंगे। एक उदाहरण लीजिए

एक तारा डूब कर क्या कह गया ?

इस कथन में व्यंग्यार्थ यह है कि कोटि-कोटि नक्षत्रों से भरे आकाश के समान कोटि-कोटि मानवों से भरे इस जगत् में डूबते हुए एक तारे के समान एक व्यक्ति की मृत्यु से कुछ क्षणों का ही विषाद होता है, इससे अन्ततः कुछ अन्तर नहीं पड़ता—संसार चलता रहता है। इस कथन में विभावादि में से केवल आलम्बन-विभाव (तारा और कवि) के विद्यमान होने पर भी शेष दो तत्त्वों की स्वत: प्रतीति नहीं होती, क्योंकि यहाँ आलम्बन-विभाव परिपक्व रूप में अभिव्यक्त नहीं हुआ। अत: इसे किसी का रस अथवा भावोदय का उदाहरण न मान कर '*वस्तुध्वनि*' का उदाहरण मानेंगे। दो ताजे उदाहरण 'नई कविता' के और लीजिए—

> फुटपाथ पर खड़ा-खड़ा सुलगता रहता है,
> एक सिगरेट,
> धुँआ छोड़ता हुआ।

—कुण्ठा, तमन्नाओं को पूरा करने की अभिलाषा, घुटन और बेबसी को व्यञ्जित करती हैं ये पंक्तियाँ। यह अभिव्यक्ति शास्त्रीय शब्दावली में 'वस्तु-ध्वनि' है। इसी प्रकार—

एक अदृश्य टाइप-राइटर पर
साफ-सुथरे कागज सा चढ़ता हुआ दिन।

घटना-हीन दिन का प्रारम्भ हुआ, पर यह सारा दिन यों रीता थोड़े बीत जाएगा, कुछ तो घटनाएँ घटेंगी ही—यह 'वस्तुध्वनि' है। इसे उक्त शास्त्रीय पर्यादा के अनुसार रस का उदाहरण नहीं मान सकते, क्योंकि शास्त्रीय दृष्टि से, रस (रसध्वनि) अपनी मर्यादा में परिबद्ध है, वह काव्य का अनिवार्य तत्त्व नहीं है, अनिवार्य तत्त्व ध्वनि है। इसका स्पष्ट कारण यह है कि रस के उदाहरणों में ध्वनि की सत्ता अनिवार्यतः स्वीकार्य होती है, किन्तु जहाँ ध्वनि होगी वहाँ रस (रसध्वनि) अनिवार्यतः स्वीकार्य हो, यह सदा आवश्यक नहीं है। किसी काव्य में मात्र किसी भाव के वर्णित होने पर उसे रस का उदाहरण स्वीकार करना शास्त्रीय नहीं है। यह ठीक है कि रस (रसादि), अंगी और अंग रूप में वर्णित होने के कारण, एक अति व्यापक काव्य-तत्त्व है, तथा इस दृष्टि से इसका भाव-फलक अति विशद है, और यही कारण है कि अधिकांश काव्य इसी के उदाहरण-स्वरूप प्रस्तुत किया जा सकता है,[1] पर स्पष्ट है कि इस दृष्टि से इसे काव्य का अनिवार्य तत्त्व (साधन) स्वीकार नहीं कर सकते। यह तत्त्व वही स्वीकार्य होगा जो सर्वत्र विद्यमान हो। आनन्दवर्धन रस की इस न्यूनता से परिचित थे, और इसी कारण उन्होंने ध्वनि-तत्त्व की स्थापना की। इसी कारण वह 'गतोऽस्तमर्कः' (सूर्य डूब गया) जैसे स्थलों में काव्य की स्वीकृति तभी करते हैं, जब इनसे उत्सुकता आदि भाव व्यंजित होते हैं, पर यह 'उत्सुकता', जैसा कि ऊपर संकेत कर आये हैं, यहाँ वस्तु-ध्वनि का विषय है, न कि रस, भाव आदि का, क्योंकि विभावादि में से कोई भी यहाँ परिपक्व रूप में प्रस्तुत नहीं हुआ।

वस्तुतः, ध्वनि को आत्मा अथवा साधन स्वीकार करने, और 'रस' को उससे अन्य 'सिद्धि' स्वीकार करने से रस का महत्त्व कम न होकर कहीं अधिक

---

१. यहाँ यह संकेत करना अपेक्षित है कि 'रसध्वनि' ध्वनि-काव्य के अन्य भेदों की अपेक्षा उत्कृष्ट मानी जाती है, किन्तु यह सदा आवश्यक नहीं है कि रस-ध्वनि के उदाहरण ध्वनि-काव्य के अन्य चार भेदों के उदाहरणों की तुलना में, अथवा गुणीभूतव्यंग्य-काव्य और चित्र-काव्य के भेदोपभेदों के उदाहरणों की तुलना में, काव्य-चमत्कार की दृष्टि से सदा उत्कृष्ट कोटि के ही हों—वे निम्न कोटि के भी हो सकते हैं। वस्तुतः, यह तो एक शास्त्रीय मर्यादा (Academic decorum) है, जिसके कारण कभी-कभी काव्य-चमत्कार की दृष्टि से हीन पद्य भी रस के उदाहरण मान लिये जाते हैं।

बढ जाता है—ध्वनि (व्यंग्यार्थ) तो साधन अथवा आधार है, किन्तु रस सिद्धि अथवा आधेय है, जो कि सहृदय का अभीष्ट एवं अन्ततः प्राप्तव्य तत्त्व है, और रस भी उपलब्धि शब्दार्थ-बोध के उपरान्त ध्वनि के माध्यम से होती है। अतः ध्वनि-रूप माध्यम की अपेक्षा रस-रूप सिद्धि का महत्त्व अपेक्षाकृत स्वत.सिद्ध है।

अन्ततः, हम कह सकते हैं कि—

—जिस प्रकार शरीर के सभी धर्मों—सुख-दु ख आदि का आधार 'शरीरी' (आत्मा) है, उसी प्रकार शब्दार्थ-रूप काव्य-शरीर से उत्पन्न सभी प्रकार के आह्लादों का आधार ध्वनि-रूप आत्मा है।

—निष्कर्षतः, ध्वनि को ही, जो कि काव्य का अनिवार्य, व्यापक एवं आन्तरिक सार अथवा तत्त्व है, काव्य की आत्मा (साधन) स्वीकृत करना चाहिए, क्योंकि ध्वनि ही सब प्रकार के काव्यानन्द (साध्य अथवा सिद्धि) का साधन बनने की क्षमता रखती है।

—जहां तक रस का प्रश्न है, इस शब्द का प्रयोग काव्यशास्त्र में दो अर्थों मे होता है—

(१) काव्यानन्द, काव्याह्लाद आदि के अर्थ मे, अर्थात् साध्य अथवा सिद्धि रूप मे। इस स्थिति मे रस को काव्य की आत्मा नही मान सकते, क्योंकि 'आत्मा' से अभिप्रेत है साधन, न कि सिद्धि अथवा साध्य।

(२) 'रसध्वनि' के अर्थ मे, अर्थात् ध्वनि-रूप साधन के एक प्रमुख भेद अर्थ मे। किन्तु इस अर्थ में भी रस को काव्य की आत्मा नही मान सकते, क्योंकि 'रसध्वनि' अपनी शास्त्रीय परिभाषा मे परिबद्ध एवं सीमित है, और इसी कारण 'वस्तुध्वनि' आदि अन्य साधनों का चमत्कार रस-ध्वनि मे अन्तर्भूत नही किया जा सकता।

इस प्रकार 'रस' अपने उपर्युक्त दोनों प्रयोगों मे काव्य की आत्मा बनने का अधिकारी नही है।

उपसंहार

अन्ततः, आनन्दवर्धन के सम्बन्ध में समग्र रूप से कह सकते हैं कि काव्य-शास्त्रीय आचार्यों मे से वह एक युगान्तकारी आचार्य हैं। इन्होंने ध्वनि को काव्य की आत्मा माना। यद्यपि इन्होंने रस को ध्वनि का ही एक भेद माना है, पर रस (रसध्वनि) के प्रति अन्य ध्वनि-भेदों की अपेक्षा अधिक समादर प्रकट

किया है। यही कारण है कि अब 'अलंकार' बाह्य आभूषण के रूप में शब्दार्थ-रूप काव्य-शरीर की शोभा के द्वारा अन्ततः रस के उपकारक मात्र बन गये और वह भी अनिवार्य रूप से नहीं। 'गुण' रीति के ही विशिष्ट धर्म न रह कर रस के ही नित्य धर्म बन गये। 'रीति' संघटना-मात्र तथा रसोपकर्त्री बन गयी। 'दोषों' का अनौचित्य तथा उनकी नित्यानित्य-व्यवस्था रस पर ही आधृत हो गयी। निष्कर्ष यह कि इन्होंने काव्यशास्त्रीय विधान को नयी दिशा की ओर मोड़ दिया। अतः भामह, दण्डी, उद्भट और वामन के सिद्धान्त इनके ध्वनि-सिद्धान्त के आगे न केवल बदल गये, अपितु मन्द पड़ गये। यह इनके प्रतिभाशाली व्यक्तित्व का ही परिणाम है कि इन्हीं के सिद्धान्तों को लक्ष्य में रखकर काव्यशास्त्रीय आचार्यों में विभाजन-रेखा खींचते हुए इन्हें दो भागों में विभक्त किया जाता है—ध्वनि-पूर्ववर्ती और ध्वनि-उत्तरवर्ती आचार्य। इस प्रकार इनका प्रख्यात ग्रन्थ 'ध्वन्यालोक' काव्यशास्त्रीय जगत् के लिए एक अमर देन है और अपना विशिष्ट महत्त्व रखता है।

ooo

१०. कुन्तक और उनका वक्रोक्ति जीवित

[१]

संस्कृत-काव्यशास्त्रीय पांच प्रमुख सिद्धान्तों में से वक्रोक्ति-सिद्धान्त के प्रवर्तन का श्रेय कुन्तक को है। इनके जीवन-काल के सम्बन्ध में निम्नोक्त अन्त-साक्ष्यों के आधार पर कहा जा सकता है कि इन्होंने ईसा की दशम शती के अन्त में अपने अमूल्य ग्रन्थ 'वक्रोक्ति-जीवित' का प्रणयन किया था—

१ कुन्तक ने कालिदास, सर्वसेन, बाणभट्ट, भवभूति और राजशेखर नामक कवियों का अपने ग्रन्थ में उल्लेख किया है, तथा इनमें से अधिकतर के ग्रन्थों में से प्रचुर मात्रा में उदाहरण भी प्रस्तुत किये हैं। इससे सिद्ध होता है कि कुन्तक ईसा की सातवी-आठवी शती तक के इन कवियों के बाद हुए थे।

२ कुन्तक ने 'ध्वन्यालोक' के प्रणेता आनन्दवर्धन के ध्वनि-सिद्धान्त के समकक्ष वक्रोक्ति-सिद्धान्त को प्रतिपादित करने का प्रयास किया है—इसमें सन्देह की तनिक भी गुंजाइश नहीं है। उन्होंने ध्वन्यालोक से अनेक उदाहरण तो लिये ही हैं, उनकी अनेक मान्यताओं का खण्डन भी किया है, साथ ही, ध्वनि के बहु-विध भेदों का थोड़ा बहुत नाम-परिवर्तन करते हुए इन्हें वक्रोक्ति-भेदों में समाविष्ट कर दिया है। इसके अतिरिक्त उन्होंने आनन्दवर्धन-रचित ग्रन्थ 'विषमबाणलीला' से भी एक श्लोक उद्धृत किया है, जो कि ध्वन्यालोक में भी दिया हुआ है। स्पष्टत, कुन्तक आनन्दवर्धन के परवर्ती हैं। आनन्दवर्धन, राजतरंगिणी के उल्लेखानुसार, काश्मीर के राजा अवन्तिवर्मा के राज्यकाल (८५७-८८४ ई०) में विद्यमान थे। अत कुन्तक को नवम शती का उत्तरवर्ती मानना चाहिए। इस प्रकार यह तो हुई इनके जीवन-काल की निम्नतम सीमावधि।

३. 'व्यक्तिविवेक' के कर्त्ता महिमभट्ट ने ध्वनि-सिद्धान्त को अनुमानवाद में अन्तर्भूत करने का प्रयास किया है। इस प्रकार महिमभट्ट निसन्देह आनन्दवर्धन के परवर्ती हैं। इधर महिमभट्ट ने अपने उक्त ग्रन्थ में कुन्तक का नामत. उल्लेख किया है। अत कुन्तक महिमभट्ट से पूर्ववर्ती सिद्ध होते हैं। महिमभट्ट का समय ११ वीं शती ई० है। अत कुन्तक नवी और ग्यारहवी शती के बीच रहे होंगे।

इस सम्बन्ध में एक तथ्य और—

४. आनन्दवर्धन-रचित ध्वन्यालोक के प्रख्यात टीकाकार अभिनवगुप्त की 'लोचन' टीका के अनेक अंशो की आलोचना महिमभट्ट ने अपने ग्रन्थ में की है, अत स्पष्टत कुन्तक और अभिनवगुप्त ये दोनों महिमभट्ट से पूर्ववर्ती थे। ऐसा प्रतीत होता है कि कुन्तक और अभिनवगुप्त समकालीन तो नही थे, पर इन दोनों का समय एक-दूसरे के निकट अवश्य था।

फिर भी, कुन्तक निश्चित रूप से अभिनवगुप्त के पूर्ववर्ती ही थे, क्योंकि 'लोचन' में अनेक स्थलों पर कुन्तक के मन्तव्यों की छाया स्पष्ट झलकती है। इस प्रकार कुन्तक आनन्दवर्धन के परवर्ती तो हैं ही, महिमभट्ट और अभिनवगुप्त के पूर्ववर्ती हैं। अतः इस दृष्टि से भी इनका समय नवीं और ग्यारहवीं शती के बीच दसवीं शती मानने में कोई आपत्ति नहीं की जा सकती।

वक्रोक्तिजीवितकार का नाम मद्रास पुस्तकालय में प्राप्त प्रतिलिपि की पुष्पिकाओं में कुन्तक या कुन्तल दिया हुआ है—इति राजानककुन्तलकविरचिते वक्रोक्तिजीविते *काव्यालंकारे प्रथमोन्मेष। इति श्रीकुन्तलविरचिते वक्रोक्तिजीविते द्वितीय उन्मेष।* किन्तु जैसलमेर वाली प्रति की पुष्पिकाओं में कुन्तक नाम ही मिलता है। कुन्तक के परवर्ती आचार्यों—महिमभट्ट, विद्याधर आदि अनेक आचार्यों ने भी इनका यही नाम दिया है। सोमेश्वर ने काव्यप्रकाश की टीका में यह नाम 'कुन्तक' दिया है। अनुमानत, यह जल्दी में लिखने की भूल है। पर काव्यप्रकाश के एक अन्य टीकाकार गोपाल ने तो निम्नोक्त श्लिष्ट पद्य द्वारा इस शंका का समाधान ही कर दिया है कि ग्रन्थकार का नाम कुन्तक ही था—

> वक्रानुरञ्जनीमुक्तिं चञ्चूमिव मुखे वहन्।
>
> कुन्तकः क्रीडति सुखं कीर्तिस्फटिकपञ्जरे॥

अर्थात् स्फटिक मणि से निर्मित पिंजरे में बैठा [एक तोता अपने] मुख पर टेढ़ी और लाल-लाल चञ्चू को धारण किये मानो कुन्तक (कुन्त + लघुवाची 'क' प्रत्यय) अर्थात् एक छोटे भाले के रूप में बैठा सुखपूर्वक खेल रहा है। (इधर कुन्तक के पक्ष में—कीर्तिरूपी समुज्ज्वल पिंजरा। अनुरञ्जिनी एवं वक्र उक्ति।) शुक-पक्ष में 'कुन्तक' शब्द से तात्पर्य एक छोटे भाले से है, जिसकी उपमा तोते से दी जा सकती है जिसकी चोंच भाले के अगले सिरे की तरह होती है, किन्तु यदि कुन्तक के स्थान पर 'कुन्तल' पाठ किया जाए तो कुन्तल अर्थात् केश से यह उपमा सम्भव नहीं है।

कुन्तक के ग्रन्थ का नाम यों तो 'वक्रोक्तिजीवित' है, जैसा कि कुन्तक के परवर्ती विद्वानों महिमभट्ट, रुय्यक, विश्वनाथ, विद्याधर, माणिक्यचन्द्र ('काव्यप्रकाश- संकेतकार) आदि के विभिन्न उल्लेखों से प्रतीत होता है, किन्तु कुछ आधुनिक विद्वानों के कथनानुसार स्वयं कुन्तक ने इस ग्रन्थ के केवल कारिकाभाग को *'काव्यालंकार'* कहा है[1]—

> लोकोत्तरचमत्कारकारिवैचित्र्यसिद्धये।
>
> काव्यस्यायमलंकारः कोऽप्यपूर्वो विधीयते॥ व० जी० १ २

किन्तु ऐसा प्रतीत होता है कि कुन्तक इस ग्रन्थ के कारिका-भाग को 'काव्यालंकार' नहीं कह रहे, अपितु वे स्व-प्रवर्तित 'वक्रोक्ति' नामक काव्य तत्त्व को 'अपूर्व काव्यालंकार' कह रहे हैं।

---

१. संस्कृत काव्यशास्त्र का इतिहास (प्रथम संस्करण, १९७७, पृष्ठ २८२), पी० वी० काणे

'वक्रोक्तिजीवित' ग्रन्थ के तीन सम्करण उपलब्ध हैं—

(१) मद्रास पुस्तकालय में सुरक्षित पाण्डुलिपि के आधार पर श्री [illegible] और प्रो० जैकोबी के सम्मिलित फल-स्वरूप संपादित।

(२) जैसलमेर के हस्तलिखित पुस्तकों के जैन भण्डार में सुरक्षित पाण्डुलिपि के आधार पर सम्पादित।

(३) हिन्दी अनुसन्धान परिषद्, दिल्ली विश्वविद्यालय द्वारा प्रकाशित (पृष्ठ-सख्या ५४१, व्याख्याकार आचार्य विश्वेश्वर, तथा सम्पादक डॉ० नगेन्द्र, विस्तृत भूमिका सहित। (इस लेख मे इसी सस्करण के आधार पर सामग्री प्रस्तुत की जा रही है।)

[२]

वक्रोक्तिजीवित ग्रन्थ मे चार उन्मेष हैं। यह ग्रन्थ कारिकावृत्ति शैली मे लिखित है। प्रथम उन्मेष में ५८ कारिकाए है, द्वितीय में ३५, तृतीय में ४६, और चतुर्थ में २६, (कुल १६५ कारिकाए)। इसके अतिरिक्त इस ग्रन्थ मे अन्य काव्यशास्त्रीय ग्रन्थों और काव्य नाटक आदि ग्रन्थों मे जो कारिकाए अथवा पद्य उद्धृत किये गये है, उनकी सख्या लगभग २५० है।

ग्रन्थ का प्रमुख उद्देश्य 'वक्रोक्ति' नामक काव्यतत्व का प्रतिपादन करना है। इसी के आधार पर कुन्तक ने काव्य का लक्षण प्रस्तुत किया है—

शब्दार्थौ सहितौ वक्रकविव्यापारशालिनि।

बन्धे व्यवस्थितौ काव्यं तद्विदाह्लादकारिणि॥ व० जी० १७

कुन्तक से पूर्व वक्रोक्ति-तत्त्व व्यापक और सकुचित दोनों अर्थो में प्रचलित रहा। इसके व्यापक अर्थ का सकेत काव्यशास्त्रीय ग्रन्थो के अतिरिक्त बाणभट्ट (छठी शती) के ग्रन्थ 'कादम्बरी' में भी मिलता है, जहा राजा शूद्रक को 'वक्रोक्ति-निपुण' कहा गया है,[१] तथा बाणभट्ट स्वयं वक्रोक्ति-मार्ग की विशिष्टताओं से परिचित थे, तभी तो ११वीं शती के कविराज ने अपने ग्रन्थ 'राघवपाण्डवीय' में बाणभट्ट को तथा इनके अतिरिक्त सुबन्धु और स्वय को भी 'वक्रोक्तिमार्ग-निपुण' कहा।[२] बाणभट्ट के निम्नोक्त कथन में सभवत वक्रोक्ति के तत्वो का उल्लेख है— 'नवीन अर्थ, अग्राम्य जाति,[३] अक्लिष्ट श्लेष, स्फुट रस और विकट अक्षर-बन्ध— ये सभी एक-साथ दुर्लभ होते हैं।

---

१ वक्रोक्ति-निपुणेन आख्यायिकाख्यान-परिचय-चतुरेण ...(कादम्बरी)

२. सुबन्धु र्बाणभट्टश्च कविराज इति त्रय।
वक्रोक्तिमार्गनिपुणश्चतुर्थो विद्यते न वा॥ (रा० पा० १.४१)

३. छन्दो की एक श्रेणी

नवोऽर्थो जातिरग्राम्या श्लेषोऽक्लिष्टः स्फुटो रसः ।
विकटाक्षरबन्धश्च कृत्स्नमेकत्र दुर्लभम् ॥ (हर्षचरित)

इधर काव्यशास्त्रीय ग्रन्थों में कुन्तक से पूर्व भामह और दण्डी के ग्रन्थों में वक्रोक्ति के व्यापक रूप का स्रोत उपलब्ध हो जाता है कि वक्रोक्ति 'अतिशयोक्ति' का पर्याय है, और इसके बिना कोई अलंकार सम्भव नहीं है।[1] किन्तु इसके विपरीत वामन, रुद्रट तथा आनन्दवर्धन ने वक्रोक्ति को केवल अलंकार के रूप में स्वीकृत किया।[2] कुन्तक के लगभग समकालीन भोजराज ने वक्रोक्ति का व्यापक अर्थ ग्रहण किया[3] तो परवर्ती मम्मट, विश्वनाथ आदि आचार्यों ने संकुचित अर्थ।

[३]

कुन्तक के अनुसार वक्रोक्ति कहते हैं—वैदग्ध्य-भंगी-भणिति को, अर्थात् कवि-कर्म-कौशल से उत्पन्न वैचित्र्यपूर्ण कथन को। दूसरे शब्दों में, लोकवार्ता (लौकिक सामान्य वचन) से, विशिष्ट कथन 'वक्रोक्ति' के अन्तर्गत आता है। उन्होंने वक्रोक्ति को एक ओर तो 'काव्य का अपूर्व अलंकार' कहा, और दूसरी ओर इसे 'विचित्रा अभिधा' की संज्ञा प्रदान की।[4] इससे प्रतीत होता है कि वह अलंकार और ध्वनि से प्रभावित होते हुए भी वक्रोक्ति को इन दोनों तत्त्वों की भांति व्यापक रूप में प्रतिपादित करना चाहते थे। वस्तुतः ध्वनि के बहुसंख्यक भेदोपभेदों को—जो कि पदांश से लेकर प्रबन्ध तक फैले हुए हैं—वक्रोक्ति के कलेवर में समाविष्ट करने के उद्देश्य से ही इन्होंने इस सिद्धान्त का प्रतिष्ठापन किया और इसके अनेक भेदोपभेद प्रस्तुत किये।

कुन्तक-सम्मत वक्रोक्ति के छह प्रमुख भेद हैं— (१) वर्णविन्यासवक्रता, (२) पद-पूर्वार्धवक्रता, (३) पदपरार्धवक्रता, (४) वाक्यवक्रता, (५) प्रकरणवक्रता, (६) प्रबन्धवक्रता। फिर इनके कुल ४१ उपभेद हैं। इनमें से कुछ का संक्षिप्त परिचय लीजिए

१ (क) भामह-प्रणीत काव्यालंकार १ ३०, १ ३६ २ ८१, २ ८५, २ ८६, २ ८७
(ख) दण्डि-प्रणीत काव्यादर्श २ ८, २ ३६३

२ (क) वामन प्रणीत काव्यालंकारसूत्रवृत्ति ४ ३ ८
(ख) रुद्रट-प्रणीत काव्यालंकार २ १४, १६,
(ग) आनन्दवर्धन-प्रणीत ध्वन्यालोक २ २१ (वृत्ति)

३ सरस्वतीकण्ठाभरण ५ ८

४. (क) वक्रोक्तिः प्रसिद्धाभिधानव्यतिरेकिणी विचित्रैवाभिधा। कीदृशी? वैदग्ध्यभंगीभणितिः। वैदग्ध्यं विदग्धभावः, कविकर्म-कौशलम्, तस्य भंगी विच्छित्तिः, तया भणितिः—विचित्रैवाभिधा वक्रोक्तिरित्युच्यते। (व० जी० १ १० वृत्ति)
(ख) काव्यस्यायमलंकारः कोऽप्यपूर्वो विधीयते। (व० जी० १ २)

१. वर्णविन्यास-वक्रता— वर्णविन्यास-वक्रता से तात्पर्य है—वर्णों के विन्यास पर आधारित वक्रता। सभी शब्दालंकारों, विशेषत अनुप्रास और यमक, के भेदों का चमत्कार इसी में अन्तर्भूत है। इसके छह भेद हैं—एक या दो या अधिक वर्णों की थोडे-थोड़े अन्तर से आवृत्ति, आदि।

२ पद-पूर्वार्द्ध-वक्रता— जहा प्रातिपदिक अथवा धातु से सम्बद्ध वक्रता हो, वहा पद-पूर्वार्द्ध-वक्रता मानी जाती है। इसके निम्नोक्त ११ भेद हैं—

(१) रुढिवैचित्र्य वक्रता, (२) पर्याय-वक्रता, (३) उपचार-वक्रता, (४) विशेषण-वक्रता, (५) सवृति-वक्रता, (६) प्रत्यय-वक्रता, (७) आगम-वक्रता, (८) वृत्ति-वक्रता (९) भाव-वक्रता, (१०) लिंग-वक्रता, (११) क्रियावैचित्र्य-वक्रता।

कतिपय उदाहरण लीजिए—

रुढि-वैचित्र्य-वक्रता से तात्पर्य है—रुढि (प्रसिद्धार्थ) के वैचित्र्य पर आधारित वक्रता। कवि इस वक्रता का प्रयोग किसी व्यक्ति अथवा वस्तु की लोकोत्तर प्रशसा अथवा लोकोत्तर तिरस्कार करने उद्देश्य से करता है। जैसे निम्नोक्त पद्य में—

> **काम सन्तु दृढ कठोरहृदयो रामोऽस्मि सर्व सहे।**
>
> **वैदेही तु कथ भविष्यति ह हा, हा देवि धीरा भव॥** व० जी० २२७

इस पद्याश में 'राम' शब्द मे यह वक्रता है कि मै 'सकल-दुःख-सहिष्णु, पिता की आज्ञा का पालक, प्रजा-वत्सल आदि' हूँ।

पर्यायवक्रता—किसी विशिष्ट पर्याय (समानार्थक शब्द) पर आश्रित वक्रता—

> **सन्ति भूभृति हि न शरा परे।**
>
> **ये पराक्रमवसूनि वज्रिण ॥** (किराता० १३५८), व० जी० २३२

(हमारे राजा के पास तो बहुत-से बाण हैं, जो वज्रधारी इन्द्र के भी पराक्रम की निधि है।) इन्द्र-वाचक अनेक पर्याय-शब्दों में से यहा 'वज्रिन्' शब्द का प्रयोग वाच्यार्थ के निकटतम भाव को प्रकट करता है।

उपचार-वक्रता से तात्पर्य है—सर्वथा भिन्न स्वभाव वाले भी 'प्रस्तुत' पर उस 'अप्रस्तुत' के आरोप द्वारा वक्रता, जिसके सामान्य धर्म का प्रस्तुत के साथ लेशमात्र ही सम्बन्ध हो—

> **गगनञ्च मत्तमेघ धारालुलितार्जुनानि च वनानि।**
>
> **निरहकारमृगाका हरन्ति नीला अपि निशा ॥** व० जी० २४७

(मदमाते मेघों से ढका हुआ आकाश, वर्षा की धाराओं से आन्दोलित अर्जुन वृक्ष तथा गर्व-रहित (क्षीण-प्रकाश-युक्त) चन्द्रमा वाली काली रातें भी मन को हरने वाली है।) 'मत्त'

और 'निरहंकार' विशेषण, जो कि चेतन पदार्थों के साथ प्रयुक्त होते हैं, यहा अचेतन पदार्थों—क्रमश 'मेघ' और 'चन्द्रमा'—के साथ प्रयुक्त किये गये हैं।

सवृति-वक्रता—सवृति अर्थात् गोपन की वक्रता। काव्य-वैचित्र्य उत्पन्न करने के लिए सर्वनाम आदि के प्रयोग द्वारा किसी विषय का सवरण (गोपन) करना—

दर्पणे च परिभोगदर्शिनी पृष्ठत प्रणयिनी निषेदुष ।

वीक्ष्य बिम्बमनुबिम्बमात्मन कानि कानि न चकार लज्जया ॥

(कु० सं० ८।११, व० जी० २६)

(दर्पण मे अपने मुख पर सम्भोग-चिह्नों को देखती हुई पार्वती ने अपने पीछे की ओर बैठे हुए प्रियतम शिवजी के प्रतिबिम्ब को अपने प्रतिबिम्ब के समीप देखकर लज्जा से 'क्या-क्या' चेष्टाए नही कीं ?) यहा कवि ने 'कानि-कानि' ('क्या-क्या') सर्वनाम के प्रयोग द्वारा पार्वती की चेष्टाओं का गोपन किया है, और इससे काव्य-वैचित्र्य उत्पन्न हो गया है।

लिगवक्रता—जहा किसी विशिष्ट लिग के प्रयोग के कारण वक्रता (विचित्रता) हो। उदाहरणार्थ—

तटी तार ताम्यत्यतिशशियशा कोऽपि जलद—

स्तया मन्ये भावी भुवनवलयाक्रान्तिसुभग ॥ व० जी० २।७९

(यह पर्वत-तटी अत्यन्त सन्तप्त हो रही है, अत मैं ऐसा मानता हूं कि कोई ऐसा मेघ आने वाला है जो शीघ्र ही चन्द्र-ज्योत्स्ना को तिरस्कृत करने वाला है, तथा समग्र ससार को व्याप्त कर लेने के कारण मनोहर प्रतीत होगा।) 'तट' शब्द का प्रयोग तीनों लिगों में होता है—(तट, तटी, तटम्); किन्तु यहा स्त्रीलिग में प्रयुक्त होने के कारण काव्य-सौन्दर्य का उत्पादक है कि 'तटी-रूपी यौवनोद्दीप्ता नायिका का उपभोग करने वाला मेघरूप नायक शीघ्र आ रहा है।

क्रियावैचित्र्यवक्रता—क्रिया (अथवा धातु) के कारण विचित्रता—

कि शोभिताऽहमनयेति शशाकमौले, .

पृष्टस्य पातु परिचुम्बनमुत्तर व ॥ कु० स० ३।३३, व० जी० २।५३

(पार्वती ने लाड-लाड में महादेव की चन्द्रलेखा अपने सिर पर धारण करके पूछा—क्या मैं इससे सुन्दर लगती हूँ ? उत्तर में महादेव ने उनका माथा चूम लिया—यह उत्तर आप सबकी रक्षा करे।) 'परिचुम्बन' इस क्रिया से बढकर भला और क्या उत्तर हो सकता था। ? इस क्रिया मे कर्ता की अत्यन्त अनुरागता द्योतित होती है।

३. पद-परार्द्ध-वक्रता— (सुबन्त और तिङन्त) पदों के परार्ध अर्थात् प्रत्यय के वैचित्र्य से जन्य वक्रता। इसके छह भेद हैं—(१) काल-वक्रता, (२) कारक-वक्रता, (३) सख्या (वचन)

वक्रता, (४) पुरुष-वक्रता, (५) उपग्रह-वक्रता (आत्मनेपद और परस्मैपद पर आधारित वक्रता), (६) प्रत्यय-वक्रता।

एक उदाहरण लीजिए—

काल-वक्रता—वर्तमान, भूत अथवा भविष्यत् काल के सूचक प्रत्यय के कारण वक्रता—

समविषमनिर्विशेषा. समन्ततो मन्दमन्दसंचारा।

अचिराद् भविष्यन्ति पन्थानो मनोरथानामपि दुर्लङ्घ्या.॥

—गाथासप्तशती ६७५, व० जी० २९५

(वर्षा ऋतु में ये मार्ग शीघ्र ही, ऊंचे-नीचे भेद से रहित, अति कम चल सकने योग्य तथा मनोरथ से भी अगम्य हो जाएंगे।) यहा भविष्यत् काल-सूचक 'स्य' प्रत्यय के कारण वक्रता है।

पदवक्रता के उपर्युक्त दो प्रमुख भेदों पद-पूर्वार्द्ध-वक्रता और पद-परार्द्ध-वक्रता के उक्त उपभेदों को निरूपित करने के पश्चात् पदवक्रता के दो भेद और भी निर्दिष्ट किये गये हैं—(१) उपसर्ग वक्रता और (२) निपात वक्रता।

४. **वाक्यवक्रता**—वाक्यवक्रता के अन्तर्गत कुन्तक को अर्थालकारो का चमत्कार अभीष्ट है, चाहे वह वाच्य हो अथवा व्यग्य। कुन्तक 'स्वभावोक्ति' को अलकार नही कहते, वे इसे 'वस्तु-वक्रता' कहते हैं। इसे भी उन्होंने वाक्य-वक्रता के अन्तर्गत प्रतिपादित किया है। साथ ही वे 'रस' को भी वाक्य-वक्रता कहते हैं। कुछ स्थल लीजिए—

किसी वस्तु का उत्कर्षशाली, स्वभाव से सुन्दर रूप में केवल सुन्दर शब्दो द्वारा वर्णन करना वस्तु-वक्रता के अन्तर्गत आता है—

ता प्राङ्मुखी तत्र निवेश्य तन्वी क्षणमवन्त पुरो निषण्णा।

भूतार्थशोभाह्रियमाणनेत्रा. प्रसाधने सन्निहितेऽपि नार्य ॥

—कु० स० ७.१३, व० जी० ३.१

(विवाहोपरान्त कृशागी पार्वती को नारिया अपने सामने बिठाकर, उसे सजाने के लिए पास रखे हुए आभूषणों के होने पर भी, उसकी स्वाभाविक शोभा से ही नेत्र के आकर्षित हो जाने के कारण थोडी देर तक चुपचाप बैठी रह गयीं।)

इस पद्य में वस्तु के स्वाभाविक सौन्दर्य का चित्रण किया गया है, कवि ने अपनी कल्पना का अधिक प्रयोग नही किया। वस्तुत, इस प्रकार की रचनाओं में स्वभावोक्ति अलकार माना जाता है। कुन्तक से पूर्व और परवर्ती प्राय सभी प्रमुख आचार्यो ने इस अलंकार की स्वीकृति की है, किन्तु कुन्तक स्वभावोक्ति को 'अलकार' न मानकर 'अलकार्य' (अलकार द्वारा 'अलकरणीय) मानते हैं। उनके अनुसार वस्तु का सौन्दर्य-वर्णन करना—यह कोई अलकार

नहीं है। यदि यह भी एक अलंकार है तो फिर यह किसे अलंकृत करता है? भला कोई व्यक्ति स्वयं अपने कन्धे पर चढ़ने में समर्थ हो सकता है? ऐसी कोई भी वस्तु नहीं है जिसे 'स्व-भाव-' से रहित कह सकें। उससे रहित वस्तु तो निरुपाख्य होती है, अर्थात् यह उपाख्या (वर्णनीयता) से रहित होती है—'अकल्पनीय' अथवा शश-शृंगों के समान असम्भव होती है।[1] अस्तु। कुन्तक के अनुसार वस्तु की स्वाभाविक उक्ति को अलंकार न कहकर वस्तु-वक्रता मानना चाहिए

पर हमारे विचार में, केवल वस्तु-वर्णन में और उसके स्वाभाविक स्वरूप के चित्रण में पर्याप्त अन्तर है। यही कारण है कि इस प्रकार के पद्यों में स्वभावोक्ति अलंकार नहीं माना जाता—"गोरपत्यं बलीवर्दः तृणान्यत्ति मुखेन सः।" (वह बैल की सन्तान, साँड, मुख से घास खाता है), किन्तु उपर्युक्त पद्य में तो स्वभावोक्ति अलंकार मानना चाहिए।

५. प्रकरण-वक्रता—प्रकरण से तात्पर्य है—प्रबन्ध-काव्य का कोई एक देश (अंश), अर्थात् कथा-प्रसंग। प्रबन्ध के एक देश की वक्रता प्रकरण-वक्रता कहाती है। इसके नौ भेद हैं—

(१) पात्र-प्रवृत्ति-वक्रता — पात्रों द्वारा भावपूर्ण स्थिति की उद्भावना, जिससे पात्रों के चरित्र का उत्कर्ष हो।

(२) उत्पाद्य कथा-वक्रता—ऐतिहासिक कथा-वस्तु के किसी प्रकरण में कवि-कल्पना द्वारा तनिक से परिवर्तन में मधुर काव्य-सौन्दर्य की उत्पत्ति, जिससे यह प्रकरण रस की पराकाष्ठा को पहुंचकर सफल प्रबन्ध का प्राण बन जाए। इसके दो रूप हैं—अविद्यमान की कल्पना (नवीन प्रसंग की उद्भावना) और विद्यमान का संशोधन।

(३) उपकार्योपकारक-भाव-वक्रता—जहां प्रासंगिक कथाएं परस्पर एक-दूसरे का उपकार करती हुई अन्ततः प्रमुख कार्य (फलबन्ध) का उपकार करें।

(४) आवृत्ति-वक्रता—किसी एक प्रकरण की नूतन रूपों में पुनः-पुनः प्रस्तुति। इसमें कवि नूतन रसों तथा अलंकारों के समावेश से प्रकरण को उज्ज्वल बना देता है।

(५) प्रासंगिक प्रकरण-वक्रता अर्थात् विशिष्ट प्रकरण का मनोहारी वर्णन। उदाहरणार्थ, 'रघुवंश' में दशरथ का मृगया-वर्णन, 'बुद्धचरित' में 'बुद्ध-माया-वर्णन', 'कादम्बरी' में विदिशा-नगरी-वर्णन आदि।

(६) प्रकरण-रस-वक्रता, अथवा रोचक प्रसंगों का विशेष विस्तार से वर्णन—जैसे षड्ऋतु चन्द्रोदय सूर्योदय, जलक्रीडा, मधुपान आदि का वर्णन।

---

१ व० जी० १।११-१३ तथा वृत्ति।

) अवान्तर-वस्तु वक्रता अथवा अप्रधान किन्तु सुन्दर प्रसग की उद्भावना द्वारा प्रधान कथावस्तु की सिद्धि—मुद्राराक्षस नाटक मे चाणक्य द्वारा नियुक्त पुरुष द्वारा आत्महत्या का प्रपच करना, जिससे चाणक्य राक्षस को जीवित बन्दी बना सकने में सफल हुआ।

(८) नाटकान्तर्गत नाटक-वक्रता अथवा गर्भांक—नाटक के एक अक मे एक लघु अक की रचना, जिसमें एक कुशल नट सामाजिक का रूप ग्रहण कर ले। जैसे—'बालरामायण' (राजशेखर) नाटक के तीसरे अक मे 'सीता-स्वयबर' नामक गर्भांक आदि।

(९) मुखसन्ध्यादि-विनिवेश वक्रता, अथवा विभिन्न प्रकरणों की परस्पर अन्विति—मुख, प्रतिमुख आदि नाट्य-संधियो के माध्यम से विभिन्न प्रकरणों की परस्पर-सम्बद्धता।

६. प्रबन्ध-वक्रता—प्रबन्ध से तात्पर्य है—महाकाव्य, खण्डकाव्य, नाटक आदि। इससे सम्बद्ध कवि-कौशल प्रबन्ध-वक्रता कहाता है। इसके छह भेद हैं—

(१) मूलरूप-परिवर्तन—आधार-कथा को हृदयहारी बनाने के उद्देश्य से उसके मूल रस के स्थान पर किसी अन्य रस का निर्वहण।

(२) विशेष प्रकरण पर कथा समाप्ति—कभी-कभी कवि नायक का उत्कर्ष दिखाने के उद्देश्य से इतिहास प्रसिद्ध कथा के किसी विशेष प्रकरण पर आकर कथा की समाप्ति कर देता है, विशेषत उस स्थिति मे, जब कि कथा का परवर्ती भाग कोरा इतिवृत्तात्मक अतएव नीरस होता है।

(३) कथा-विच्छेद अर्थात् कथा के मध्य मे ही किसी अन्य कार्य द्वारा प्रधान कार्य की सिद्धि—अर्थात् जहा मूल कथा को किसी ऐसे विशिष्ट स्थान पर बीच मे ही समाप्त कर दिया जाए जो किसी अबाध रस मे उज्ज्वल हो। उदाहरणार्थ, 'शिशुपालवध' में माघ ने शिशुपाल के वध के उपरान्त कथा की समाप्ति कर दी है, यद्यपि कथा-स्रोत युधिष्ठिर के राजसूय यज्ञ तक अभी और आगे बढ़ना था।

वस्तुत, दूसरे और तीसरे भेद मे कोई विशेष अन्तर नही है। अत इन्हे एक ही मानना चाहिए।

(४) नायक द्वारा अनेक आनुषगिक फलों की प्राप्ति—एक विशेष फल की सिद्धि के लिए तत्पर होने पर अन्य फलो की भी प्राप्ति हो जाना।

(५) प्रधान कथा का द्योतक नाम—प्रबन्ध-काव्य के नामकरण द्वारा कथा के मूल रहस्य को प्रकाशन्ता से सकेतित करने के माध्यम से प्राप्त वक्रता। जैसे—अभिज्ञानशाकुन्तल, मेघदूत, मुद्राराक्षस, मृच्छकटिक।

(६) कथा-साम्य अथवा एक कथा से सम्बद्ध विलक्षण प्रबन्धत्व—एक मूल कथा पर आधारित परस्पर-भिन्न प्रबन्धों की रचना। जैसे—रामायण पर आधारित वीरचरित, बाल-रामायण, प्रतिमा नाटक, रघुवश आदि काव्य।

इस प्रकार प्रबन्ध-वक्रता का प्रसग समाप्त करने के बाद कुन्तक ने उपसहार करते हुए कहा है कि 'जिस प्रकार एक-सा शरीर धारण करने वाले, अर्थात् समान इन्द्रिया रखते हुए भी, प्राणी अपने-अपने गुणों से पृथक्-पृथक् प्रतीत होते हैं, उसी तरह ही मूल कथा के होने पर भी [महाकाव्य, खण्डकाव्य, नाटक आदि] प्रबन्ध काव्य अपने-अपने गुणों (कवि के कौशल एव कल्पना से जन्य बाह्य रचना-विधानों तथा चमत्कारोत्पादक स्थलों) के कारण पृथक्-पृथक् भासित होते हैं (व० जी० ४२५)।

इस प्रकार कुन्तक-सम्मत वक्रोक्ति के छह प्रमुख भेदों के (६ + ११ + ८ + १ + ९ + ६) कुल ४१ उपभेद हैं। ये सभी सौन्दर्य-प्रकार, यों कहिए वक्रोक्तिया, अकेले-अकेले रूप में भी काव्य सौन्दर्य उत्पन्न करती हैं, तथा एक से अधिक रूप में मिलकर भी। दूसरी स्थिति मे काव्य की शोभा कहीं अधिक बढ जाती है।

कुन्तक के दृष्टिकोण के अनुसार किसी रचना मे किसी विशिष्ट भाषावयव के सौन्दर्य के आधार पर उसे तन्नामधेय वक्रोक्ति-भेद का उदाहरण समझा जाएगा। उदाहरणार्थ, निम्नोक्त तीन पद्यांशों में क्रमश सख्या-(वचन-) वक्रता, निपात- वक्रता और काल-वक्रता का चमत्कार है—

—'वय' तत्त्वान्वेषान्मधुकर हतास्त्व खलु कृती।
— मुख कथमप्युन्नमित न चुम्बित तु।
— अचिराद् भविष्यन्ति पन्थानो मनोरथानामपि दुर्लंघ्या।

किन्तु प्रश्न है कि क्या इन स्थलों में केवल विशिष्ट भाषावयव के कारण ही काव्य-सौन्दर्य है— इसका स्पष्ट उत्तर है—'नहीं'। वस्तुत 'वयम्', 'तु' और भविष्यन्ति पद मे 'स्य'—ये भाषावयव वाक्य के अन्य पदों के साथ इस रूप में अनुस्यूत हैं कि इनका वक्रार्थ काव्य-सौन्दर्य का विधायक बन गया है, और वक्रोक्ति-भेद का नामकरण 'प्राधान्येन व्यपदेशा भवन्ति' के आधार पर उसके नाम पर मान लिया गया है। एक पौदे पर उगे हुए एक अथवा अनेक पुष्पों की छटा सौन्दर्योत्पादक होती है, किन्तु यह सौन्दर्य वस्तुत एक पुष्प अथवा अनेक पुष्पों के कारण नहीं होता—पौदा, शाखाए लताए, काटे, पत्ते और पुष्प अथवा पुष्प-समुदाय—इन सब का सामूहिक रूप ही सौन्दर्य कहाता है, परन्तु इसका कारण पुष्प अथवा पुष्प समुदाय को ही माना जाता है। वर्षा ऋतु मे आकाश मे कौंधती विद्युत् को भले ही हम एक-मात्र सौन्दर्य-विधायक मान लें, किन्तु उमडते घुमडते घनघोर बादल, नीचे की ओर झुका-सा विशाल आकाश, और यहा से वहा उधर दूर तक फैली श्यामलता—ये सभी विद्युत् की छटा के साथ मिलकर सौन्दर्य का विधान करते हैं। ठीक यही स्थिति वक्रोक्ति के प्रकारो की भी है। रचना का नामकरण तो उस वक्रोक्ति-प्रकार के नाम पर होता है, जिसकी सापेक्ष प्रधानता होती है, किन्तु वह वक्रोक्ति-प्रकार रचना के अन्य रूपों के साथ मिलकर ही काव्य-सौन्दर्य का उत्पादक कारण होता है—वस्तुत, इन सब का सामूहिक प्रभाव (total impact) ही सौन्दर्य कहाता है'

अस्तु। कुन्तक के अनुसार उपर्युक्त भेदोपभेदों के अन्तर्गत काव्य का सभी प्रकार का सौन्दर्य, चाहे वह बाह्य हो अथवा आन्तरिक, समाविष्ट हो जाता है, और इसी कारण उन्होंने वक्रोक्ति को 'काव्य का जीवित' कहा है। कतिपय उदाहरण लीजिए—

१. अनुप्रास, यमक आदि शब्दालंकार, तथा उपनागरिका आदि वृत्तियां और उनके अनुरूप वैदर्भी आदि रीतियां = 'वर्णविन्यास-वक्रता'।
२. उपमा, रूपक आदि अर्थालंकार तथा अलंकार-ध्वनि = 'वाक्यवक्रता'।
३. स्वभावोक्ति अलंकार तथा कवि-शिक्षा के अन्तर्गत वर्ण्य विषय = 'वस्तुवक्रता' (वाक्य-वक्रता का एक रूप।
४. परिकर और उसके सदृश अर्थालंकार = 'पर्यायवक्रता' (पदपूर्वार्ध-वक्रता का एक भेद।)
५. लक्षणा शब्दशक्ति तथा रूपक, रूपकातिशयोक्ति के समकक्ष अलंकार = 'उपचार-वक्रता' (पदपूर्वार्धवक्रता का एक उपभेद)।
६. अर्थान्तर-संक्रमित-वाच्य-ध्वनि और अत्यन्त-तिरस्कृत-वाच्य-ध्वनि 'रूढि-वैचित्र्यवक्रता' (पदपूर्वार्धवक्रता का एक उपभेद)
७. ध्वनि के काल, कारक, वचन, उपसर्ग, निपात, आदि विषयक उपभेद = 'पदपरार्धवक्रता' अथवा 'पदवक्रता'।
८,९प्रकरणगत ध्वनि 'प्रकरणवक्रता' में समीप है, तो प्रबन्धगत ध्वनि 'प्रबन्धवक्रता' के समीप।

[४]

वक्रोक्ति तथा अन्य काव्य-तत्त्व

कुन्तक से पूर्व अलंकार को काव्य का सर्वस्व तथा रीति और ध्वनि को काव्य की आत्मा स्वीकृत किया जा चुका था, तथा भरत और आनन्दवर्धन द्वारा रस का स्वरूप, अधिकांशतः व्यवस्थित हो चुका था। कुन्तक इन चारों काव्य-तत्त्वों से पूर्णतया परिचित थे। इनमें से वामन-सम्मत रीति को इन्होंने निस्सार वस्तु समझकर इस पर विशिष्ट प्रकाश डालना समुचित नहीं समझा।[1] शेष काव्यतत्त्वों को उन्होंने अपनी मान्यता के अनुसार वक्रोक्ति से सम्बद्ध करते हुए अथवा इसी में अन्तर्भूत करते हुए भी कहीं इनका खण्डन नहीं किया—

—अलंकार के प्रति कुन्तक का दृष्टिकोण यद्यपि भामह, दण्डी और उद्भट जैसे अलंकारवादियों के समान न होकर अधिकांशतः आनन्दवर्धन के समान ही है, किन्तु वे उनके द्वारा प्रतिपादित अलंकार के 'व्यापक' अर्थ को भुला नहीं सके—काव्यता [तो] सालंकार [वचन] की होती है, यह एक तथ्य है'—'तत्त्वं सालंकारस्य काव्यता', और इसी धारणा के

१ तदलमनेन निःसार-वस्तु-परिमल-व्यसनेन। (व० जी० १२४ वृत्ति)

वशीभूत होकर मानो वे वक्रोक्ति को एक अपूर्व अलकार की सज्ञा दे रहे हैं काव्यस्यायमलकार कोऽप्यपूर्वो विधीयते।

—जहा तक ध्वनि का प्रश्न है—उन्होंने उपर्युक्त प्रसग के ठीक आस-पास वक्रोक्ति को 'विचित्रा अभिधा' भी कहा है। इसमे उनका तात्पर्य 'ध्वनि' से ही है। इस प्रकार 'ध्वनि' के प्रति भी इन्होंने असाक्षात् रूप से अपनी मान्यता प्रकट की है। यों, इन्होंने ध्वनि के भेदोपभेदों को ही आधार बनाकर वक्रोक्ति के अधिकतर भेदों का निर्माण किया है, तथा उनके अधिकतर उदाहरण भी 'ध्वन्यालोक' से लिये हैं। वस्तुत, उनका उद्देश्य ही ध्वनि के स्थान पर वक्रोक्ति का प्रतिस्थापन करना था।

—शेष रहा चौथा काव्यतत्त्व रस। इसे कुन्तक ने मुक्त कण्ठ से स्वीकार किया है। रस को काव्य का अमृत एव अन्तश्चमत्कार का वितानक मानते हुए प्रकारान्तर से इसे सर्वप्रमुख काव्य प्रयोजन कहा है।[१] उन्होंने रसवत् अलकार को सब अलकारों का जीवित कहते हुए प्रकारान्तर से रस की उत्कृष्टता घोषित की है।[२] प्रकरण-वक्रता और प्रबन्ध वक्रता के लिए रस की अनिवार्यता का अनेक रूपों में निर्देश किया,[३] उपसर्ग वक्रता और निपातवक्रता के प्रसग में रस की चर्चा की[४] आदि इस प्रकार रस की महत्ता स्वीकार करते हुए भी उन्होंने काव्य का 'जीवित' (साधन भूत तत्त्व) वक्रोक्ति को ही माना।

[५]

वक्रोक्ति-सिद्धान्त की अस्वीकृति

कुन्तक के वक्रोक्ति तत्त्व का, आगे चलकर, किसी आचार्य ने अनुमोदन नहीं किया। इसका एक मात्र कारण यह है कि रस और ध्वनि जैसे आन्तरिक एव अधिक व्यवस्थित तत्त्व की तुलना मे वक्रोक्ति जैसा अधिकाशत बाह्य और कम व्यवस्थित तत्त्व प्रचलित नही हो सका। महिमभट्ट ने इस सिद्धान्त का खण्डन प्रमुखत इस आधार पर किया कि यह सिद्धान्त को 'अनुमानवाद' में ही अन्तर्भूत करना चाहिए।[५] विश्वनाथ ने 'वक्रोक्ति काव्यजीवितम्' इस कथन को अस्वीकार किया भी तो इस आधार पर कि वक्रोक्ति एक अलकार-मात्र है,[६] किन्तु जैसा कि हम देख चुके हैं, विश्वनाथ से पूर्व भी वामन, रुद्रट, आनन्दवर्धन और मम्मट ने वक्रोक्ति को एक अलकार मात्र ही माना था, किन्तु वक्रोक्ति का यह सकुचित अर्थ इसके कुन्तक-सम्मत

---

१ काव्यामृतरसेनान्तश्चमत्कारो वितन्यते। व० जी० १५

२ यथा स रसवन्नाम सर्वालकारजीवितम्। व० जी० ३१४

३ व० जी० ४ ४, ८, १०

४ व० जी० २ ३३

५ व्यक्तिविवेक, पृष्ठ १२४-१२६

६ साहित्यदर्पण, प्रथम परिच्छेद

ः अर्थ में नितान्त भिन्न है। इन दोनों के नाम-साम्य को देखकर विश्वनाथ द्वारा कुन्तक का खण्डन अशास्त्रीय, तर्क-विहीन एवं असंगत है।

फिर भी, कुन्तक की वक्रोक्ति को 'काव्य का जीवित' (आत्मा) नहीं माना जा सकता। 'आत्मा' शब्द से काव्यशास्त्रीय क्षेत्र में अभिप्राय है—काव्यानन्द-प्राप्ति का वह साधन जो पर्याप्त विशद होने के साथ-साथ नितान्त आन्तरिक भी हो। कुन्तक की वक्रोक्ति साधन तो है, पर्याप्त विशद भी है, परन्तु नितान्त आन्तरिक नहीं है। यह नितान्त बाह्य भी नहीं है। इसमें बाह्य और आन्तरिक दोनों तत्त्वों का समावेश है फिर भी इसे अधिकांशतः बाह्य स्तर पर अवस्थित कर दिया गया है। उनका यह प्रयास कहीं कहीं अत्यन्त असंगत और हास्यास्पद-सा प्रतीत होता है। उदाहरणार्थ—

१ अलंकार (वाच्य अलंकार) और अलंकार-ध्वनि (व्यंग्य अलंकार) दोनों को कुन्तक ने वाक्यवक्रता कहा है।

२ 'रामोऽस्मि सर्वं सहे' (मैं राम हूँ, सब कुछ सहूँगा) में 'राम' शब्द का वक्रार्थ है—खर दूषण तथा रावण का निहन्ता प्रजापालक आदर्श नृप आदि। कुन्तक इस आन्तरिक अर्थ को 'पदपूर्वार्ध वक्रता' जैसे बाह्यपरक नाम से पुकारते हैं, जबकि आनन्दवर्धन इस व्यंग्यार्थ को अर्थान्तर-संक्रमितवाच्य-ध्वनि कहते हैं।

३ उपर्युक्त पद्य 'गगन च मत्तमेघं . . निरहंकारमृगाङ्का नीला निशा" (अर्थात् घने बादल हैं और यह काली रात्रि है, जिसमें चन्द्रमा अलंकार-रहित हो गया है) में अहंकार रहित में वक्रार्थ है क्षीण, प्रकाश विहीन। कुन्तक ने यहां उपचार-वक्रता अर्थात् लक्षणा जैसे आन्तरिक तत्त्व को—पदपूर्वार्ध वक्रता जैसे बाह्यपरक भेद का उपभेद माना है। आनन्दवर्धन इस व्यंग्यार्थ को 'वस्तुध्वनि' कहेंगे।

मौलिक धारणाएं

अस्तु! यदि उपर्युक्त त्रुटियों एवं शिथिलताओं को ध्यान में न रखकर 'वक्रोक्तिजीवित' ग्रन्थ का अवलोकन करें तो इसमें अनेक मौलिक धारणाएं उपलब्ध होती हैं, जो कि कुन्तक के स्वतन्त्र चिन्तन के स्पष्ट प्रमाण हैं, यह अलग बात है कि हम उनसे सहमत हों अथवा न हों—

(१) यह, आनन्दवर्धन के मतानुसार, 'अलंकार' को शब्दार्थ रूप काव्यशरीर का आभूषक धर्म नहीं मानते, अपितु इसका अविभाज्य धर्म स्वीकार करते हैं—"तत्त्व सालंकारस्य काव्यता।" (व० जी० १.६)

(२) वह स्वभावोक्ति को अलंकार नहीं मानते, अपितु अलंकार्य कहते हैं।[१]

(३) बन्ध' के अन्तर्गत विवेचित तीन काव्य मार्ग—सुकुमार विचित्र और मध्यम—

१ व० जी० १.११-१३

और उनसे सम्बन्धित छह गुण इन्होंने सर्वप्रथम प्रस्तुत किये हैं, जो कि दो वर्गों में विभक्त हैं—(क) औचित्य और सौभाग्य, (ख) माधुर्य, प्रसाद, लावण्य और आभिजात्य।[१]

(४) *तीन मार्गों के लिए उपर्युक्त नये नाम रखने का एक कारण यह भी है कि रीतियों* का नामकरण इन्हें देशों के नाम के आधार पर अभीष्ट नहीं है।[२]

(५) काव्य मे यदि तीन मार्ग हैं — सुकुमार, विचित्र और मध्यम, तो कवि भी इन्हीं तीन प्रकार की प्रतिभाओं से सम्पन्न होने के कारण तीन प्रकार के हो सकते हैं।

(६) वाक्य-वक्रोक्ति (अर्थालंकार) के प्रकरण मे इन्होंने वाच्य अथवा अर्थ के आधार पर वस्तु-वक्रता (वाच्य-वक्रता) का निरूपण किया है, जिसमें काव्य के वर्णनीय विषय पर सर्वप्रथम यथेष्ट एवं पर्याप्त सामग्री प्रस्तुत की गयी है।[३]

(७, ८) वाक्य वक्रता प्रकरण में इन्होंने रसवत् आदि चार अलंकारों को विभिन्न रूपों मे प्रस्तुत किया है[४], तथा कुल मिलाकर २८ अलंकारों के स्वरूप-प्रतिपादन मे पूर्ववर्ती आचार्य भामह द्वारा प्रस्तुत अनेक अलंकारों के लक्षणों का खण्डन भी किया है।

(९, १०) कुन्तक के दो अन्य महत्त्वपूर्ण एवं मौलिक प्रसंग हैं—प्रकरण-वक्रता और प्रबन्ध-वक्रता,[५] जिन पर अन्य ग्रन्थों में—यहां तक कि ध्वन्यालोक में भी—इतना व्यवस्थित, सटीक एवं विशद विवेचन नहीं मिलता।

[६]

उपसंहार

इन अनेक मौलिक धारणाओं को प्रस्तुत करने के बावजूद भी यह सिद्धान्त अपने समग्र रूप में उपादेय नहीं बन पड़ा। अपने समय तक उपलब्ध काव्यशास्त्रीय सामग्री को नूतन अभिधानों से प्रस्तुत करने के प्रयास में कुन्तक ने उस सामग्री के मूल रूप के प्रति न्याय नहीं किया, इससे उसका अवमूल्यन ही हुआ है। इस स्थिति में कुछ ऐसा प्रतीत होने लगता है कि मानो कुन्तक समग्र काव्य-तत्त्वों से उत्पन्न सौन्दर्य को अलग-अलग रंगों वाले छह परिधानों मे लपेट कर प्रस्तुत कर देना चाहते हैं। परिणामत, प्रेक्षक का ध्यान पहले तो इन परिधानों पर पड़ता है, और बाद में इनके आस्वादन, परीक्षण एवं

---

१ व० जी० १.५७, ३०, ४४, ३१, ४५, ४६, ३२, ४७, ३३, ४८

२ व० जी० १.२४ (वृत्ति)

३ व० जी० ३.१,२

४ व० जी० ३.११-१५

५. व० जी० चतुर्थ उन्मेष

मूल्यांकन से उसे ज्ञात होने लगता है कि किन्हीं काव्यतत्त्वों एवं उनके सौन्दर्य को तो उनके अनुरूप यथेष्ट परिधान में लपेट दिया गया है, और किन्हीं को नहीं। जैसे—शब्दालंकार-जन्य काव्य-सौन्दर्य का परिधान 'वर्णवक्रता' निसन्देह यथोचित है—यही स्थिति प्रकरण और प्रबन्ध-गत ध्वनियों से उत्पन्न काव्य-सौन्दर्य की भी है। किन्तु जिन-जिन काव्य-तत्त्वों तथा उससे जन्य सौन्दर्य को कुन्तक ने पद-पूर्वार्द्ध और पद-परार्द्ध तथा वाक्य-वक्रता का परिधान पहनाया है, वे अनेक स्थलों पर यथावत् नहीं हैं। और यों भी, आन्तरिक सौन्दर्य को बाह्य परिधान में लपेट कर प्रस्तुत करने से कुन्तक ने काव्यशास्त्र को स्वस्थ दिशा प्रदान नहीं की। समस्त काव्य-सौन्दर्य को नूतन परिपाटी में ढाल कर उनकी यह अभिलाषा तो पूर्ण हो गयी कि उन्होंने पूर्ववर्ती सिद्धान्तों, विशेषतः ध्वनि, सिद्धान्त, की तुलना में एक नवीन काव्य सिद्धान्त का प्रतिष्ठापन कर दिया, किन्तु यदि यह सिद्धान्त अपने अनेक शैथिल्यों के कारण आगे चलकर, अनुमोदन, विस्तार, आख्यान एवं पुनराख्यान नहीं पा सका तो ऐसी अभिलाषा पूर्ति केवल आत्म-प्रसादन के अतिरिक्त भला और क्या दे पाती है?

यों, 'वक्रोक्ति' नामक काव्य तत्त्व अपने पारिभाषिक अर्थ में काव्य की अनेक विशिष्टताओं को अपने अन्दर सजोये हुए है। वक्रोक्ति से अभिप्राय है लौकिक उक्ति से ऊपर उठी हुई 'वक्र उक्ति' अथवा 'अभिव्यञ्जनामय उक्ति'। वक्रोक्ति 'कवि के कौशल से जन्य भंगिमामय भणिति' है। फिर चाहे, यह कौशल अनुप्रास जैसे शब्दालंकार का विधायक हो, अथवा वस्तु-ध्वनि एवं रस-ध्वनि जैसे ध्वनिकाव्य-भेदों का। इस प्रकार कुन्तक-सम्मत वक्रोक्ति (वक्र उक्ति) के ४१ भेदोपभेदों में अलंकार, वस्तु और रस को, (आधुनिक शब्दावली में कहना चाहें तो सौन्दर्यशास्त्र के निम्नोक्त तीन काव्यतत्त्वों—काव्यशिल्प, कवि-कल्पना और काव्यानुभूति को) समाविष्ट करके इसे विशद, व्यापक बनाने का प्रयास किया गया है। किन्तु यह प्रयास यदि केवल एक ही दिशा में—केवल बाह्य, अथवा केवल आन्तरिक रूप में किया जाता तो यह सिद्धान्त निसन्देह कहीं अधिक ग्राह्य, उपादेय एवं अनुकरणीय बन जाता। फिर भी, कितना सौभाग्य है कुन्तक का कि लगभग एक सहस्र वर्ष पश्चात् इस शताब्दी में आकर इनके ग्रन्थ एवं इनके सिद्धान्त का पुनरुद्धार हुआ। इस ग्रन्थ अनेक रूपों में प्रकाशित हुआ। इस पर व्याख्याएं लिखी गयीं। इस सिद्धान्त पर आलोचनाएं हुईं, और 'वक्रोक्ति' को संस्कृत-काव्यशास्त्र के एक प्रमुख काव्य-सिद्धान्त के रूप में गिना जाने लगा, और यहां तक कि इस सिद्धान्त की क्रोचे के 'अभिव्यंजनावाद' के साथ तुलना प्रस्तुत की जाती है, यद्यपि यह अलग बात है कि इन दोनों में कोई विशेष एवं अत्यधिक समानता नहीं है। अब तो हिन्दी और संस्कृत साहित्य के—और शायद अन्य भारतीय आधुनिक भारतीय भाषाओं के भी—काव्य का, अन्य काव्यतत्त्वों के अतिरिक्त वक्रोक्ति के भेदोपभेदों के निकष पर भी परीक्षण एवं मूल्यांकन किया जा रहा है।

आधारग्रन्थ

(१) हिन्दी वक्रोक्तिजीवित (व्याख्याकार आचार्य विश्वेश्वर, भूमिका लेखक डॉ० नगेन्द्र)

(२) संस्कृत काव्यशास्त्र का इतिहास (डॉ० पी० वी० काणे)

(३) संस्कृत काव्यशास्त्र (दो खण्ड एस० के दे)

(४) भारतीय साहित्यशास्त्र (दो खण्ड), बलदेव उपाध्याय,

(५) भारतीय काव्यशास्त्र (सत्यदेव चौधरी)

११. रामचन्द्र-गुणचन्द्र की काव्यशास्त्र को देन

—'नाट्यदर्पण' के माध्यम से

[१]

संस्कृत-काव्यशास्त्र को हम विषय की दृष्टि से, सुविधा को ध्यान में रखते हुए, दो प्रमुख रूपों में विभक्त कर सकते हैं—काव्य-विधान और नाट्य-विधान। नाट्य-विधान के प्रथम प्रणेता भरत मुनि हैं। इनके उपरान्त सागरनन्दी और धनञ्जय के नाम उल्लेख्य हैं और इनके उपरान्त रामचन्द्र-गुणचन्द्र नामक दो जैनाचार्यों के। इन दोनों बन्धुओं ने नाट्यदर्पण नामक ग्रंथ के प्रणयन द्वारा उक्त दोनों आचार्यों की अपेक्षा नाट्य-विधान सामग्री कहीं अधिक प्रस्तुत की, उदाहरण कहीं अधिक दिये, उदाहरणों के लिए कहीं अधिक नाटक-ग्रंथों का आधार ग्रहण किया, तथा अपने ग्रंथ को कहीं अधिक व्यवस्थित एवं विशद रूप प्रदान किया। केवल इतना ही नहीं, परवर्ती नाट्य-विधान-प्रतिपादकों में से किसी का भी नाम इनकी तुलना में नहीं लिया जा सकता— न शारदातनय का और न धनंजय और विश्वनाथ का। अस्तु !

नाट्यदर्पणकार रामचन्द्र और गुणचन्द्र प्रसिद्ध विद्वान् मनीषी जैनाचार्य हेमचन्द्र के शिष्य थे। इन दोनों में से सर्वप्रथम रामचन्द्र का परिचय जो भी उपलब्ध है, इस प्रकार है—रामचन्द्र ने अपने नाटकों—नलविलास, रघुविलास, सत्य हरिश्चन्द्र और निर्भयभीम व्यायोग—की प्रस्तावना में इस तथ्य का उल्लेख बड़े गौरव के साथ किया है कि वे हेमचन्द्र के शिष्य थे और नाट्य-दर्पण की विवृति के अन्त में भी उन्होंने अपने गुरुवर्य को अत्यन्त श्रद्धा के साथ नमस्कार किया है—

शब्दप्रमाणसाहित्यच्छन्दोलक्ष्यविधायिनाम्।
श्रीहेमचन्द्रपादानां प्रसादाय नमो मम.॥

इतना ही नहीं, स्वयं आचार्य हेमचन्द्र से जब राजा जयसिंह सिद्धराज ने एक बार पूछा कि 'हे भगवन्! आपका उत्तराधिकारी योग्य शिष्य कौन है?' तो आचार्य-प्रवर ने तुरन्त अपने पट्ट शिष्य रामचन्द्र का नाम लेते हुए उसे अपना उत्तराधिकारी बतलाया। (देखिए—प्रभाचन्द्रसूरि कृत 'प्रभावक-चरित'।) आचार्य रामचन्द्र का जन्म कब और कहाँ हुआ, इसके सम्बन्ध में निश्चयपूर्वक अभी तक कुछ नहीं कहा जा सकता। ये आचार्य हेमचन्द्र के शिष्य थे, अतः

इनका समय १२ वीं शती स्वीकार करना चाहिए। गुजरात-स्थित अनहिल पट्टन नामक प्रसिद्ध नगर के राजा जयसिंह सिद्धराज की विद्वत्-परिषद् के ये सदस्य रहे। इनकी विद्वत्ता एवं काव्य-प्रणयन-प्रतिभा से प्रभावित होकर राजा ने इन्हें 'कवि कट्टारमल' की उपाधि से विभूषित किया था। अतः यह माना जा सकता है कि वे सम्भवतः गुजरात-निवासी थे और 'अनहिल पट्टन' नगर के आसपास इनका जन्म हुआ था। रामचन्द्र अपने समय के प्रसिद्ध विद्वान् एवं अनेक ग्रन्थों के प्रणेता थे। अपने ग्रन्थों 'कौमुदी मित्राणन्द' तथा 'निर्भयभीम व्यायोग' की प्रस्तावनाओं में इन्होंने अपना परिचय 'प्रबन्धशतकर्ता' के रूप में दिया है, इनमें से आज दुर्भाग्यवश छोटे-बड़े कुल मिलाकर केवल ३६ ग्रन्थ उपलब्ध हैं।[1] कहते हैं कि आचार्य रामचन्द्र का अन्तिम जीवन बड़े कष्ट से बीता था—वे किसी कारणवश अन्धे हो गये थे, इसका उल्लेख स्पष्ट अथवा प्रकारान्तर से उनके कई ग्रन्थों में मिलता है। यह भी कहा जाता है कि इन्हें अति कठोर राजकोप का भी भाजन बनना पड़ा था।

जैनाचार्य रामचन्द्र के साथ मिलकर जैनाचार्य गुणचन्द्र ने नाट्यदर्पण की रचना की थी। गुणचन्द्र के जीवन के सम्बन्ध में इससे अधिक कुछ नहीं कहा जा सकता कि वे रामचन्द्र के सहपाठी एवं घनिष्ट मित्र थे तथा आचार्य हेमचन्द्र के शिष्य थे। सोमप्रभाचार्य ने अपने काव्य-ग्रन्थ 'कुमारपाल-प्रतिबोध' में एक स्थान पर लिखा है कि इन्होंने अपना यह ग्रन्थ गुणचन्द्र को भी सुनाया था। इससे प्रतीत होता है कि वे कितने सुबुद्ध काव्य-रसिक एवं विद्वान् रहे होंगे। नाट्यदर्पण के अतिरिक्त इन्होंने रामचन्द्र के साथ मिल कर 'द्रव्यालकारवृत्ति' ग्रन्थ का भी प्रणयन किया था। अस्तु।

[२]

नाट्यदर्पण के आरम्भ में जैनाचार्यों ने सर्वप्रथम 'जैनी वाणी' को नमस्कार किया है—

चतुर्वर्गफला नित्यं जैनीं वाचमुपास्महे ।
रूपैर्द्वादशभिर्विश्वं यया न्याय्ये धृतं पथि ।। ना० द० १.१

जैन शास्त्रों में जिनवाणी के जो १२ रूप निर्दिष्ट किये गये हैं,[2] स्पष्टतः उन्हीं की ओर यहाँ संकेत किया गया है। यद्यपि इस स्थल के अतिरिक्त इस ग्रन्थ के कारिका-भाग में अन्यत्र जैन धर्म के किसी सिद्धान्त का प्रत्यक्ष अथवा

---

१. आचार्य विश्वेश्वर की सूचनानुसार, देखिए—हिन्दी नाट्यदर्पण, पृ० १६

२ वे बारह रूप हैं—आचारांग, सूत्रकृतांग, स्थानांग, समवायांग, भगवती, ज्ञाताधर्मकथा, उपासकदशा, अन्तकृद्दशांग, अनुत्तरोपपातिक, प्रश्नव्याकरण, विपाक और दृष्टिवाद।

परोक्ष रूप से उल्लेख नहीं हुआ, किन्तु केवल इसी एक संकेत से ही इन आचार्यों की जैन धर्म के प्रति आस्था का संकेत मिलता है। उधर दशरूपक के कर्ता धनञ्जय ने अपने इष्टदेव विष्णु भगवान् के दस अवतारों को लक्ष्य में रखते हुए मंगलाचरण प्रस्तुत किया था—

दशरूपानुकारेण यस्य माद्यन्ति भावकाः।
नमः सर्वविदे तस्मै विष्णवे भरताय च॥

और इन्होंने इसी आधार पर रूपक के दस भेद निर्दिष्ट किये थे, तो इधर रामचन्द्र-गुणचन्द्र ने जैनधर्म-सम्मत उक्त बारह रूपों को ही लक्ष्य में रखते हुए नाटिका और प्रकरणिका को जोड़कर रूपक के बारह भेद निर्दिष्ट किये हैं।[1]

[३]

इस ग्रन्थ के पहले विवेक में नाटक नामक प्रथम रूपक-भेद का स्वरूप एवं विवेचन प्रस्तुत किया गया है और दूसरे विवेक में शेष ग्यारह भेदों का। तीसरे विवेक में रस एवं अभिनय का विवेचन है और चौथे विवेक में रूपकोपयोगी अन्य सामग्री का, जिसके अन्तर्गत नायक-नायिका-भेद को भी स्थान मिला है। ये चारों प्रकरण विषय-सामग्री की विशदता और प्रतिपादन की गम्भीरता की दृष्टि से अपना विशेष महत्त्व एवं स्थान रखते हैं। ग्रन्थ के वृत्ति-भाग में प्रस्तुत उदाहरण कवि की अध्ययनशीलता एवं आलोचन-प्रखरता के सूचक हैं। इसका प्रमाण यह है कि ये उदाहरण जिन नाटक-ग्रन्थों में से लिये गए हैं उनकी संख्या ६३ तक जा पहुँची है। इनमें से ११ नाटक तो रामचन्द्र द्वारा स्वतः प्रणीत हैं। इन सभी नाटकों में से ऐसे अनेक नाटक हैं जो अद्यावधि अनुपलब्ध हैं, और कुछ तो ऐसे हैं जिनका नामोल्लेख सम्भवतः केवल इसी ग्रन्थ में ही मिलता है।

इस ग्रन्थ में रूपक-सम्बन्धी प्रचलित सामग्री को एकत्र निरूपित, व्यवस्थित एवं विवेचित किया गया है। कलेवर की दृष्टि से सर्वाधिक स्थान ग्रन्थ के प्रमुख विषय रूपक को ही मिला है। इस दृष्टि से दूसरा स्थान रस का है, और तीसरा स्थान नायक-नायिका-भेद का। उक्त विषयों के अतिरिक्त इस ग्रन्थ में कतिपय अन्य विषयों पर भी आनुषंगिक रूप से प्रकाश पड़ गया है, जैसे—काव्य-प्रयोजन, काव्य-हेतु, कवित्व-महिमा, अलंकार, वक्रोक्ति, अनौचित्य, दोष, आदि। इस लेख में रूपक के अतिरिक्त प्रायः सभी प्रसंगों पर ग्रन्थकारों का दृष्टिकोण प्रस्तुत करने का प्रयास किया गया है।

---

१. यहाँ यह उल्लेख्य है कि 'नाटिका-भेद' भरत और धनञ्जय ने भी माना था।

१. काव्य-प्रयोजन

इस ग्रंथ में काव्य-प्रयोजन-प्रसंग को स्वतंत्र स्थान नहीं मिला। ग्रन्थ के निम्नोक्त मंगलाचरण में ग्रन्थकारों ने 'जैनी वाणी' की उपासना करते हुए इसे चतुर्वर्ग-फल-प्रदायिनी कहा है—

चतुर्वर्गफलां नित्यां जैनीं वाचमुपास्महे।
रूपैर्द्वादशभिर्विश्वं यया न्याय्ये धृतं पथि ॥ ना० द० १.१

और इस कथन की 'वृत्ति' में इस फल को 'अभिनेय काव्य' अर्थात् दृश्य काव्य के साथ भी सम्बद्ध किया है। इस सम्बन्ध में उनके मन्तव्य इस प्रकार हैं —

१ दृश्य काव्य द्वारा धर्म, अर्थ और काम ये तीनों फल तो प्राप्त होते ही हैं, इससे मोक्ष-प्राप्ति भी होती है।

२ मोक्ष-प्राप्ति का एक कारण तो यह है कि इसमें सहृदय को शिक्षा मिलती है कि रामादि के आचरण के समान आचरण का ग्रहण करना चाहिए और रावणादि के आचरण के समान आचरण का त्याग। दूसरा कारण यह है कि धर्म नामक पुरुषार्थ की स्वीकृति कर लेने पर इसके द्वारा परम्परा-रूप से मोक्ष-प्राप्ति भी सम्भव है।[1] हाँ, मोक्ष-प्राप्ति रूप फल, धर्म की अपेक्षा गौण होता है।[2]

३. 'जैनी' वाणी के अनुरूप काव्य के द्वारा भी इन पुरुषार्थों में से रचयिता अथवा पाठक को वही फल प्रधानता से प्राप्त होता है जो उसे अभीष्ट होता है और शेष फल उसे गौण रूप से मिलते हैं।[3]

४. 'जैनी' वाणी से तात्पर्य काव्य-नाटक भी लिया जा सकता है, क्योंकि यह वाणी (रचना) भी 'जिनों' अर्थात् राग आदि के विजेताओं— काव्य-नाटककारों की होती है।[4]

---

१. अथाभिनेयकाव्यपरतया श्लोकोऽयं व्याख्यायते। यद्यपि साक्षाद् धर्मार्थकामफलान्येव नाटकादीनि, तथापि 'रामवद् वर्तितव्यं न रावणवद्' इति हेयोपादेयहानोपादानपरतया, धर्मस्य च मोक्षहेतुतया मोक्षोऽपि' पारम्पर्येण फलम्।—हिन्दी नाट्यदर्पण, पृष्ठ ११

२ मोक्षस्तु धर्मकार्यत्वात् गौणं फलम्। वही, पृष्ठ २१

३. इष्टलक्षणत्वाच्च फलस्य यो यस्य पुरुषार्थोऽभीष्टः स तस्य प्रधानम्।
—वही, पृष्ठ ६

४. जिनानां रागादिजेतॄणां लक्षणप्रणयनापेक्षेयं 'जैनी'। वही, पृष्ठ ११

यहाँ यह उल्लेखनीय है कि रामचन्द्र-गुणचन्द्र की उक्त धारणा अन्य काव्यशास्त्रीय ग्रन्थों में देखने को नहीं मिलती कि 'जो सहृदय जिस फल-प्राप्ति के लिए काव्य-निर्माण अथवा काव्य-पठन करता है उसे वही फल तो प्रमुख रूप से मिलता है और शेष फल गौण रूप से।' किन्तु 'यादृशी भावना यस्य सिद्धिर्भवति तादृशी' इस कथन पर आज का बुद्धिवादी मानव पूर्ण आस्था एवं विश्वास नहीं रखता।

इस प्रसंग में दूसरी उल्लेखनीय विशेषता यह है कि इन्होंने काव्य-नाटक की रचना को भी 'जैनी' वाणी इसलिए कहा है कि यह 'राग-द्वेष आदि के विजेताओं' की वाणी होती है। ग्रन्थकारों ने यद्यपि श्लेष के बल पर ही यह धारणा प्रस्तुत करने का प्रयास किया है, किन्तु यह धारणा निस्सन्देह मान्य है। काव्य-नाटक-प्रणेता इनके प्रणयन के समय सांसारिक राग-द्वेष, सुख-दुःख, लाभ-हानि आदि द्वन्द्वों से ऊपर उठ चुका होता है। चित्त की एकाग्रता के बिना वह कवि-कर्म भी नहीं कर सकता। समाधि की अवस्था अथवा वद्यान्तरस्पर्शशून्यता इस कर्म के लिए नितान्त अनिवार्य है। तटस्थता इस कर्म की आधार-शिला है। यही कारण है कि किसी उद्देश्य को लक्ष्य में रखकर रचित ग्रन्थ अथवा काव्य-नाटक वास्तविक 'काव्य' कहाने के अधिकारी नहीं होते। ऐसे काव्यों में साम्प्रदायिकता अथवा 'प्रापेगण्डा' के दुर्गन्ध की लपटें उठा करती हैं। वास्तविक अर्थ में रचनाएं वही आदर्श मानी जाती हैं जो कि लेखक द्वारा राग-द्वेष से विमुक्त होकर लिखी जाती हैं।

२. काव्यहेतु

संस्कृत-काव्यशास्त्रियों में से जिन्होंने काव्यहेतुओं का निरूपण किया है उनमें से दण्डी, वामन, रुद्रट, कुन्तक और मम्मट का नाम उल्लेख्य है। मम्मट ने पूर्ववर्ती काव्यशास्त्रियों का सार ग्रहण करते हुए केवल तीन काव्य-हेतु निर्दिष्ट किये थे—शक्ति, निपुणता और अभ्यास, और 'नाट्यदर्पण' के रचयिताओं ने इस ओर स्पष्ट संकेत नहीं किया। ग्रन्थारम्भ में काव्य-नाट्य-निर्माण पर चलता-सा प्रकाश डालते हुए वे कहते हैं कि 'जो कवि निर्धन से लेकर राजा तक की 'औचिती' अर्थात् उनके सामान्य व्यवहार से अवगत न होते हुए भी काव्य-निर्माण की कामना करते हैं, वे विद्वज्जनों के उपहास के पात्र बनते हैं —

आरंकाद् भूर्धपं यावदौचितीं न विदन्ति ये।
स्पृहयन्ति कवित्वाय, खेलनं ते सुमेधसाम् ॥ ना० द० १.८

तथा जो नाटककार न तो गीत, वाद्य, नृत्य आदि जानते हैं, न लोक-स्थिति से परिचित हैं और न ही प्रबन्धों अर्थात् नाटकों का अभिनय ही कर सकते हैं, वे भी नाट्य-रचना करने के अधिकारी नहीं हैं।

न गीतवाद्यनृत्तज्ञाः लोकस्थितिविदो न ये।
अभिनेतुं च कर्तुं च प्रबन्धांस्ते बहिर्मुखाः॥ ना० द० १.४

उपर्युक्त दोनों पद्यों में दो काव्य-हेतुओं की प्रकारान्तर से चर्चा हुई है—गीत, वाद्य, नृत्त (नृत्य), अभिनय आदि का क्रियात्मक ज्ञान, तथा रंक से राजा पर्यन्त लोक-व्यवहार से परिचिति। इन दोनों हेतुओं को रुद्रट और कुन्तक के शब्दों में अधिकांश सीमा तक 'व्युत्पत्ति' कह सकते हैं, और मम्मट के शब्दों में 'निपुणता'। पूर्ण सीमा तक इसलिए नहीं कि इन आचार्यों ने 'व्युत्पत्ति' और 'निपुणता' के अन्तर्गत लोक-व्यवहार-ज्ञान के अतिरिक्त काव्यग्रन्थों एवं काव्यशास्त्रीय ग्रन्थों का पठन-पाठन भी सम्मिलित किया है। अस्तु। रामचन्द्र-गुणचन्द्र के उपर्युक्त कथन से यह न समझना चाहिए कि उन्हें केवल 'व्यवहार-ज्ञान' को ही काव्यहेतु मानना अभीष्ट होगा और शेष दो—प्रतिभा और अभ्यास को नहीं। जैसा कि ऊपर कह आये हैं, उनका उद्देश्य काव्य-हेतुओं का निरूपण करना नहीं था, केवल कवित्व-महिमा-प्रकरण में उन्होंने इस प्रसंग की चर्चामात्र कर दी है। निस्सन्देह शक्ति अथवा प्रतिभा काव्य-रचना का अनिवार्य हेतु है, और लोक-ज्ञान तथा इसके साथ-साथ 'अभ्यास' गौण हेतु हैं। गौण हेतु इन्हें इसलिए कह सकते हैं कि केवल इनके बल पर आदर्श काव्य-रचना नहीं की जा सकती। इन दोनों से तो कवि में विद्यमान प्रतिभा अथवा शक्ति अर्थात् काव्य-निर्माण-क्षमता का परिष्कार एवं संस्कार होता है—

प्रतिभाऽस्य हेतुः। व्युत्पत्त्यभ्यासाभ्यां संस्कार्या।
—काव्यानुशासन (हेमचन्द्र) पृष्ठ ६

३. कवित्व-महिमा और चौर-कवि

विद्वज्जनों को शास्त्रज्ञान के साथ कवि-कर्म में भी निपुण होना चाहिए, इस सम्बन्ध में रामचन्द्र-गुणचन्द्र का कथन है कि जिस प्रकार लावण्य नारी का प्राण है, उसी प्रकार कवित्व सकल विद्याओं का प्राण है। यही कारण है कि तीनों विद्याओं (वेदों) के ज्ञाता भी सर्वदा कवित्व-निर्माण की अभिलाषा रखते हैं। सत्य तो यह है कि कवित्व-निर्माण का अभाव विद्वानों के लिए एक ऐसा कलंक है जैसा कि नासिका के ऊपर कोढ़ का होना है, अथवा यह अभाव ऐसा है जैसे किसी मृगनयनी के शरीर पर कुचों का अभाव हो। [और शायद इसी कलंक एवं अभाव से बचने के लिए] कई लोग अन्य कवियों के काव्यों द्वारा कवि बनना चाहते हैं। किन्तु यह प्रवृत्ति तो उक्त कलंक की भी चूलिका अर्थात् मूल है—

प्राणः कवित्वं विद्यानां लावण्यमिव योषिताम्।
त्रैविद्यवेदिनोऽप्यस्मै ततो नित्यं कृतस्पृहाः॥

नासिकान्ते द्वयं चित्रं द्वयोर्वोडा रसज्ञयोः ।
कुचाभावः कुरंगाक्ष्याः काव्याभावो विपश्चितः ।
अकवित्वं परस्तावत् कलंकः पाठशालिनाम ।
अन्यकाव्यैः कवित्वं तु कलंकस्यापि चूलिका ॥ ना०द० १.६-११

उक्त प्रसंग से हमारे सामने दो विषय आते हैं—

१. प्राणः कवित्वं विद्यानाम्—अन्य शास्त्र-ज्ञान के साथ-साथ कवि कर्म का अपेक्षित रहना ।

२. अन्यकाव्यैः कवित्वं तु कलंकस्यापि चूलिका—चौर कवि की निन्दा ।

अब इन पर प्रकाश डालना अपेक्षित है—

१ प्राणः कवित्व विद्यानाम्—अन्य शास्त्र-ज्ञान के साथ कविकर्म में नैपुण्य होना, किन्तु इस प्रकार का नैपुण्य किसी व्यक्ति के व्यक्तित्व में निसन्देह शोभा-वृद्धि का कारण बन सकता है, पर इसके अभाव में किसी के व्यक्तित्व में न तो कलक लगने की संभावना करना समुचित है, और न ही कवित्व को सकल विद्याओं का प्राण समझना। शास्त्र-ज्ञान बुद्धि एव मस्तिष्क का व्यापार है और कवि-कर्म हृदय का । अत शास्त्रीय चर्चा और कवित्व मे एक दूसरे का पुट दे देने से इनमें से किसी का भी यथावत् एव सम्यक् रूप उपस्थित नहीं होता । क्योंकि, कवित्व में कल्पना एक अनिवार्य तत्त्व है और उधर शास्त्र और कल्पना मे परस्पर विरोध है । वस्तुतः शास्त्रवेत्ता को अपने सिद्धान्तों का निरूपण, प्रतिपादन, सम्पादन तथा विवेचन करते समय कविकर्म की नितान्त अपेक्षा नहीं रहती । यदि कवि-कर्म से तात्पर्य पद्य-निर्माण है तो यह तात्पर्य सकुचित, सीमित एव एकदेशीय होने के कारण यथार्थ नहीं है, और न ही रामचन्द्र-गुणचन्द्र को संभवत. यही तात्पर्य अभीष्ट होगा । अतः कवित्व को सकल विद्याओं का 'प्राण' समझना अतिशयोक्तिमात्र है । यदि कवि कर्म से तात्पर्य 'पद्य-निर्माण' से भी लिया जाए तो भी मुद्रण-यन्त्र के इस युग मे हर शास्त्रीय और लौकिक विषय को पद्य-बद्ध रूप मे प्रस्तुत करना हास्यास्पद एवं अवाञ्छनीय है । हां, यदि कोई शास्त्र-वेत्ता कवि भी है तो उसकी यह विशिष्टता, जैसाकि ऊपर कह आये हैं, उसके व्यक्तित्व मे शोभा-वृद्धि का कारण बन जाएगी, किन्तु इसका अभाव उसके कलक का कारण किसी भी रूप मे नहीं है ।

२. अन्यकाव्यैः कवित्वं तु कलंकस्यापि चूलिका—अर्थात् अन्य कवियों की भी रचनाओं का किसी भी प्रकार का अपहरण चौर-कर्म कहाता है और इसे कलंक का मूल कहा गया है । निस्सन्देह चोर कवि की निन्दा जितनी की जाए, थोड़ी है । दूसरो की रचना को अपनी बताने वाला तो चोर है ही, किन्तु दूसरो का भावापहरण करके उसे अपने शब्दों मे प्रस्तुत करने वाला तो पहले प्रकार के चोर कवि की अपेक्षा कहीं अधिक दम्भी है, अतः अधिक अपराधी और निन्दनीय है । ऐसे 'कवियों' की निन्दा

अनेक रूपों में की गयी है। इस सम्बन्ध में काव्यशास्त्रियों में राजशेखर के और कवियों में बाणभट्ट के कथन प्रायः उद्धृत किये जाते हैं। राजशेखर ने चार प्रकार के कवियों का निर्देश किया है—उत्पादक परिवर्तक, आच्छादक और संवर्गक।[1] इनमें से प्रथम प्रकार का कवि तो निस्संदेह यथार्थ कवि है, क्योंकि वह प्रतिभा-सम्पन्न होता है, किन्तु शेष तीनों किसी न किसी रूप में चौर-कर्म करते हैं। परिवर्तक इधर-उधर [भाषा में] परिवर्तन करके अपना कार्य चला लेता है, आच्छादक दूसरों के भावों तक को आच्छादित कर देता है, संवर्गक तो डाकू होता है, वह दूसरों की रचना को वैसे का वैसा ग्रहण करके स्पष्टतः अपनी घोषित करता फिरता है।[2] किसी अज्ञात कवि ने ऐसे 'साहसी'[3] को बार-बार नमस्कार किया है :

कविरनुहरति च्छायाम्, अर्थं कुकविः, पदादिकं चौरः ।
सकलप्रबन्धहर्त्रे साहसकर्त्रे नमस्तस्मै ॥

बाणभट्ट ने चौर-कवि की भर्त्सना करते हुए श्लेष अलंकार के माध्यम से उसे चौर ही सिद्ध किया है—

अन्यवर्णपरावृत्त्या बन्धचिह्ननिगूहनैः ।
अनाख्यातः सतां मध्ये कविश्चौरो विभाव्यते ॥[4] हर्षचरितम् १.६

इस सम्बन्ध में विचारणीय यह है कि यदि यह स्वीकार किया जाता है कि 'मौलिकता' नाम का तत्त्व नितान्त दुर्लभ है तो भाव-साम्य के आधार पर किसी की भर्त्सना क्यों की जाए ? भावसाम्य का कारण तो मानव-मन का ऐक्य है। विभिन्न देश और काल में विद्यमान कवियों ने, जो कि प्रत्येक दृष्टि से एक दूसरे से अप्रभावित हैं, एक ही प्रकार के विचार प्रकट किये हैं। निस्सन्देह इस प्रकार का भाव-साम्य उपस्थित करने वाला व्यक्ति किसी भी रूप में अपराध तथा निन्दा का पात्र नहीं है। कभी कोई घटना, अथवा कोई विचार पढ़ा-सुना जाने पर हमारे हृदय के किसी कोने में जा पड़ता है और फिर कभी परिस्थिति-वश जागृत होकर अनायास वाणी अथवा लेखनी द्वारा नि:सृत हो जाता है, और भाव-साम्य का कारण बन जाता है। किन्तु

---

१ उत्पादकः कविः कश्चित् कश्चिच्च परिवर्तकः ।
आच्छादकस्तथा चान्यस्तथा संवर्गकोऽपरः ॥

२ विशेष विवरण के लिए देखिए—काव्यमीमांसा ११ अ० (अन्तिम भाग)

३. संस्कृत में 'साहस' शब्द का अर्थ डकैती आदि अर्थ में प्रयुक्त होता है।

४. यदि चोर दूसरे व्यक्ति के वर्ण अर्थात् रूप को बदल लेता है तो चोर कवि दूसरों के वर्णों अर्थात् शब्दों एवं वाक्यों को । चोर शृंखला-बन्धन से उत्पन्न चिह्नों को छिपाता फिरता है तो इधर चोर कवि दूसरों के रचना-बन्ध के चिह्नों तक को मिटा देता है। किन्तु ये दोनों समझदार व्यक्तियों के बीच न बताये हुए भी पहचान लिये जाते हैं।

इस प्रकार के *साम्य पर मानव* का कोई अधिकार नहीं है, क्योंकि न तो वह दूसरों के विचारों को अपने मन में संस्कार-रूप में प्रस्तुत होने से रोक सकता है, और न ही समय पड़ने पर अभिव्यक्त होने से। हम दूसरों के विचारों को पढ़ और सुन-कर कभी उन्हें नवीन एवं व्यवस्थित रूप में प्रतिपादित करने के लिए लालायित हो उठते हैं, और उन्हें निबन्ध, कविता, नाटक, कहानी, उपन्यास आदि के रूप में ढाल देते हैं। निस्सन्देह यह प्रक्रिया भी निन्दनीय नहीं है, क्योंकि इससे पूर्व भावों को नवीन दिशा मिलती है, कभी-कभी तो हमारी कल्पना का संयोग पाकर ये भाव पहले की अपेक्षा कहीं अधिक स्पष्ट, विशद, ग्राह्य एवं प्रभावशाली बन जाते हैं। इस पुनरा-ख्यान-प्रक्रिया को, चाहे तो, 'मौलिकता' का नाम दिया जा सकता है। पूर्व-ज्ञात भाव हमारी कल्पना का योग पाकर यदि नवीन रूप में प्रतिपादित हो जाए तो इसे 'मौलि-कता' मान लेने में अधिक आपत्ति नहीं होनी चाहिए। अब केवल शेष एक रूप रह जाता है जो अत्यन्त भर्त्सनीय है, वह है—दूसरों के भावों का बाह्य कलेवर बदल देना, दूसरों के शब्दों के स्थान पर अपने शब्दों और दूसरों की वाक्यावली के स्थान पर अपनी वाक्यावली को रखते चले जाना, और इस दम्भ की आड़ में कवि और विचारक कहलाना, यह प्रवृत्ति निःसन्देह पूर्णतः गर्हित एवं त्याज्य है।

४. अलंकार

ग्रन्थ के मूल भाग में निम्नोक्त स्थलों पर अलंकार की चर्चा हुई है—

१. कथा आदि का मार्ग अलंकारों द्वारा कोमल होने के कारण सुखपूर्वक संचरणीय है, किन्तु नाटक का मार्ग रस की कल्लोलों से परिपूर्ण होने के कारण अत्यन्त कठिन है।[1]

२. वह वाणी जो श्लेष अलंकार से युक्त होने पर भी रस-प्रवाह से रहित होने के कारण कठोर होती है वह [भोक्ता के] मन को उस प्रकार प्रफुल्लित नहीं करती जिस प्रकार दुर्भगा [अर्थात् यौन रस न निकलने के कारण कठोर भग वाली] स्त्रियां [पुरुषों को आह्लादित नहीं करतीं]।[2]

३. नाटक नामक रूपक में अलंकारों द्वारा रस का गलन अर्थात् स्खलन अथवा भंग नहीं होना चाहिए—अलंकारकर्यांगरसलद्रसम्। ना०द० १.१५

---

१. अलंकारमृदुः पन्थाः कथादीनां सुसञ्चरः।
दुःसञ्चरस्तु नाट्यस्य रसकल्लोलसंकुलः॥ ना० द० १.३

२. श्लेषालंकारभाजोऽपि रसानिस्यन्दकर्कशाः।
दुर्भगा इव कामिन्यः प्रीणन्ति न मनो गिरः॥ ना० द० १.७

उक्त दो स्थलों के अतिरिक्त निम्नोक्त दो अन्य स्थलों पर भी अलंकार की चर्चा साक्षात् न होकर असाक्षात् रूप से हुई है :

१ जो कवि (नाटककार) नानाविध शब्द तथा अर्थ के लौल्य (चमत्कार) के कारण रस-रूप अमृत से पराङ्मुख हो जाते हैं वे विद्वान् होते हुए भी उत्तम कवियों की गणना में नहीं आते।[1]

२ काव्य (नाटक) में अर्थ और शब्द की उत्प्रेक्षा (कल्पना) इतनी श्लाघ्य नहीं है जितना कि रस श्लाघ्य है। पका हुआ और सुन्दर आम भी यदि रस-शून्य हो, तो [भोक्ता के मन में] उसके प्रति उद्वेजना (अरुचि) उत्पन्न हो जाती है।[2]

इन दोनों स्थलों में शब्द और अर्थ के लौल्य (चमत्कार) और इनकी उत्प्रेक्षा *(कल्पना) से ग्रन्थकारों का तात्पर्य शब्दालंकार और अर्थालंकार से ही है।*[3]

उपर्युक्त उद्धरणों में से प्रथम उद्धरण में कथा की अपेक्षा नाटक को इस आधार पर उत्कृष्ट माना गया है कि रस के बिना भी केवल अलंकार-प्रयोग के बल पर कथा का निर्माण हो सकता है, किन्तु नाटक के लिए रस एक अनिवार्य तत्त्व है। वस्तुतः, यह धारणा संस्कृत के दशकुमारचरित, वासवदत्ता आदि कथा-आख्यायिका-साहित्य को लक्ष्य में रखकर प्रस्तुत की गयी प्रतीत होती है, *जिनमें अलंकारों का अतिशय प्रयोग हुआ है।* इसका एक कारण पाठक की दृष्टि से था, और दूसरा कारण कवि की दृष्टि से। यह साहित्य सामान्य स्तर से उच्च वर्ग के लिए निर्मित किया जाता था। इससे एक ओर पाठक अनुप्रास, यमक, श्लेष, परिसंख्या, विरोधाभास आदि से चमत्कृत होते नहीं अघाते थे, और उधर दूसरी ओर 'गद्य कवीनां निकषं वदन्ति' इस उक्ति के बल पर गद्यकार की सिद्धि एवं प्रशंसा का आधार अलंकार-प्रयोग द्वारा चमत्कार-प्रदर्शन समझा जाने लगा था। किन्तु उक्त धारणा वर्तमान कथा-साहित्य के लिए नितान्त उपयुक्त नहीं है। नाटक के समान इसके लिए भी रस-तत्त्व का समावेश नितान्त अनिवार्य है, और अलंकार की इसे भी विशेष अपेक्षा नहीं रहती। इस प्रकार प्रबन्धकार और मुक्तककार कवियों में भी

१. नानार्थशब्दलौल्येन पराञ्चो ये रसामृतात्।
विद्वांसस्ते कवीन्द्राणामर्हन्ति न पुनः कथाम्॥

२ न तथार्थशब्दोत्प्रेक्षाः श्लाघ्याः काव्ये यथा रसः।
विपाककसमप्याम्रम् उद्वेजयति नीरसम्॥ ना० द० ३.२२

३. ग्रन्थ के मूलभाग में अन्यत्र भी 'अलंकार' शब्द का प्रयोग हुआ है, पर वहां इस शब्द से तात्पर्य है—नायिका के यौवनस्थ भाव, हाव आदि २० धर्म, जो तीन रूपों में विभक्त किये गये हैं। (ना० द० ४.२७,२८)। किन्तु प्रस्तुत प्रकरण से इन अलंकारों का कोई सम्बन्ध नहीं है, क्योंकि ये शब्दार्थ-रूप काव्य-शरीर के शोभाकारक धर्म न होकर नायिका के व्यक्तित्व के शोभाकारक धर्म हैं।

रामचन्द्र-गुणचन्द्र ने इसी प्रकार का ही अन्तर निर्दिष्ट किया है[१] जो कि युक्ति-संगत नहीं है।

उक्त द्वितीय उद्धरण में रस और अलंकार के पारस्परिक सम्बन्ध पर प्रकाश डालते हुए प्रकारान्तर से अलंकार को रस की अपेक्षा दो स्थितियों में अनुत्कृष्ट माना गया है —

(क) रस ही काव्य का अनिवार्य धर्म है, अलंकार नहीं।

(ख) अलंकार का अनुचित प्रयोग रसास्वाद में बाधक बनता है।

निःसन्देह ये दोनों धारणाएं रस-सिद्धान्त के अनुकूल प्रस्तुत की गयी हैं। अब इन दोनों धारणाओं पर किंचित् प्रकाश डालना अपेक्षित है।

[१]

अलंकारवादियों— भामह, दण्डी और उद्भट— ने सभी काव्यशोभाकर धर्मों को 'अलंकार' की संज्ञा देते हुए[२] 'अलंकार' को काव्य के अनिवार्य तत्त्व के रूप में स्वीकृत किया था, क्योंकि उनकी दृष्टि में न केवल अनुप्रास, उपमा आदि ही अलंकार थे, अपितु गुण, रीति, रस, ध्वनि, नाट्य-सन्धि आदि— ये सभी काव्य-शोभाकर होने के कारण 'अलंकार' नाम से अभिहित किये गये थे। किन्तु इधर, रसवादियों ने केवल रस को ही काव्य की आत्मा अर्थात् अनिवार्य तत्त्व स्वीकृत किया, तथा अलंकार को शब्दार्थ का अस्थिर रूप में आभूषक धर्म मानते हुए प्रकारान्तर से इसे रस का भी उत्कर्षक धर्म मान लिया, और वह भी नित्य रूप से नहीं। इसका कारण यह कि अलंकार शब्दार्थ का अस्थिर रूप से शोभावर्धक होते हुए भी कभी तो रस का उत्कर्ष करता है, कभी नहीं करता और कभी इसका अपकर्ष भी कर देता है—ठीक उसी प्रकार जिस प्रकार कटक-कुण्डल आदि आभूषण नारी के शरीर के प्रायः शोभावर्धक होते हुए उसकी मनःस्थिति के अनुसार कभी उसकी आत्मा का उत्कर्ष करते हैं, कभी नहीं करते और कभी अपकर्ष भी कर देते हैं।

रस और अलंकार के पारस्परिक सम्बन्ध-निर्देश-प्रसंग में अलंकारवादियों का यह मन्तव्य भी उल्लेख्य है कि वे रस, भाव आदि को अंगीभूत और अंगभूत रूप में स्वीकार करते हुए इन्हें निम्नोक्त रूप से 'अलंकार' में अन्तर्भूत करते थे— (क) अंगीभूत रस को रसवद् अलंकार में, भाव को प्रेयस्वद् में, रसाभास और भावाभास को ऊर्जस्वि में, और भावशान्ति को समाहित में, तथा (ख) अंगभूत रस, भावादि सब को द्वितीय उदात्त अलंकार में। किन्तु वस्तुतः, रस-भाव आदि से जन्य

१. यौगपद्येन रसनिवेशकव्यवसायिनः प्रबन्धकवयो विदन्ति, न पुनः शब्दार्थप्रपञ्च-वैचित्र्यमात्रोन्मज्जिनो मुक्तककवयः। —हि० ना० द०, पृष्ठ १६७

२. काव्यशोभाकरान् धर्मान् अलंकारान् प्रचक्षते। काव्यादर्श २.१

चमत्कार बाह्य न होकर नितान्त आन्तरिक है। अलंकार की रचना अनिवार्यतः कवि के सायास शब्द-योजन पर आधृत है और इसका चमत्कार नाद तथा अर्थ (वाच्यार्थ) पर, किन्तु इधर रसपूर्ण काव्य की रचना के लिए शब्द-योजन अनिवार्य तत्त्व नहीं है, और इसका आस्वाद नाद तथा वाच्यार्थ पर आधृत न होकर व्यंग्यार्थ पर आधृत है। शब्द-योजना यदि अलंकृत न भी हो, तो भी सरस रचना व्यंग्यार्थ के बल पर सहृदय को आस्वाद-प्रदान की क्षमता रखती है। 'प्राधान्येन व्यपदेशा भवन्ति' इस सिद्धान्त के अनुसार यह निष्कर्ष निःसंकोच निकाला जा सकता है कि एक ओर 'अलंकार' कवि-निष्ठ है, तो दूसरी ओर 'रस' सहृदय-निष्ठ। मूलतः, इन्हीं आधारों पर रसवादी रस को अलंकार में अन्तर्भूत करने के विरुद्ध हैं। उन्होंने रस को काव्य की आत्मा के रूप में स्वीकार करते हुए अलंकार को अनित्य रूप से रस का उत्कर्षक मान लिया। अतः उन्होंने अंगीभूत रस, भाव आदि को इन्हीं नामों से ही अभिहित किया। हाँ, अंगभूत रस और भाव को इन्होंने क्रमशः रसवद् और प्रेयस्वद् नाम दिया, रसाभास तथा भावाभास को ऊर्जस्वि अलंकार, और भावशान्ति को समाहित अलंकार। इनके अतिरिक्त भावोदय, भावसन्धि और भावशान्ति को अंगभूत रूप में वर्णित होने पर इन्हीं नामों से अलंकार-रूप में स्वीकृत किया— जैसे, भावोदय अलंकार, आदि।

यहाँ यह भी उल्लेख्य है कि मम्मट ने रसवद् अलंकारों को अनुप्रास तथा उपमा आदि के समान चित्र-काव्य का अंग न मानकर गुणीभूतव्यंग्य-काव्य¹ के 'अपराङ्ग-व्यंग्य' नामक भेद के अन्तर्गत स्वीकृत करके प्रकारान्तर से यह भी संकेत किया है कि ये रसवद् आदि सात अलंकार, अनुप्रास तथा उपमा आदि अलंकारों की अपेक्षा उच्च धरातल पर अवस्थित हैं—क्योंकि रसवद् आदि अलंकारों में वाच्यार्थ की अपेक्षा व्यंग्यार्थ भले ही गौण हो, किन्तु अनुप्रास, उपमा आदि के समान इनमें 'व्यंग्यार्थ' वाच्यार्थ की अपेक्षा अस्फुट रूप से विद्यमान नहीं होता। दूसरे शब्दों में कहें तो अनुप्रास, उपमा आदि अलंकारों में व्यंग्यार्थ अस्फुट रूप से विद्यमान रहता है, किन्तु रसवद् प्रेयस्वद्, आदि अलंकारों में व्यंग्यार्थ स्फुट रूप से विद्यमान रहता है। अस्तु।

रसवादी आचार्यों का अलंकार के प्रति यही दृष्टिकोण है, और इसी के आधार पर रामचन्द्र-गुणचन्द्र के उक्त कथन में प्रकारान्तर से यह स्वीकृति की गयी है कि रस ही काव्य का अनिवार्य धर्म है, अलंकार नहीं।

---

१. (क) *गुणीभूतव्यंग्यं वाच्यादनुत्तमे व्यंग्ये।* सा० द० ४. १३.

(ख) शब्दचित्रं वाच्यचित्रमव्यंग्यं त्ववरं स्मृतम्।
[चित्रमिति गुणालंकारयुक्तम्। अव्यंग्यमिति स्फुटप्रतीयमानार्थ-रहितम्।]
—का० प्र० १.५.

[२]

अब रामचन्द्र-गुणचन्द्र की दूसरी धारणा को लें कि अलंकार का उचित प्रयोग ही रस का उत्कर्ष कर सकता है, अनौचित्य-पूर्ण प्रयोग नहीं। इस सम्बन्ध में निम्नोक्त धारणाएं अवलोकनीय हैं—

१. काव्य सरस होना चाहिए। नीरस काव्य में अलंकारों का प्रयोग केवल उक्ति-वैचित्र्यमात्र है, एक कौतूहलमात्र है—ठीक उसी प्रकार जैसे किसी शव अथवा गलित-यौवना नारी अथवा वैराग्यवान् यति के शरीर को आभूषणों से सज्जित करने का प्रयास करना।[1]

२. सरस काव्य में अलंकारों का प्रयोग औचित्यपूर्ण होना चाहिए। सजीव, स्वस्थ, सुन्दर शरीर पर भी आभूषणों का प्रयोग औचित्य की अपेक्षा रखता है—अंजन की कालिमा बड़ी-बड़ी आंखों में ही शोभा देती है, मुक्ताहार उन्नत एवं पीन पयोधरों पर ही शोभित होता है, अन्यत्र नहीं।[2] इसी प्रकार वीर और रौद्र रसों में यमक अनुप्रास का निबन्धन इन रसों का तो उपकार करता है, पर विप्रलम्भ शृंगार में यह निबन्धन भला कहां शोभा देगा?[3] यह तो इस प्रकार हास्यास्पद लगता है जैसे हाथों में नूपुरों का और चरणों में केयूरों का बन्धन।[4]

इस प्रकार लौकिक आभूषणों के समान काव्यगत अलंकारों के भी औचित्यपूर्ण प्रयोग पर बल दिया गया है।[5] सत्य तो यह है कि काव्यगत सौन्दर्य शारीरिक सौन्दर्य की अपेक्षा कहीं अधिक संवेदनशील है। उदाहरणार्थ, रकार का अनुप्रास विप्रलम्भ शृंगार के एक उदाहरण में रस का उपकार करता है तो टकार का अनुप्रास उसी रस के दूसरे उदाहरण में रस का उपकार नहीं करता।[6] तभी मम्मट को अलंकारों के

---

१. (क) तथा हि अचेतनं शवशरीरं कुण्डलाद्युपेतमपि न भाति, अलंकार्यस्याभावात्। यति-शरीरं कटकादियुक्तं हास्यावहं भवति, अलंकार्यस्यानौचित्यात्।
(ख) का० सू० वृ० ३.२.२ (पद्य)

२. दीर्घापांगं नयनयुगलं भूषयत्यञ्जनश्री-
स्तुंगाभोगौ प्रभवति कुचावर्चितुं हारयष्टिः।

३. ध्वन्यालोक २ । १५

४. औचित्यविचारचर्चा, पृष्ठ १

५. उचितस्थानविन्यासादलंकृतिरलंकृतिः। वही, पृष्ठ ६

६. देखिए मम्मट द्वारा उद्धृत दोनों उदाहरण—
(क) अपसारय घनसारम्··· ····· ।
(ख) चित्ते विहट्टदि ण टुट्टदि ············ । काव्यप्रकाश ८ म उ०

सम्बन्ध मे लिखना पड़ा कि कहीं वे रस का उपकार नहीं भी करते । स्पष्ट है कि एक ही रस के दो उदाहरणों मे कोमल वर्ण 'रकार' और कठोर वर्ण 'टकार' की क्रमशः सहायता और असहायता का उत्तरदायित्व औचित्य के ही सद्भाव अथवा अभाव पर आधारित है।

(३) अलंकार का प्रयोग सायास नहीं होना चाहिए । वस्तुतः, अलंकार का स्वरूप प्रयोग कवि के आयास पर निर्भर है भी नहीं, ये तो रस में दत्तचित प्रतिभावान् कवि के सामने, मानो हाथ जोड़े, किसी प्रकार के आयास के बिना, एक के बाद एक, स्वतः ही चले आते हैं[१], और रसानुकूल रूप में समाविष्ट होकर स्वयं कवि को भी आश्चर्य-चकित कर देते हैं । किन्तु जहां कोई कवि इनका प्रयोग सायास करता है तो वहां अलंकार का अनभीष्ट प्रवेश, न केवल वर्ण्य विषय को, अपितु काव्याह्लाद को भी आच्छादित कर देता है। हिन्दी के प्रसिद्ध कवि केशवदास का ग्रन्थ 'रामचन्द्रिका' इस तथ्य का सबल प्रमाण है।

× × ×

वस्तुतः, संस्कृत का काव्यशास्त्री शब्दालंकारों के प्रयोग के अनौचित्य के विषय मे अपेक्षाकृत अधिक आशंकित रहा है । यही कारण है कि दण्डी जैसे अलंकारवादी ने भी *अनुप्रास और यमक के प्रति अवहेलना प्रकट की है*[२], और रुद्रट जैसे अलंकार-प्रिय आचार्य ने अनुप्रास अलंकार की स्वसम्मत मधुरा आदि पांच वृत्तियों के औचित्यपूर्ण प्रयोग पर विशेष बल दिया है।[३] आनन्दवर्धन ने अनुप्रास-बन्ध के विषय में एक चेतावनी दी है—*शृंगार के सभी प्रभेदों में अनुप्रास का बन्ध सदा एक सा* अभिव्यंजक नहीं हुआ करता । अतः कवि को इस अलंकार के औचित्यपूर्ण प्रयोग के लिए विशेष सावधानी बरतनी चाहिए । शृंगार, विशेषतः विप्रलम्भ शृंगार, में यमक, *[शब्दश्लेष, चित्र आदि] का प्रयोग कवि के प्रमाद सूचक है*।[४] कुन्तक अनुप्रासमयी रचना की अतिनिबद्धता (सकुलतापूर्ण बद्धता) के पक्ष मे नहीं है; और यदि ऐसी

---

१. अलंकरणान्तराणि × × × रससमाहितचेतसः प्रतिभावतः कवेरहम्पूर्विकया परापतन्ति । —ध्वन्यालोक २.१६ (वृत्ति)

२. काव्यादर्श १.४३, ४४, ६१

३. का० अ० २.२३

४. (क) शृंगारस्यांगिनो यत्नादेकरूपानुबन्धवान् ।
सर्वेष्वेव प्रभेदेषु नानुप्रासः प्रकाशकः ॥ ध्वन्या० २.१४

(ख) ध्वन्यात्मभूतशृंगारे यमकादिनिबन्धनम् ।
शक्तावपि प्रमादित्वं विप्रलम्भे विशेषतः ॥ ध्वन्या० २.१५

रचना हो भी जाए; तो उनके कथनानुसार उसे असुकुमार नहीं बनाना चाहिए।[1] भट्ट लोल्लट के मत में यमक आदि शब्दालंकार रस के अति विरोधी हैं। इनका प्रयोग *कवि के अभिमान का सूचक है, अथवा भेड़चाल के समान है।*[2]

हमने देखा कि शब्दालंकारों के औचित्य को समझते-समझाते संस्कृत का आचार्य कहीं-कहीं उनका तीव्र विरोध अथवा निषेध तक कर बैठा है। पर अर्थालंकारों के प्रयोग का निषेध वह किसी अवस्था में करने को उद्यत नहीं है। हाँ, वह इन्हें स्वस्थ रूप में अवश्य देखना चाहता है। अलंकार का स्वस्थ रूप है—रस, भाव आदि का अंग बन कर रहना।[3] उसे यह रूप देने के लिए एक प्रबुद्ध कवि को विशेष प्रकार के समीक्षण की सदा अपेक्षा रखनी पड़ेगी। निष्कर्ष यह है कि अर्थालंकारों के औचित्यपूर्ण प्रयोग की कसौटी है—बिना आयास किये रसानुकूलता की प्राप्ति,[4] और शब्दालंकारों का भी रसोपयोगी बनकर, आयास किये बिना, रचना में स्वतः समावेश यदि सम्भव होता, तो संस्कृत के आचार्यों ने अर्थालंकारों के समान इन्हें भी निश्चित ही समान-महत्त्व दे दिया होता। अस्तु !

काव्य में अलंकारों (विशेषतः अर्थालंकारों) के औचित्यपूर्ण निर्वहण के लिए आनन्दवर्धन ने निम्नोक्त साधनों का निर्देश किया है[5]—

१. काव्य में रस ही अंगी होता है, अतः रूपक आदि अलंकारों को उसके अंग रूप में ही प्रयुक्त करना चाहिए।

२. अलंकार की अंगी रूप में विवक्षा कभी नहीं करनी चाहिए।

३, ४. अलंकारों का अवसर पर ग्रहण करना, और अवसर पर ही इनका त्याग कर देना चाहिए।

---

१. नातिनिबन्धविहिता, नाप्यपेशलभूषिता। व० जी २.४

२. यमकानुलोमतदितरचक्रादिभिदोऽति रसविरोधिन्यः।
अभिमानमात्रमेतद् गड्डरिकादिप्रवाहो वा॥
—का० अनु० (हेमचन्द्र), पृष्ठ २५७

३. रसभावादितात्पर्यमाश्रित्य विनिवेशनम्।
अलङ्कृतीनां सर्वासामलङ्कारत्वसाधनम्॥ ध्वन्या० ३.४३ वृत्ति

४. रसाक्षिप्ततया यस्य बन्धः शक्यक्रियो भवेत्।
अपृथग्यत्ननिर्वर्त्यः सोऽलंकारो ध्वनौ मतः॥ ध्वन्या० २.१६

५. विवक्षा तत्परत्वेन नांगित्वेन कदाचन।
काले च ग्रहणत्यागौ नातिनिर्वहणैषिता॥
निर्व्यूढापि चांगत्वे यत्नेन प्रत्यवेक्षणम्।
रूपकादिरलंकारवर्गस्यांगत्वसाधनम्॥ ध्वन्यालोक २.१८,१९,

५. अलंकार-प्रयोग का आरम्भ करके उसे अन्त तक निभाने का प्रयत्न नहीं करना चाहिए।

६. यदि अनायास आद्यन्त निर्वाह हो भी जाए तो उसे अंग रूप में रस का पोषक बनाने का यत्न करना चाहिए।

उक्त साधनों में से प्रथम दो तो एक ही हैं। पाँचवें का तीसरे और चौथे साधन में तथा छठे का पहले साधन में अन्तर्भाव हो सकता है। इन सबका कुल मिलाकर उद्देश्य यह है कि रचना में अलंकारों को रस के अंग-रूप में ही स्थान दिया जाए, प्रधान-रूप से कभी नहीं। और ऐसा करने के लिए कवि एक विशिष्ट प्रकार की समीक्षण-बुद्धि से काम ले, तभी रूपक आदि [अर्थालंकार] अपनी यथार्थता को प्राप्त कर सकेंगे—

ध्वन्यात्मभूतशृंगारे समीक्ष्य विनिवेशितः।
रूपकादिरलंकारवर्ग एति यथार्थताम्॥ ध्वन्या० २.१७

निष्कर्ष यह है कि अलंकार की सार्थकता इसी में है कि वह एक अनायास साधन के रूप में रस (काव्यानन्द) का उत्कर्ष करे, न कि स्वयं रस को आच्छादित करके कवि की चमत्कार-प्रियता का परिचय देने लगे।

५ गुण

रस और गुण के परस्पर-सम्बन्ध का निर्देश करते हुए एक स्थान पर ग्रन्थकार लिखते हैं कि 'व्यायोग' नामक रूपक में वीर, रौद्र आदि दीप्त रसों की स्थिति होती है। अतः इस में गद्य तथा पद्य दोनों ओज गुण से युक्त होने चाहिए: दीप्तानां वीररौद्रादीनां रसानामाश्रयः। अतएवात्र गद्य पद्य चौजोगुणयुक्तम्।
(हि० ना० द०, पृष्ठ २२१)

आनन्दवर्धन और उनके अनुयायियों—मम्मट और विश्वनाथ के अनुसार गुण का रस के साथ दोहरा सम्बन्ध है—एक सम्बन्ध प्रधान है और दूसरा गौण। प्रधान सम्बन्ध का आधार सहृदय की चित्तवृत्ति है, और गौण सम्बन्ध का आधार शब्द और अर्थ है। यहां 'शब्द' से तात्पर्य है वर्णाश्रित रचना। अतः गुण प्रधानतः रस का नित्य धर्म है और गौणतः शब्द और अर्थ का अनित्य धर्म—

(क) ये रसस्यांगिनो धर्माः × × × अचलस्थितयो गुणाः।
(ख) गुणवृत्त्या पुनस्तेषां वृत्तिः शब्दार्थयोर्मता।
—का० प्र० ८. ६६, ७१

(१) रस के साथ गुण का प्रधान सम्बन्ध है—इसका तात्पर्य यह है कि शृंगार, करुण आदि कोमल रसों में चित्त की द्रुति होने के कारण 'माधुर्य गुण की स्वीकृति होगी, और वीर, रौद्र आदि कठोर रसों में चित्त की दीप्ति होने के कारण

ओज गुण की। कोमल अथवा कठोर रसो मे से किसी भी रस मे यदि अर्थ का अवबोध त्वरित हो जाएगा तो वहा चित्त की व्याप्ति होने के कारण माधुर्य अथवा ओज के अतिरिक्त प्रसाद गुण की भी स्वीकृति की जाएगी। दूसरे शब्दो मे, किसी रचना मे यदि त्वरित अर्थावबोध न होगा तो वहा रस के अनुकूल माधुर्य अथवा ओज मे से किसी एक गुण की स्थिति मानी जाएगी, और यदि त्वरित अर्थावबोध हो जाएगा तो वहा रस के अनुकूल माधुर्य और प्रसाद गुण, अथवा ओज और प्रसाद गुण—दो-दो गुणो की स्थिति स्वीकृत होगी। इस प्रकार ये गुण सहृदय के चित्त की *विभिन्न अवस्थाओ पर आधारित हैं। चित्त की द्रुति अथवा दीप्ति एव व्याप्ति* नामक अवस्थाए पहले होती हैं, और रसाभिव्यक्ति इनके बाद होती है। ऐसा कभी नही हो सकता कि सहृदय का मन इन अवस्थाओ मे से न गुजरे, और रस की अभिव्यक्ति हो जाए। **निष्कर्षत, चित्तवृत्ति-रूप गुण और रस में पूर्वापर-सम्बन्ध है, तथा यह सम्बन्ध नित्य अर्थात् अनिवार्य है।**

× × ×

(२) गुण का रचना के साथ गौण सम्बन्ध भी है—इसका तात्पर्य यह है कि शृगार, करुण आदि कोमल रसो मे कोमल वर्णो का प्रयोग होना चाहिए तथा समस्त (समास-बद्ध) पदो का प्रयोग या तो न हो, और यदि हो तो अल्प हो, जिनमे समस्त पद लघु हो। इसी प्रकार वीर, रौद्र आदि कठोर रसो मे कठोर वर्णो का प्रयोग करना चाहिए, तथा सघन और अधिक समासो का प्रयोग होना चाहिए। उक्त वर्णों एव पदो का प्रयोग कोमल रसो मे माधुर्य गुण का अभिव्यजक कहलाता है, और कठोर रसो मे ओज गुण का। इनके अतिरिक्त यदि किसी सरस रचना मे अर्थ का अवबोध त्वरित हो जाएगा तो उनमे चाहे कैसे भी वर्णो और पदो का प्रयोग हो वहा माधुर्य अथवा ओज मे से किसी एक गुण के साथ प्रसाद गुण की स्वीकृति भी की जायगी। इस प्रकार ये गुण वर्ण और शब्द (पद) पर आधारित है—रचना अर्थात् काव्य के बाह्य पक्ष पर आधारित हैं, पूर्वोक्त गुणो के समान सहृदय की चित्तवृत्ति अर्थात् काव्य के आन्तरिक पक्ष पर आधारित नही हैं। इसके अतिरिक्त पूर्वोक्त गुणो के समान इन गुणो का रस के साथ नित्य सम्बन्ध भी नही है। उदाहरणार्थ, शृगार रस के किसी पद्य मे यदि कोई अप्रौढ कवि टवर्गादि से युक्त कठोर वर्ण-योजना और दीर्घ-समस्त-वृत्ति का प्रयोग कर लेगा, तो इस स्थिति मे भी *उस पद्य मे रसगत माधुर्य गुण की ही स्वीकृति होगी, और वर्णाश्रित ओज गुण की,* क्योकि चित्तवृत्ति-रूप गुण की स्थिति रस पर आधृत है न कि वर्ण-योजना पर। हां, इस पद्य मे 'वर्ण-प्रतिकूलता' नामक दोष अवश्य माना जाएगा। किन्तु आदर्श स्थिति यही है कि शृगार आदि रसो मे माधुर्य गुण के अभिव्यजक वर्ण प्रयुक्त किये जाने चाहिएं, और रौद्र आदि रसो मे ओज गुण के।

इस प्रकार उपर्युक्त आधार पर निम्नोक्त तत्त्वों में पारस्परिक सम्बन्ध स्थापित हो जाता है—(१) रचना, (२) चित्तवृत्ति, (३) गुण : रस का नित्य धर्म, (४) गुण ; शब्दार्थ (रचना) का गौण धर्म, (५) रीति, (६) वर्ण-प्रतिकूलता नामक रस-दोष।

निम्नोक्त तालिका से उपर्युक्त समग्र धारणा स्पष्ट हो जाएगी—

रस	चित्तवृत्ति	रसगत गुण	रचना	रचनागत गुण	रीति	दोष
१ शृंगार	द्रुति	माधुर्य	कोमल	माधुर्य	वैदर्भी	
२. ,,	,,	,,	कठोर	ओज	गौडी	वर्णप्रतिकूलता
३ ,,	(क) ,,	,,	(क) कोमल	माधुर्य	वैदर्भी	
	(ख) व्याप्ति	प्रसाद	(ख) त्वरित अर्थबोध	प्रसाद	पांचाली	
४ ,,	(क) द्रुति	माधुर्य	(क) कठोर	ओज	गौडी	वर्णप्रतिकूलता
	(ख) व्याप्ति	प्रसाद	(ख) त्वरित अर्थबोध	प्रसाद	पांचाली	
५ वीर	दीप्ति	ओज	कठोर	ओज	गौडी	
६ ,,	,,	,,	कोमल	माधुर्य	वैदर्भी	वर्णप्रतिकूलता
७ ,,	(क) ,,	,,	(क) कठोर	ओज	गौडी	
	(ख) व्याप्ति	प्रसाद	(ख) त्वरित अर्थबोध	प्रसाद	पांचाली	
८. ,,	(क) दीप्ति	ओज	(क) कोमल	माधुर्य	वैदर्भी	वर्णप्रतिकूलता
	(ख) व्याप्ति	प्रसाद	(ख) त्वरित अर्थबोध	प्रसाद	पांचाली	

इस तालिका से स्पष्ट है कि—

—चित्तवृत्ति का पर्याय गुण तो रस का नित्य धर्म है,

—किन्तु वर्ण-योजना से द्योतित गुण शब्दार्थ (रचना) का गौण (अनित्य) धर्म है।

—यह उल्लेखनीय है कि सर्वाधिक आदर्श स्थिति संख्या ३ और ७ है, तथा उसके बाद सं० १ और ५।

अस्तु ! रामचन्द्र-गुणचन्द्र को अपने उपर्युक्त कथन में यही आदर्श स्थिति अभीष्ट है कि वीर-रौद्रादि दीप्त रसों में रस-गत ओज गुण तो स्वतः सिद्ध है ही, वहां वर्णादि-गत भी ओज गुण ही होना चाहिए।

६. वक्रोक्ति

प्रस्तुत ग्रन्थ में 'वक्रोक्ति' शब्द का प्रयोग जिन प्रसंगों में हुआ है, उनमें से निम्नोक्त चार प्रसंग उल्लेखनीय हैं—वीथी, शृंगार रस, आमुख, और रसदोष। इन्हीं प्रसंगों में वक्रोक्ति को न तो कुन्तक-सम्मत व्यापक अर्थ में प्रयुक्त किया गया है, तथा न शब्दालंकार-रूप प्रचलित अर्थ में। इन प्रसंगों में इसका प्रयोग किसी एक-समान अर्थ में न होकर तीन भिन्न अर्थों में हुआ है—

(१) 'वीथी'-प्रसंग में वक्रोक्ति से तात्पर्य है—विविधता, विचित्रता, अथवा शबलता। ग्रन्थकारों ने वीथी के लक्षण में इसे नाटकादि द्वादश रूपकों की उपकारिणी कहा है, और इसका कारण यह बताया है कि वीथी के व्याहार, अधिबल आदि १३ अंग नाटक आदि सभी रूपकों में उपयोगी हैं, और इन अंगों के सम्बन्ध में उन्होंने कहा है कि ये वक्रोक्तियों अर्थात् विविधताओं, विचित्रताओं अथवा शबलताओं से युक्त हैं—

> सर्वेषां रूपकाणां नाटकादीनां वक्रोक्त्यादिसंकुलत्रयोदशाङ्गप्रवेशेन उपयोगिनी वैचित्र्यकारिका। —हि० ना० द०, पृष्ठ २४१

इसी प्रसंग में ही शृंगार और हास्य को अनेक प्रकार की वक्रोक्तियों से युक्त कहा गया है। यहां भी 'वक्रोक्ति' का अर्थ विविधता ही है—

> वक्रोक्तिशतसंकुलत्वेन शृंगारहास्ययोः सूचनामात्रत्वात् कैशिकीवृत्तिहीनत्वम्।
> —वही

(२) इसी प्रकार शृंगार रस के निम्नोक्त प्रसंग में भी 'वक्रोक्ति' से अभिप्राय है सुन्दर वार्तालाप, न कि कुन्तक-सम्मत 'वक्रोक्ति'—

> प्रथमः सम्भोगाख्यो बहुः। परस्परावलोकन-चुम्बन-विचित्र-वक्रोक्त्यादिभेदतो ऽनन्तप्रकारः। —हि० ना० द०, पृष्ठ ३०७

(३) आमुख-प्रसंग में 'वक्रोक्त' (वक्रोक्ति) शब्द का प्रयोग 'स्पष्ट वचन से विपरीत' अर्थ में हुआ है : 'आमुख में सूत्रधार दो प्रकार के वचनों का प्रयोग करता

है—स्पष्ट और वक्रोक्त ।[1] वक्रोक्त से तात्पर्य है साक्षात् विवक्षित अर्थ का अप्रतिपादक कथन—"वक्रोक्तः साक्षाद्विवक्षितार्थस्याप्रतिपादकः," अर्थात् वह वचन जो स्पष्ट रूप से न कहा जा कर घुमा-फिरा कर कहा जाए, जैसा कि संस्कृत-नाटकों के 'आमुख' में प्रायः व्यवहृत होता है ।

(४) रसदोष-प्रसंग में 'वक्रोक्ति' शब्द का प्रयोग तो नहीं हुआ, 'अवक्रोक्ति' का हुआ है । यहाँ 'वक्रोक्ति' से अभिप्राय है—युक्त, उचित, मान्य, संगत आदि । रस, स्थायिभाव, व्यभिचारिभाव, आदि की स्वशब्दवाच्यता का सर्वप्रथम संकेत उद्भट ने किया था, तथा कुन्तक, मम्मट आदि आचार्यों ने इसे एक दोष माना था, किन्तु रामचन्द्र-गुणचन्द्र ने इस दोष-कल्पना को अयुक्त कहा है,[2] तथा इसे अव्युत्पन्न जनों की उक्ति के रूप में स्वीकार करते हुए इसे 'अवक्रोक्ति' (अर्थात् अयुक्त, अनुचित, अमान्य, असंगत धारणा) माना है : 'तस्माद् अव्युत्पन्नोक्तित्वादवक्रोक्तिरेवैषम्' । (हि०ना०द०,पृष्ठ ३२९) । उक्त धारणा अयुक्त है अथवा नहीं, यहाँ यह विचारणीय नहीं है ।[3] विचारणीय यह है कि क्या 'वक्रोक्ति' शब्द का अर्थ 'युक्त' आदि भी हो सकता है ? शब्द के वाच्यार्थ से तो इस अर्थ का बोध नहीं होता, हाँ यदि खींचतान की जाए तो वक्रोक्ति=काव्य का बाह्य साधन=काव्य का उपयुक्त अथवा युक्त, मान्य, उचित तत्त्व । अतः वक्रोक्ति का अर्थ हुआ युक्त और अवक्रोक्ति का अयुक्त । किन्तु इस धारणा [illegible] मनस्तुष्टि नहीं होती । सम्भवतः यह पाठ ही अशुद्ध हो । अथवा 'वक्रोक्ति' शब्द का अर्थ काव्यत्व भी लिया जा सकता है, जिसके अनुरूप 'अवक्रोक्ति' का अर्थ होगा—'काव्यत्व से बहिष्कृत' । किन्तु वस्तुतः, यह शब्द इन्हीं सभी अर्थों में 'अप्रयुक्त' दोष से दूषित है ।

× × ×

इसके अतिरिक्त इस ग्रन्थ में निम्नोक्त स्थल पर यद्यपि 'वक्रता' अथवा 'वक्रोक्ति' शब्द का व्यवहार नहीं किया गया, तथापि जिस धारणा को यहाँ प्रस्तुत किया गया है उसका मूल आधार वचन की वक्रता ही है । 'वीथी' नामक रूपक-भेद के तेरह अंगों में से दसवां अंग है 'मृदवम्'—जिसका लक्षण है जिसमें गुण और दोष का पारस्परिक व्यत्यय हो—'व्यत्ययो गुणदोषयोः मृदवम् ।' (हि० ना० द०, पृष्ठ २६३) । इस प्रकार 'मृदव' नामक वीथ्यङ्ग के दो रूप हैं—गुणों का दोष बन जाना और दोषों का गुण बन जाना । प्रथम रूप के उदाहरण-स्वरूप नाट्यदर्पण में तीन

---

१. विदूषकनटी मार्षैः प्रस्तुताक्षेपि भाषणम् ।
 सूत्रधारस्य वक्रोक्तस्पष्टोक्तैर्यत् तदामुखम् ॥ ना० द० ३.३

२. केचित्तु व्यभिचारिरसस्थायिनां स्वशब्दवाच्यत्वं रसदोषमाहुः, तदयुक्तम् ।
 —हि० ना० द० पृष्ठ ३२८

३. विशेष विवरण के लिए देखिए पृष्ठ १६५-२०३

उदाहरण प्रस्तुत किये गये हैं जिनमें गुण को दोष बताया गया है। इनमें से प्रथम दो उदाहरण लीजिए :

(क) 'द्यूत-सभा में बेचारी द्रौपदी 'गो. गोः' [अर्थात् मैं तुम्हारी 'गो' हूं, मुझे बचाओ, मुझे बचाओ] चिल्लाती रही, किन्तु उस समय क्या धनुर्धारी अर्जुन वहाँ था, जो उसे बचा सकता ?'—'वेणीसंहार' में दुर्योधन जयद्रथ की माता की चेतावनी की अवहेलना करते हुए बोले।

(ख) [मेरे आने पर] तुम्हारे मुखचन्द्र ने मुस्करा कर नेत्रों ने प्रफुल्लित होकर, बाहुओं ने रोमांचित होकर और वाणी ने गद्गद् स्वर को धारण करके मेरा स्वागत किया, किन्तु तुम्हारे कुच-द्वन्द्व में कोई परिवर्तन नहीं आया, वे वैसे के वैसे कठोर अर्थात् जड बने रहे,'—'नलविलास' में नल आलतपतिका दमयन्ती से बोले।[1]

पहले पद्य में अर्जुन का 'धनुर्धरत्व' और दूसरे पद्य में कुचद्वन्द्व की 'कठोरता'—यद्यपि ये दोनों गुण हैं, तथापि उन्हें दोष रूप में स्वीकृत किया गया है। इन उदाहरणों से दो बातें स्पष्ट हैं। एक यह कि यहाँ 'गुण' शब्द काव्य-गुणों का सूचक न होकर लौकिक गुणों का सूचक है, और दूसरी यह कि इस प्रकार की दोषता का आधार वचन की वक्रता है, जिससे गुण दोष न बन कर और भी अधिक निखर आता है तथा काव्य-सौन्दर्य का कारण बनता है।

इसी प्रकार दोष के गुण बन जाने के सम्बन्ध में भी जो उदाहरण प्रस्तुत किये गये हैं, उनमें सभी दोष काव्य-दोष के सूचक न होकर लौकिक दोषों के सूचक हैं तथा वे गुण-रूप में वर्णित किये जाने पर भी ग्राह्य न बन कर त्याज्य बन गये हैं। इस वर्णन-प्रकार का मूल आधार भी वचन की वक्रता ही है। दो उदाहरण लीजिए :

(क) द्रोण, कर्ण, जयद्रथ आदि सात महारथियों द्वारा अभिमन्यु के वध का समाचार सुनकर दुर्योधन कह उठा कि शत्रु पर किया गया अपकार भी निःसन्देह अत्यन्त आनन्ददायक होता है।

(ख) सब की पत्नियां सुन्दर नहीं होतीं, परनारीगामी पुरुष राज्यदण्ड का भागी बनता है, × × × × × ×, यदि दूसरों के हित में संलग्न वेश्याएं न हों तो बेचारे कामार्त जन कहाँ जाएं ?[2]

प्रथम पद्य में 'क्षात्रधर्म का परित्याग' रूप दोष गुण माना गया है, और द्वितीय पद्य में 'वेश्या-गमन' रूप दोष भी गुण रूप में स्वीकार किया गया है। किन्तु इन दोनों पद्यों के वक्ताओं के प्रति न तो कवि की सहानुभूति है, और न ही उसके अनुरूप सहृदय की। अतः वचन-वक्रता के आधार पर ये दोनों लौकिक दोष और भी अधिक त्याज्य रूप में वर्णित हो गये हैं।

१,२. हिन्दी ना० द०, पृष्ठ २६३-२६५

७. औचित्य और अनौचित्य

(क) औचित्य

इस ग्रन्थ में 'औचित्य' का प्रयोग निम्नोक्त चार स्थलों पर हुआ है—

(१) कवि [धीरोदात्त आदि मुख्य पात्र के लिए] अपनी इच्छा से किसी फल-विशेष का उत्कर्ष वर्णित नहीं करने लग जाता, अपितु 'औचित्य' अर्थात् उचितता को देखकर ही वह ऐसा करता है—कविरपि न स्वेच्छया फलस्य उत्कर्षं निबद्धुमर्हति, किन्तु औचित्येन। (पृष्ठ ३०)

(२) जो वृत्त नायक अथवा प्रकृत रस के अयुक्त अथवा विरुद्ध हो उसे या तो छोड़ देना चाहिए, अथवा उसकी अन्यथा कल्पना कर लेनी चाहिए—

> अयुक्तं च विरुद्धं च नायकस्य रसस्य वा।
> वृत्तं यत् तत् परित्याज्यं प्रकल्प्यमथवाऽन्यथा॥ ना० द० १.१८

यहाँ 'अन्यथा' शब्द से स्वयं ग्रन्थकारों का अभिप्राय है औचित्य अथवा अविरोध—अन्यथेति औचित्येनाऽविरोधेन वा। उदाहरणार्थ, नलविलास में नल जैसे धीरललित नायक द्वारा निरपराध पत्नी का त्याग यद्यपि अनुचित है, किन्तु कापालिक के प्रयोग से वह औचित्यपूर्वक निबद्ध हो गया है, अतः यह प्रसंग अनिबन्धनीय नहीं है। (पृष्ठ ३६)

(३) जिस प्रकार नाटक में अभिनेय प्रबन्ध के लिए उपयुक्त फल, अंक, उपाय, × × × रस आदि का प्रयोग किया जाता है, उसी प्रकार 'प्रकरण' में भी इन सब का प्रयोग औचित्य का उल्लंघन किये बिना करना चाहिए—अभिनेय-प्रबन्धोचित फलांकोपाय'''रसादिकं यथा नाटके ललितं, तथाऽत्रापि सर्वौचित्याऽनति-क्रमेणाऽप्योज्यम्। (पृष्ठ २१२)

(घ) निर्वेद आदि तेंतीस सञ्चारिभाव शृंगारादि रसों में यथायोग प्रयुक्त करने चाहिए—त्रयस्त्रिंशद् यथायोगं रसानां व्यभिचारिणः। यहाँ 'यथायोग' का तात्पर्य है—रसों के औचित्य का अनुल्लंघन अर्थात् इसका सम्यक् पालन—'यथायोगम्' इति रसौचित्याऽनतिक्रमेण। (पृष्ठ ३२१)

उक्त उदाहरणों से यह निष्कर्ष निकाला जा सकता है कि 'औचित्य' शब्द का प्रयोग क्षेमेन्द्र-सम्मत औचित्य-सिद्धान्त के पारिभाषिक अर्थ में न किया जाकर 'उचितता' अर्थ में किया गया है, यद्यपि यह अलग बात है कि मूलतः जो कुछ क्षेमेन्द्र को अभीष्ट है लगभग वही कुछ रामचन्द्र-गुणचन्द्र को भी अभीष्ट है। क्षेमेन्द्र के शब्दों में 'उचितस्य च यो भावस्तदौचित्यं प्रचक्षते', किन्तु उन्होंने क्षेमेन्द्र के समान साक्षात् रूप में इसे 'काव्य का जीवित' स्वीकार करते हुए अत्यधिक महत्त्व नहीं दिया।

(ख) अनौचित्य—

इस ग्रन्थ मे कतिपय स्थलो पर 'अनौचित्य' शब्द का भी प्रयोग हुआ है। एक स्थल पर निम्नोक्त पाच रसदोषो मे से यह एक रसदोष है—अनौचित्य, अग की उग्रता, अपुष्टि, अत्युक्ति और अभिभित्। 'अनौचित्य' नामक रसदोष का स्वरूप है—वह कर्म जो सहृदयो के मन मे विचिकित्सा अर्थात् शका अथवा सन्देह का कारण बने—**सहृदयानां विचिकित्सा-हेतु कर्मानौचित्यम्।** (पृष्ठ ३२८)

आगे चलकर इसी प्रसग मे अनौचित्य को 'रसदोष' का पर्याय स्वीकार करते हुए ग्रन्थकारो ने कहा है कि यद्यपि अगो की उग्रता आदि शेष चार रसदोष भी मूलतः *'अनौचित्य'* नामक दोष मे ही अन्तर्भूत हो सकते है, [*अतः इनका पृथक् निरूपण नही करना चाहिए*], तथापि सहृदयो को अनौचित्य अर्थात् रसदोष का सम्यक् ज्ञान हो जाए, इसलिए ऐसा किया गया है—**अगोग्रतादयश्च दोषाः परमार्थतोऽनौचित्यान्तःपातिनोऽपि सहृदयानामनौचित्यव्युत्पादनार्थमुदाहरणत्वेनोपात्ताः।** (पृ० ३२८)

उक्त दोनो स्थलो से भी यही ज्ञात होता है कि 'अनौचित्य' शब्द क्षेमेन्द्र-सम्मत पारिभाषिक *'औचित्य' के अभावात्मक अर्थ मे प्रयुक्त न होकर* रसदोष अर्थ मे ही स्वीकृत हुआ है। इसका कारण सम्भवत आनन्दवर्धन का यह कथन प्रतीत होता है कि अनौचित्य के बिना रसभग का कोई अन्य कारण नही होता—**अनौचित्याद् ऋते नान्यद् रसभङ्गस्य कारणम्।** (ध्वन्या० ३.१४ वृत्ति)। आनन्दवर्धन ने रसभग और अनौचित्य मे परस्पर सम्बन्ध जोडा तो रामचन्द्र-गुणचन्द्र ने इसे 'रसदोष' का ही समानार्थक मान लिया। इसी प्रसग मे यह ज्ञातव्य है कि अनौचित्य शब्द का 'दोष' के अर्थ मे सम्भवत सर्वप्रथम प्रयोग महिमभट्ट ने किया था, तथा इसके अनेक भेदो की भी चर्चा की थी, किन्तु वहां न तो इसे रसदोष के अर्थ में प्रयुक्त किया गया है, और न ही इसके भेद रसदोष ही हैं। वहा तो इसे काव्य-दोष के सामान्य अर्थ का ही *वाचक माना गया है। (देखिए व्यक्तिविवेक, २य विमर्श)*

हाँ, प्रस्तुत ग्रन्थ मे निम्नोक्त स्थल पर 'अनौचित्य' शब्द का प्रयोग क्षेमेन्द्र-सम्मत 'औचित्य' के अभावात्मक रूप मे भी उपलक्षित किया गया है—'प्रहसन नामक रूपक केवल हास्य रस का ही विषय है। यह शृगार रस का विषय नही हो सकता, क्योकि [इस रूपक के मुख्य पात्रो] निन्दनीय पाखण्डी आदि का शृगार रस के रूप मे निरूपण करना अनौचित्य (औचित्य के अभाव) का सूचक है—**निन्द्यपाखण्डि-प्रभृतीनां शृंगाररयाऽनौचित्येनाभावात् केवलहास्यविषयत्वमेव।** (पृष्ठ २३१)। उधर क्षेमेन्द्र भी रस के औचित्य के विषय मे अत्यन्त आग्रहशील हैं—

कुर्वन् सर्वाशये व्याप्तिमौचित्यरुचिरो रसः।
मधुमास इवाशोकं करोत्यंकुरितं मनः॥ *औचित्यविचारचर्चा-१६*

तथा वे रसों के पारस्परिक संयोजन में अनौचित्य को इष्टकर नहीं मानते—

तेषां परस्पराश्लेषात् कुर्यादौचित्यरक्षणम् ।
अनौचित्येन संस्पृष्टः कस्येष्टो रससंकरः ॥ औ० वि० च०१८

८ दोष

पीछे निर्देश कर आये हैं कि इस ग्रन्थ में पांच रस-दोषों का निरूपण किया गया है। इस प्रसंग के अतिरिक्त दोष पर अन्यत्र विशिष्ट प्रकाश नहीं डाला गया। इस प्रसंग में ग्रन्थकारों ने उक्त पांच रसदोषों के भेदोपभेदों का निरूपण किया है,[1] जिन्हें इनसे पूर्व मम्मट ने भी थोड़े-बहुत अन्तर के साथ उल्लिखित किया था। इस प्रसंग की दो उल्लेखनीय विशेषताएं हैं—(१) रसादि की स्वशब्दोक्ति को दोष न मानना, तथा (२) 'विभाव की कष्टकल्पना द्वारा व्यक्ति' को मम्मट के समान रसदोष न मानकर 'सन्दिग्ध' नामक वाक्य-दोष मानना। ये दोनों स्थल विचारणीय हैं—

(१) 'रस की स्वशब्दोक्ति' अर्थात् 'रस आदि (रस, भाव, रसाभास, भावाभास, भावोदय, भावसन्धि, भावशबलता, और भावशान्ति) की स्वशब्दना' नामक रसदोष का सर्वप्रथम उल्लेख उद्भट ने रसवद् अलंकार का लक्षण प्रस्तुत करते हुए इन शब्दों में किया था—

रसवद्दर्शितस्पष्टशृंगारादिरसादयम् ।
स्वशब्दस्थायिसंचारिविभावाभिनयास्पदम् ॥ का० सा० सं० ४.३

इस कथन से उनका अभिप्राय यह है कि रसवद् अलंकार वहाँ होता है जहाँ शृंगार आदि स्पष्ट (प्रधान अथवा अङ्गी) रूप से दिखाये गये हों, तथा साथ ही स्थायिभाव, संचारिभाव, विभाव तथा अभिनय अर्थात्—अनुभाव और सात्त्विक भाव [के विभिन्न प्रकारों] का 'स्वशब्द' से आस्पद (कथन) भी किया गया हो। इसी अलंकार के उदाहरण-स्वरूप उन्होंने निम्नोक्त तीन पद्य प्रस्तुत किये थे—

इति भावयतस्तस्य समस्तान् पार्वतीगुणान् ।
संभृतानल्पसंकल्पः कन्दर्पः प्रबलोऽभवत् ॥
स्विद्यताऽपि स गात्रेण बभार पुलकोत्करम् ।
कदम्बकलिकाकोशकेसरप्रकरोपमम् ॥
क्षणमौत्सुक्यगर्भिण्या चिन्तानिश्चलया क्षणम् ।
क्षणं प्रमोदालसया दृशाऽस्याऽऽस्यमभूष्यत ॥ का० सा० सं० ४.२-४

यह उदाहरण रसवादियों के मत में रस का है, और अलंकारवादियों के मत में रसवत् अलंकार का। उन दोनों का विभिन्न दृष्टिकोण ही इस धारणा का

---

१. हिन्दी नाट्यदर्पण ३.१२५ (पृष्ठ ३२४-३२६)

117531

उत्तरदायी है। किन्तु यहाँ विचारणीय विषय यह दृष्टिकोण नही है, अपितु यह है कि क्या किसी सरस वाक्य मे रस आदि की 'स्वशब्दोक्ति' अनिवार्य है। उद्भट के टीकाकार प्रतिहारेन्दुराज ने उक्त पद्यो मे विभाव आदि पाँचो तत्त्वो की स्वशब्दोक्ति का निर्देश करते हुए लिखा है कि यहाँ कन्दर्प अर्थात् रति नामक स्थायिभाव, औत्सुक्य, चिन्ता, प्रमोद (हर्ष) नामक सचारिभाव, स्वेद और पुलक (रोमाञ्च) नामक सात्त्विकभाव—ये सभी, तथा इनके अतिरिक्त पार्वती और 'तस्य' अर्थात् महादेव ये दोनो विभाव भी स्वशब्द द्वारा कथित हैं। इस प्रकार यहाँ उद्भट-सम्मत रसवत् अलकार का उक्त लक्षण घटित हो जाता है। उद्भट और प्रतिहारेन्दुराज के इन वक्तव्यो से यह निष्कर्ष निकाल सकते हैं कि उद्भट के समय तक रसवत् अलकार के, अथवा यों कहिए, रस के उदाहरणो मे विभावादि की स्वशब्दोक्ति अनिवार्यत स्वीकृत की जाती होगी।

उद्भट के उपरान्त आनन्दवर्धन ने यद्यपि उक्त रसदोष का स्पष्टत. उल्लेख नही किया, पर हाँ, रस वाच्य पर आधृत न होकर व्यंग्य पर आधृत होता है, इस प्रसग मे उन्होने प्रकारान्तर से इस दोष की चर्चा अवश्य की है। इस सम्बन्ध मे उनका कथन है कि किसी भी रचना मे विभाव आदि की परिपक्व सामग्री के अभाव मे रसादि के नामोल्लेखमात्र से रसानुभूति नही हो जाती—न हि केवलं शृंगारादि-शब्दमात्रभाजि विभावादिप्रतिपादनरहिते काव्ये मनागपि रसवत्त्वप्रतीतिरस्ति।

—ध्वन्या० १.४ वृत्ति

आगे चलकर कुन्तक ने उद्भट के उक्त कथन का उल्लेख करते हुए उसका खण्डन किया। उनके मत का सार यह है कि रस आदि की स्वशब्दोक्ति द्वारा ही यदि रसचर्वणा का चमत्कार स्वीकार किया जाए तब तो घृतपूर आदि [मिष्ठान्न] का नाम लेने मात्र से भी उनका आस्वाद प्राप्त हो जाना चाहिए, किन्तु ऐसा होता नही है।[1]

कुन्तक के उपरान्त मम्मट ने 'रस आदि की स्वशब्दवाच्यता' को रस-दोषों मे परिगणित किया। उन्हे इस दोष की प्रेरणा आनन्दवर्धन और सम्भवतः कुन्तक के उक्त प्रसगो से मिली होगी। मम्मट के अनुकरण पर विश्वनाथ ने इस दोष की स्वीकृति की, और निम्नोक्त उदाहरण प्रस्तुत किये—

---

१. यदपि कश्चित् 'स्वशब्दस्थायिसंचारिविभावाभिनयास्पदम्' इत्यनेन पूर्वमेव लक्षणं विशेषितम्। तत्र स्वशब्दास्पदत्वं रसानामपरिगतपूर्वमस्माकम्। × × × यत् स्वशब्दैरभिधीयमानाः श्रुतिपथमवतरन्तः चर्वणचमत्कारं कुर्वन्तीत्यनेन न्यायेन घृतपूरप्रभृतय. पदार्थाः स्वशब्दैरभिधीयमानाः तदास्वादसम्पदं सम्पादयन्ति × × ×।

—हिन्दी वक्रोक्तिजीवित, पृष्ठ ३४३-३४४

(क) तामुद्वीक्ष्य कुरंगाक्षीं रसो नः कोऽप्यजायत ।
(ख) चन्द्रमण्डलमालोक्य शृंगारे मग्नमन्तरम् ।
(ग) अजायत रतिस्तस्याः त्वयि लोचनगोचरे ।
(घ) जाता लज्जावती मुग्धा प्रियस्य परिचुम्बने ।

मम्मट के उपरान्त रामचन्द्र-गुणचन्द्र ने सम्भवतः मम्मट के इस प्रसंग से प्रेरणा प्राप्त कर उनसे असहमति प्रकट करते हुए इस दोष की नितान्त अस्वीकृति की है —केचित्तु व्यभिचारिरसस्थायिनां स्वशब्दवाच्यत्वं रसदोषमाहुः तदयुक्तम् । व्यभिचार्यादीनां स्ववाचकप्रयोगेऽपि विभावपुष्टौ । अर्थात्, कई आचार्य रस, व्यभिचारिभाव और स्थायिभाव की स्वशब्दवाच्यता को एक रसदोष मानते हैं, किन्तु यह कोई दोष नहीं है, क्योंकि इनके प्रयोग में भी विभावादि की पुष्टि ही होती है। उदाहरणार्थ 'दूरादुत्सुकमागते·········' (हि० ना० द०, पृष्ठ ३२६) आदि पद्य में 'उत्सुकता' नामक संचारिभाव के 'स्वशब्दवाच्य' रूप में प्रयुक्त होने पर भी रस की उत्पत्ति होती है।

इस प्रकार इस रसदोष के सम्बन्ध में महत्त्वपूर्ण सामग्री उपस्थित करने के उपरान्त अब हम कतिपय निष्कर्षों पर पहुंच सकते हैं—

(क) जहाँ विभाव आदि सामग्री अपूर्ण एवं अपरिपक्व रूप में प्रस्तुत की जाती है, अथवा इनका अभाव ही रहता है, वहाँ यदि रस, शृंगार, रति, लज्जा आदि शब्दों द्वारा कथन को सरस बनाने की चेष्टा की जाए तो निस्सन्देह ऐसे कथन न तो सरस कहलाएंगे, और न ही, काव्यत्व की किसी कोटि में ही वे अन्तर्भूत होंगे। वे केवल साधारण वार्तामात्र ही होंगे, जैसे कि विश्वनाथ द्वारा प्रस्तुत उक्त चार वाक्य।

(ख) जहाँ विभाव आदि की सम्पूर्ण सामग्री का उपस्थापन सम्यक् रूप से किया जाए, और यदि वहाँ 'रस' आदि में से किसी एक का नाम-निर्देश भी अनायास हो जाए तो इन सरस प्रसंगों में यह दोष प्रथम तो स्वीकृत नहीं करना चाहिए, और यदि स्वीकृत किया जाए तो उसे क्षम्य समझना चाहिए, क्योंकि इससे रस-[illegible] में कोई व्याघात उपस्थित नहीं होता। उदाहरणार्थ, रामचन्द्र-गुणचन्द्र द्वारा प्रस्तुत उक्त पद्य में मानिनी के नेत्रों का प्रपञ्च-चातुर्य-पूर्ण वर्णन काव्याह्लादकता का उत्पादक है, किन्तु केवल 'उत्सुकम्' नामक संचारिभाव के प्रयोग से इसमें रसदोष मानकर काव्यत्व की अस्वीकृति अथवा हीन काव्यत्व की स्वीकृति करना समुचित नहीं है। इसी प्रकार एक ओर उद्भट तथा दूसरी ओर स्वयं मम्मट द्वारा प्रस्तुत दो उदाहरण[1]

१. (क) सव्रीडा दयितानने······
(ख) तामनङ्गजयमंगल······ । का० प्र० ७.३२१, ३२२

भी केवल वार्तामात्र न होकर काव्य-चमत्कार के उत्पादन मे समर्थ हैं, क्योंकि उस सहृदय को भी, जो इस पारिभाषिक काव्यदोष से नितान्त अपरिचित है, इन शब्दों के प्रयोग के कारण उसके आह्लाद मे तनिक व्याघात नही पहुंचता।

(ग) काव्यप्रकाश के टीकाकारो ने इस प्रसग में यह भी सकेत किया है कि रस, स्थायिभाव, सचारिभाव, अनुभाव आदि के प्रचलित नामो के स्थान पर यदि उनका पर्यायवाची शब्द रख दिया जाए तो वहाँ दोष नही रहता। उदाहरणार्थ, 'ठणत्कारैः श्रुतिगतैरुत्साहस्तस्य कोऽप्यभूत्'[1] मे 'उत्साह' नामक स्थायिभाव का प्रयोग दोष का कारण है, किन्तु यदि यह पाठ कर दिया जाए तो यह दोष न रहेगा—प्रमोदस्तस्य कोऽप्यभूत। किन्तु यह धारणा भी समुचित नही है। वस्तुतः, इस दोष का एक मात्र आधार है—काव्य-चमत्कार की अपुष्टि। मम्मट-प्रस्तुत यह पद्य इसी आधार पर भले ही सदोष हो, पर इस कारण इसे कदापि सदोष नही मानना चाहिए कि इसमे 'उत्साह' शब्द का प्रयोग हुआ है, और न ही यह मानना चाहिए कि 'प्रमोद' शब्द रख देने से दोष दूर हो जाएगा।

(घ) वस्तुत, इस दोष की स्वीकृति का मूल उद्देश्य व्यग्य की महत्ता स्पष्ट करना है। अत. यदि रस, स्थायिभाव आदि का प्रयोग न किया जाए तो यह आदर्श स्थिति है, किन्तु विभाव आदि की परिपक्वता मे इनका प्रयोग सदोष नही है। हाँ, विभावादि की अपरिपक्वता में इनका प्रयोग तो सदोष है ही।

अतः मम्मट एवं रामचन्द्र-गुणचन्द्र की उक्त धारणाएं आंशिक रूप से ही ग्राह्य हैं—पूर्ण रूप से नही।

× × ×

(२) विभावादि की कष्ट-कल्पना द्वारा व्यक्ति (अभिव्यक्ति)—इस दोष का मम्मट तथा रामचन्द्र-गुणचन्द्र ने निम्नाकित उदाहरण प्रस्तुत किया है—

परिहरति रतिं मतिं लुनीते स्खलतितरां परिवर्तते च भूयः।
इति बत विषमा दशास्य देहं परिभवति प्रसभं किमत्र कुर्मः॥[2]

अर्थात्, यह नायिका किसी प्रकार की रुचि नही रखती, इसकी बुद्धि क्षीण हो गयी है, यह निरन्तर गिरती पडती है तथा बार-बार करवटें बदलती है। इस प्रकार इसके देह की अवस्था अत्यन्त विषम है, इसका क्या उपाय किया जाए?—इस कथन मे यह सन्देह बना रहता है कि इस नायिका की यह दशा वियोग (रति) के कारण है अथवा शोक के कारण। अत. यह निश्चय-पूर्वक नही कह सकते कि यह उदाहरण विप्रलम्भ शृगार रस का है अथवा करुण रस का। मम्मट ने इसे

१. सप्रहारे प्रहरणैः प्रहाराणाम्परस्परम्।
ठणत्कारैः श्रुतिगतैरुत्साहस्तस्य कोऽप्यभूत्॥ का० प्र० ७.३२४

२. का० प्र० ७.३२६, ना० द० ३.२३ वृत्ति

'विभावस्य कष्टकल्पनया व्यक्ति' नामक रसदोष माना है, और रामचन्द्र-गुणचन्द्र ने 'सन्दिग्ध' नामक वाक्यदोष। नाट्यदर्पण में रसदोषों के अतिरिक्त अन्य दोषों का निरूपण नहीं किया गया। काव्यप्रकाश में वाक्यगत सन्दिग्ध दोष का उदाहरण है—

> करिमन् कर्मणि सामर्थ्यमस्य नोत्पतेतराम्।
> अयं साधुचरस्तस्माद् अञ्जलिर्बध्यतामिह॥ का० प्र० ७.२०५

अर्थात्, इस पुरुष की शक्ति किस कार्य में प्रकट नहीं होती? यह व्यक्ति तो 'साधुचर' है। अतः इसे नमस्कार कीजिए। 'साधुचर' शब्द से यह स्पष्टतः प्रकट नहीं होता कि वह 'साधुओं में घूमता-फिरता है' अथवा 'पहले साधु रहा।' अतः यहां मम्मट के मत में वाक्यगत सन्देह है। निःसन्देह उक्त 'परिहरति रतिं···' पद्य में इस प्रकार का सन्देह नहीं है। यहां रस-विषयक सन्देह है, वाक्यविषयक नहीं।

इसी प्रसंग में अर्थगत सन्देह का उदाहरण भी द्रष्टव्य है—

> मात्सर्यमुत्सार्य विचार्य कार्यमार्याः समर्यादमुदाहरन्तु।
> सेव्याः नितम्बाः किमु भूधराणामुत स्मरस्मेरविलासिनीनाम्॥ का० प्र० ७.२६२

अर्थात्, क्या पर्वतों के नितम्ब (प्रान्तर-भाग) सेवनीय हैं, अथवा विलासिनियों के नितम्ब—इस कथन में प्रकरणाभाव के कारण यह सन्देह बना रहता है कि यह उदाहरण शान्त रस का है अथवा शृंगार रस का। 'परिहरति रतिं' पद्य तथा इस पद्य में समस्या एक ही है कि दो रसों में से इसे किस रस का उदाहरण माना जाए। किन्तु साथ ही, दोनों पद्यों में अन्तर है, वह यह कि एक में श्लेष के कारण सन्देह है और दूसरे में इसके बिना। वस्तुतः, अन्वयव्यतिरेक-सम्बन्ध के आधार पर 'सेव्याः नितम्बाः...' कथन में अर्थ-दोषता की अपेक्षा पद-दोषता अधिक है, जैसा कि स्वयं मम्मट ने पदगत सन्देह को ऐसा ही उदाहरण प्रस्तुत किया है—"आशीःपरम्परां वन्द्यां कर्णे कृत्वा कृपां कुरु।" इसमें 'वन्द्याम्' का अर्थ सन्दिग्ध है। क्या 'वन्द्याम्' का अर्थ 'वन्दनीया (नमस्करणीया) को' है, अथवा वन्द्याम् (बन्द्याम्) का अर्थ 'वन्दीकृत महिला में' है? किन्तु 'सेव्याः नितम्बाः...' में रस-विषयक सन्देह है, जो कि 'श्लेष' पर आधारित है, और 'आशीःपरम्परा वन्द्याम्...' में श्लेष तो है, किन्तु यहां रस-विषयक सन्देह नहीं है। अतः 'प्राधान्येन व्यपदेशा भवन्ति' के अनुसार प्रथम पद्य में रसदोष है, और द्वितीय पद्य में पददोष। 'श्लेष' के सम्बन्ध में आचार्यों की स्पष्ट धारणा है कि इसकी स्थिति तब माननी चाहिए जब यह स्वतन्त्र रूप में प्रयुक्त हो।[1] इसकी परतन्त्र अथवा गौण स्थिति में प्रधानता उस काव्य-तत्त्व की माननी चाहिए जिसका यह पोषक हो।

---

१. श्लेषस्य चोपमाद्यलंकारविविक्तोऽस्ति विषयः इति।
—का० प्र० ६ म उ० (श्लेषप्रकरण)

उक्त विवेचन के आधार पर हम कह सकते हैं कि 'सेव्या. नितम्बाः···' और 'परिहरति रतिं···' इन दोनो पद्यों मे सन्दिग्ध नामक रसदोष ही है, किन्तु एक अन्तर के साथ—प्रथम मे सन्दिग्ध दोष श्लिष्ट है और दूसरे मे अश्लिष्ट, पर दोनों हैं रसगत ही—क्योंकि दोष की दृष्टि से रस-निर्णय मे सन्दिग्धता का बना रहना ही दोनो का प्रतिपाद्य है। 'परिहरति रतिं ···' मे 'विभाव की कष्टकल्पना द्वारा अभिव्यक्ति' नामक दोष की स्वीकृति इसलिए नहीं माननी चाहिए कि विभावादि तो रस-सिद्धि के लिए साधन हैं। इस पद्य मे रस का निर्णय सन्दिग्ध रह जाने के कारण सन्दिग्ध दोष मानना चाहिए और वह भी रसगत। निष्कर्षत, रामचन्द्र-गुणचन्द्र की यह धारणा कि 'यहां वाक्यगत सन्दिग्ध दोष है' अशत. मान्य है, क्योंकि यहां सन्दिग्ध दोष रसगत ही है, वाक्यगत नहीं।

८ रस

नाट्यदर्पण मे अन्य काव्योपकरणों के समान रस पर भी केवल इस दृष्टि से प्रकाश डाला गया है कि इसका रूपक के साथ क्या सम्बन्ध है, कौन-कौन से रस इसके विभिन्न भेदों अथवा अंगों के साथ सम्बद्ध हैं, आदि। उदाहरणार्थ—'भाण' रूपक मे शृंगार और वीर रस की प्रधानता होती है, 'डिम' मे रौद्र रस की तथा 'उत्सृष्टाङ्क' मे करुण रस की, और 'वीथी' का सम्बन्ध सब रसो के साथ होता है, इत्यादि।[1] 'भारती' नामक नाट्यवृत्ति सब रसों के साथ सम्बद्ध होती है, 'सात्वती' रौद्र, वीर, शान्त और अद्‌भुत रसो के साथ, 'कैशिकी' हास्य और शृंगार रस के साथ, तथा 'आरभटी' रौद्र आदि दीप्त रसो के साथ।[2] इसी प्रकार रूपको में कौन-कौन से रस परस्पर मित्र होते हैं तथा कौन से विरोधी, और विरोधी रसों का परिहार किस प्रकार किया जाए, आदि[3]—इन बहुचर्चित विषयों पर भी इस ग्रन्थ मे प्रकाश डाला गया है।

रूपक और रस के पारस्परिक सम्बन्ध-निर्देशक उपर्युक्त स्थलो के अतिरिक्त इस ग्रन्थ में रस-विषयक कतिपय अन्य महत्वपूर्ण समस्याओं एवं प्रसगों की भी चर्चा की गयी है, जैसे—

(१) रस की महत्ता।
(२) प्रचलित से इतर संचारिभावों तथा रसों का नाम-निर्देश।
(३) नौ रसों का क्रम-निर्देश।
(४) शृंगार रस के दोनो भेदों का निर्णायक आधार।
(५) अद्‌भुत रस की महत्ता एवं स्थिति।

---

१. हिन्दी नाट्यदर्पण २.१६,२१,२८
२. वही ३.२,४,६ ३. वही, पृष्ठ ३२०

(६) शान्त रस का स्थायिभाव।
(७) अभिनय और नट तथा प्रेक्षक।
(८) रस की सुखदुःखात्मकता।

अब इन प्रसगो का दिग्दर्शन एवं यथाभीष्ट विवेचन प्रस्तुत है।

(१) रस की महत्ता

प्रस्तुत ग्रन्थ मे अनेक स्थलो पर यह निर्दिष्ट किया गया है कि रस नाटक मे अपनी विशिष्ट महत्ता रखता है। इनमे से कुछ स्थलो पर रस को काव्य के अन्य उपकरणो—विशेषत अलकार—की अपेक्षा सर्वोत्तम उपकरण के रूप मे स्वीकार किया गया है, जिनका उल्लेख पीछे यथास्थान किया जा चुका है।[1] इस सम्बन्ध मे अन्य उल्लेखनीय स्थल इस प्रकार हैं—

(१) नाट्य का पन्थ रस की कल्लोलों से परिपूर्ण होता है।[2]
(२) नाट्य का एक मात्र आधार रस ही है।[3]
(३) नाट्य के कथाभाग मे विच्छेद न आने देना रस की परिपुष्टि के लिए किया जाता है।[4]
(४) 'प्रकरण' नामक रूपक मे पुरानी बातो मे भी कवि को रस की परिपुष्टि के लिए नयी बात और बढा देनी चाहिए।[5]
(५) कवि (नाटककार, प्रबन्धकार) की समग्र चेतना एकमात्र रस-विधान में ही संलग्न रहती है, वह रस-निवेश मे सिद्धहस्त होता है।[6]

उक्त स्थलो से स्पष्ट है कि ग्रन्थकारो को यह मानना अभीष्ट है कि रस नाटक का अनिवार्य तत्त्व है तथा नाटककार का एक-मात्र लक्ष्य इसी की ही पुष्टि करना है। वस्तुतः, नाटक और रस के पारस्परिक सम्बन्ध की चर्चा भरत मुनि के समय से ही की जाती रही है। उन्होने नाट्य (नाटक) के लक्षण मे अन्य तत्त्वो के

---

१. देखिए पृष्ठ १८५
२. पन्थाः × × × नाट्यस्य रसकल्लोलसंकुलः। हि० ना० द०, पृष्ठ ३
३. शब्दार्थमात्रशरणाः शुष्ककवयो यमकश्लेषादीनामेवनिबन्धमर्हन्ति, न तु रसैकशरणस्य नाट्यस्य। वही, पृष्ठ ३२०
४. इतिवृत्तस्याऽविच्छेदः रसपुष्ट्यर्थः। वही, पृष्ठ १९६
५. यदपि अत्र प्राक्तनं निबद्ध्यते तत्रापि कविना रसपुष्टिहेतुरधिकावापो विधेयः। —वही, पृष्ठ २११
६. रसविधानैकचेतसः कवेः × × × रसनिवेशैकव्यवसायिनः प्रबन्धकवयः × × ×। —वही, पृष्ठ १९६-१९७

साथ रसतत्त्व का भी समावेश किया है,[1] नाट्य के प्रधान अंगों मे पाठ्य, गीत, अभिनय के अतिरिक्त रस की भी गणना की है,[2] तथा नाट्य मे रस की अनिवार्य स्थिति को प्रकारान्तर से स्वीकार किया है।[3] इस सम्बन्ध मे यह भी उल्लेखनीय है कि नाट्यदर्पण मे कथा और मुक्तक-काव्य की सिद्धि अलकार-चमत्कार पर आधारित की गयी है और नाटक तथा प्रबन्ध-काव्य की रस पर। किन्तु प्रथम धारणा अशत. सत्य है,[4] और दूसरी धारणा के सम्बन्ध मे इतना और ज्ञातव्य है कि प्रबन्ध-काव्यो की अपेक्षा नाटक मे रस की पुष्टि अधिक सकुलता के साथ की जा सकती है, क्योकि इस मे विभावादि सामग्री अपने यथावत् रूप मे सन्निविष्ट रहती है।

इसी प्रसग मे यह भी उल्लेखनीय है कि रामचन्द्र-गुणचन्द्र ने शब्दार्थ को काव्य का शरीर मानते हुए कहा है कि इस शरीर मे प्राण-सचार करने वाला रस ही है। यही कारण है कि कविजनो की प्रीति रस के प्रति ही होती है—

> अर्थशब्दवपुः काव्यं रसैः प्राणैर्विसर्पति।
> अञ्जसा तेन सौहार्दं रसेषु कविमानिनाम् ॥ ना० द० ३.२१

(२) प्रचलित से इतर रसों तथा संचारिभावों का नामनिर्देश—

इस ग्रन्थ मे प्रचलित से इतर सचारिभावो तथा रसो का नाम-निर्देश किया गया है, किन्तु इनका स्वरूप प्रस्तुत नही किया गया। इनकी सूची इस प्रकार है—

संचारिभाव—क्षुत्, तृष्णा, मैत्री, मुदिता, श्रद्धा, दया, उपेक्षा, रति, सन्तोष, क्षमा, मार्दव, आर्जव, दाक्षिण्य, आदि।[5]

रस—लौल्य, स्नेह, व्यसन, दुःख, सुख आदि। इन पाचो के स्थायिभाव क्रमश. ये है—गर्द्ध (तृष्णा), आर्द्रता, आसक्ति, अरति और सन्तोष। किन्तु कई आचार्य इनका अन्तर्भाव प्रचलित रसो मे मानते हैं।[6]

(३) नव रसों का क्रम

इस ग्रन्थ मे शृंगार आदि नौ रसो की पूर्वापर-क्रम की स्थिति के सम्बन्ध मे निम्नोक्त संगतियां प्रस्तुत की गयी हैं जो कि प्रायः मनस्तोषक हैं।—(१) सर्वप्रथम शृगार रस की गणना करनी चाहिए, क्योकि 'काम' सब प्राणियो मे सुलभ तत्त्व है, तथा इन्हे अत्यन्त परिचित रहता है, अतः सब को मनोहर प्रतीत होता है। (२) शृंगार के उपरान्त हास्य रस की गणना की जाती है, क्योकि यह रस शृगार का

---

१. बहुकृतरसमार्गम् × × × ना० शा० १६.११८
२. जग्राह पाठ्यमृग्वेदात् सामभ्यो गीतमेव च।
यजुर्वेदादभिनयान् रसानाथर्वणादपि ॥ वही १.१७
३. ये रसा इति पठ्यन्ते नाट्ये नाट्यविचक्षणैः। वही ६.२
४. देखिए पृष्ठ १४८ ५,६. हिन्दी नाट्यदर्पण पृष्ठ ३३१,३०६

अनुगामी (उसमें अद्भुत एवं उसका पोषक) होता है। (३) इसके पश्चात् करुण रस—क्योंकि यह हास्य रस का विरोधी अर्थात् उसके विपरीत होता है। (४) इसके पश्चात् रौद्र रस—क्योंकि यह रस अर्थप्रधान है और अर्थ की उत्पत्ति काम से होती है। (५) इस के पश्चात् वीर रस—क्योंकि यह रस धर्मप्रधान है, और अर्थ की उत्पत्ति काम और अर्थ दोनों से होती है। (६) इन के पश्चात् भयानक रस—क्योंकि वीर रस का मुख्य उद्देश्य है भीत जनों को अभय-प्रदान। (७) इसके पश्चात् बीभत्स रस—क्योंकि सात्त्विक जन भय के प्रति जुगुप्सा प्रकट करते हैं। (८) इसके पश्चात् अद्भुत रस—क्योंकि बीभत्स को विस्मय द्वारा दूर किया जा सकता है। (९) सब में अन्त में शान्त रस की गणना की जाती है, क्योंकि शम सब धर्मों का मूल कारण है।[1]

निष्कर्षतः, उक्त प्रसंग में 'काम' को प्रधान माना गया है, क्योंकि इसी पर ही धर्म और अर्थ दोनों आधारित हैं, तथा इन तीनों के बल पर शृंगार आदि नौ रसों की पूर्वापर-स्थिति निर्धारित की गयी है, तथा साथ ही प्रकारान्तर से शृंगार रस की प्रधानता भी सिद्ध की गयी है, क्योंकि अकेला शृंगार रस ही ऐसा है जो 'काम' से सम्बद्ध है। शृंगार के अतिरिक्त अन्य रस या तो अर्थ और धर्म में से किसी एक अथवा दोनों पर अवलम्बित है अथवा एक दूसरे रस पर। इस प्रकार से रामचन्द्र-गुणचन्द्र ने अग्निपुराणकार एवं भोजराज की एतद्विषयक प्रख्यात धारणा का अन्य रूप से समर्थन किया है कि शृंगार रस सर्वोपरि रस है।

(४) शृंगार रस के दोनों भेदों का निर्णायक आधार

शृंगार रस के दो प्रचलित भेदों के सम्बन्ध में ग्रन्थकारों का कहना है कि ये भेद गाय के चितकबरे और काले वर्ण के समान नितान्त विभिन्न न होकर परस्पर सङ्कुलित (मिश्रित) रहते हैं, क्योंकि एक ओर सम्भोग में विप्रलम्भ की सम्भावना बनी रहती है और दूसरी ओर विप्रलम्भ में मनोगत सम्भोग का भाव अनुस्यूत रहता है। किन्तु इस स्थिति में निर्णय उत्कटता के आधार पर किया जाता है।[2] हाँ, यदि किसी पद्य में दोनों अवस्थाओं को प्रस्तुत किया जाता है तो वह मीलित (एक-समान आह्लादक) चित्रण का स्थल अतिशय चमत्कार का द्योतक होता है—

अवस्थाद्वयमीलननिबन्धने च सातिशयश्चमत्कारः। (हि० ना० द०,पृष्ठ ३०६)

इनमें से प्रथम धारणा का आधार का यह प्रसिद्ध सिद्धान्त है कि 'प्राधान्येन व्यपदेशाः भवन्ति।' निस्सन्देह शृंगार के दोनों भेदों में इतर भेद का अंश सङ्कलित रहता है, और उसका व्यपदेशक आधार है किसी एक तत्त्व का प्राधान्य। किन्तु दूसरी धारणा विचारणीय है। प्रथम तो ऐसे पद्यों का मिलना

१,२. हि० ना० द०, पृष्ठ ३०५,३०६

असम्भव है, जिन में सम्भोग अथवा विप्रलम्भ में से किसी एक-रूप की प्रधानता लक्षित न होती हो, और दूसरे, पण्डितराज जगन्नाथ के शब्दों में संयोग और विप्रलम्भ का एकमात्र आधार अन्तःकरण की वृत्ति-विशेष है, बाह्य वातावरण नहीं है।[१] रामचन्द्र-गुणचन्द्र ने इस प्रसंग में जो उदाहरण प्रस्तुत किया है उसी से मिलता-जुलता उदाहरण जगन्नाथ ने भी इसी प्रसंग में दिया है—

—एकस्मिन् शयने पराङ्मुखतया वीतोत्तरं ताम्यतो...... .. ।

—हि० ना० द०, पृष्ठ ३०७

—शयिता सविधेऽप्यनीश्वरा सफलीकर्तुमहो मनोरथान् ।
दयिता दयिताननाम्बुजं दरमीलन्नयना निरीक्षते ॥

—रसगंगाधर, पृष्ठ ४१

इन दोनों उदाहरणों में नायक-नायिका की अन्तःकरण की वृत्ति के आधार पर अन्ततः सम्भोग शृंगार की ही स्वीकृति होगी, वियोग-भाव तो यहाँ उद्दीपक मात्र है।

(५) अद्भुत रस की महत्ता एवं स्थिति

नाट्यदर्पण में अद्भुत रस की चर्चा दो स्थलों पर की गयी है—'परिगूहन' नामक निर्वहण सन्ध्यंग के प्रसंग में और 'नाटक' नामक रूपक के प्रसंग में।

पहले प्रसंग में अद्भुत रस का सामान्य सा स्वरूप निर्देश है—अद्भुत रस की प्राप्ति उपगूहन (परिगूहन) कहाती है। इसका स्थायिभाव 'विस्मय' है। उदाहरणार्थ, 'रामाभ्युदय' नाटक में सीता-ज्वलन प्रकरण के अन्तर्गत सीता के लिए अग्निदेव का प्रवेश, आदि।

× × ×

दूसरे प्रसंग में रामचन्द्र-गुणचन्द्र ने अद्भुत रस की महत्ता एवं स्थिति पर प्रकाश डालते हुए कहा है कि 'नाटक रूपक में एक रस अंगीरूप में होना चाहिए तथा अन्य रस अंगरूप में। इसके अन्त में अद्भुत रस होना चाहिए—'एकाङ्गिरसम् अन्याङ्गम् अद्भुतान्तम्'। 'अद्भुतान्तम्' पद का विग्रह करते हुए आचार्य कहते हैं कि 'अद्भुत एव रसोऽन्ते निर्वहणे यत्र,' अर्थात् नाटक के अन्त में—निर्वहण सन्धि में—अद्भुत रस होना चाहिए। इसकी व्याख्या में कहा गया है कि 'नाटक में एक ओर शृंगार वीर, रौद्र आदि रसों द्वारा स्त्रीरत्न, पृथ्वीलाभ, शत्रुक्षय-रूप सम्पत्तियों की प्राप्ति होती है, और दूसरी ओर करुण, भयानक तथा बीभत्स रसों द्वारा इन सबकी अप्राप्ति। किन्तु नाटक के अन्त में अद्भुत रस द्वारा लोकोत्तर एवं असम्भाव्य फल-रूप प्राप्ति दिखानी चाहिए, क्योंकि प्रत्येक क्रिया का कोई न कोई फल तो अवश्य ही होता है, अतः यदि नाटक में असाधारण वस्तु-रूप-फल की कल्पना न की गयी तो फिर इसके निर्माण में परिश्रम करने से क्या लाभ ?'

---

१. इमौ संयोगवियोगावस्थावन्तःकरणवृत्तिविशेषौ।—रसगंगाधर, पृष्ठ ४१

इस कथन का अभिप्राय यह है कि अंगी रस चाहे कोई भी हो, किन्तु उस रस से सम्बद्ध फल (अन्तिम परिपाक) 'अद्भुत' से मिश्रित होना चाहिए। अद्भुत से यहाँ तात्पर्य है ऐसा फल जो एक ओर तो असम्भाव्य हो, अर्थात् जो सामान्य परिस्थितियों में सुलभ न हो, अथवा जिसके लिए नायक को लोकाचार से किंचिद् विलक्षण आचरण करना पड़े अथवा घोर विपत्तियों का सामना करना पड़े, और वह असाधारण (लोकोत्तर) हो, अर्थात् जिसकी प्राप्ति सामान्य जन के लिए प्राय: असम्भव-सी होती हुई भी सब की लालसा एवं कामना का विषय बनी रहे। इस सम्बन्ध में कुछ उदाहरण लीजिए—

सामान्य लोकव्यवहार में केवल विवाह-सम्बन्ध द्वारा नायिका की प्राप्ति में अद्भुत-तत्त्व का समावेश नहीं होता है, अतः इस प्रकार की साधारण-सी घटनाएं नाटक का विषय नहीं होतीं। हाँ, दुष्यन्त-शकुन्तला का प्रेम-प्रसंग नाटक का विषय बन सकता है, क्योंकि इस प्रकार की घटनाओं में एक ओर लोकाचार से विलक्षण आचरण रहता है, और दूसरी ओर अनिन्द्य सुन्दरी शकुन्तला-रूप फल-प्राप्ति सहृदय की लालसा एवं कामना का विषय बन जाती है। यही स्थिति पृथ्वीराज-संयोगिता-स्वयंवर की भी है, जो कि असामान्य वरमाला-प्रसंग के कारण नाटक का विषय बन सकता है।

इसी प्रकार वीर रस के नाटकों के लिए भी ऐसी ही घटनाएं अपेक्षित हैं। उदाहरणार्थ, नेपोलियन का यह कथन कि 'मैं गया, मैंने देखा और 'मैंने जीत लिया' उसी स्थिति में नाटक का विषय बन सकता है जबकि या तो शत्रुपक्ष का कायरता-पूर्ण पलायन भी साथ ही दिखाया जाए, या फिर यह दिखाया जाए कि जनशून्य शत्रुनगरी में शत्रुओं के रक्त की प्यासी तलवार ज्यों की त्यों खिंची रह गयी, और 'बेचारा' आक्रान्ता हाथ मलता रह गया। किन्तु इस सबसे बढ़कर आदर्श स्थिति 'राम-रावण-युद्ध' जैसे प्रसंगों की समझनी चाहिए, जिसमें राम ने रावण पर आक्रमण करके उसकी सेना तथा सहयोगी वीर-योद्धा सम्बन्धियों का मूलोच्छेदन करके लंका-विजय के उपरान्त सीता का उद्धार किया। अस्तु !

उपर्युक्त घटनाओं में शृंगार अथवा वीर रस अंगीभूत रूप में निस्सन्देह स्वीकार किये जाएंगे। यदि इनमें अन्य रसों की अवस्थिति रहेगी तो वे अंगी के पोषक होने के कारण अंगरूप में ही स्वीकृत रहेंगे। किन्तु अंगी (पोष्य) रस के चमत्कार का मूल कारण यह अंग (पोषक) रस नहीं होते, अपितु 'अद्भुत रस' का समावेश ही इस चमत्कार का मूल कारण होता है। रामचन्द्र-गुणचन्द्र के उक्त कथन की व्याख्या इसी अभिप्राय को लेकर की जा सकती है।

× × ×

सम्भवतः, इसी प्रकार की धारणाओं से अनुप्रेरित होकर धर्मदत्त नामक आचार्य ने निम्नलिखित कथन में अद्भुत रस को सर्वत्र (सब सरस रचनाओं में) स्वीकृति कर ली थी—

रसे सारः चमत्कारः सर्वत्राप्यनुभूयते ।
तच्चमत्कारसारत्वे सर्वत्राप्यद्भुतो रसः ॥ सा०द० ३.३ (वृत्ति)

और इसी आधार पर नारायण नामक आचार्य (आचार्य विश्वनाथ के प्रपितामह) ने केवल अद्भुत रस को ही एकमात्र रस घोषित किया था—

तस्माद् अद्भुतमेवाह कृती नारायणो रसम् । सा०द० ३.३ (वृत्ति)

निस्सन्देह रस में 'चमत्कार' ही सारभूत तत्त्व है। इसी चमत्कार को विश्वनाथ ने 'विस्मय' का अपर पर्याय कहा है, जिससे सहृदय के चित्त का विस्तार होता है— चमत्कारः चित्तविस्ताररूपो विस्मयापरपर्यायः। (सा० द० ३.३ वृत्ति), और इस चमत्कार अथवा विस्मय को खींचतान कर 'अद्भुत' का भी पर्याय मान लेने में कोई आपत्ति नहीं होनी चाहिए, और यही अद्भुत सभी रसों में एक अनिवार्य तत्त्व भी है, क्योंकि इसके बिना रस की सिद्धि ही सम्भव नहीं है। किन्तु यह सब स्वीकार करते हुए भी हमारे विचार में—

(१) रामचन्द्र-गुणचन्द्र के समान इस 'अद्भुत' तत्त्व को 'अद्भुत' रस' नाम से अभिहित नहीं करना चाहिए, और

(२) न ही, आचार्य नारायण के समान इस 'अद्भुत' को ही एकमात्र रस स्वीकार करना चाहिए—

—क्योंकि यह 'चमत्कार' अथवा 'अद्भुत' नामक तत्त्व किसी भी रचना के मूल रस का केवल साधन-मात्र ही है, साध्य तो शृंगार आदि अन्य रस ही होते हैं। केवल इतना ही क्यों, यहा तक कि जिस रचना में अद्भुत रस साध्य रूप में रहेगा, वहाँ भी साधन रूप में 'अद्भुत तत्त्व' की स्थिति अनिवार्यतः रहेगी। उदाहरणार्थ, 'रामाभ्युदय' नाटक में सीता-ज्वलन-प्रकरण के अन्तर्गत सीता को गोद में लिये अग्निदेव के प्रवेश करने का दृश्य देखिए—

धूमव्रात वितानीकृतमुपरि शिखादोर्भिरभ्रंलिहाग्रै-
र्बिभ्रद् भ्राजिष्णु रत्नं ततमुरसि तथा चर्म चामूरवं च ।
भूयस्तेजःप्रतानैर्विरहमलिनतां क्षालयन्नङ्कभाजो,
देव्याः सप्तार्चिराविर्भवति विफलयन् वांछितान्यन्तकस्य ॥[1]

—हिन्दी ना० द०, पृष्ठ १८८

---

१. आकाश को चुम्बित करनेवाली ज्वाला-रूप बाहुओं से धूम्र-समूह को वितान बना कर, छाती पर चमकते हुए रत्न को तथा मृगचर्म को धारण किये हुए वह्निदेव अपने तेज.समूह के द्वारा गोद में बैठी हुई सीतादेवी की विरह-जन्य मलिनता को दूर करते हुए वे मानो काल के मनोरथ को विफल करके प्रकट हो रहे हैं।

यह श्लोक अद्भुत रस का उदाहरण प्रस्तुत करता है। इसका स्थायिभाव 'विस्मय' है। गोद में लिये अग्निदेव का बाह्य आकार अनुभाव है। आवेग, दैन्य, त्रास, औत्सुक्य, विषाद, चपलता—ये संचारिभाव हैं। विस्मय' नामक स्थायिभाव इन विभाव आदि के संयोग से अद्भुत रस के रूप में अभिव्यक्त हो रहा है, और अद्भुत रस की अभिव्यक्ति की यही स्थिति, ठीक, अन्य रसों की ही अभिव्यक्ति के समान है। शेष रहा 'अद्भुत' तत्त्व के समावेश का प्रश्न, तो यह तत्त्व जिस प्रकार शृंगार, वीर, करुण, आदि रसों में अनुस्यूत रहता है उसी प्रकार अद्भुत रस में भी रहता है। अस्तु !

हमारे विचार में समुचित यह रहेगा कि इस 'अद्भुत तत्त्व' को न तो रामचन्द्र-गुणचन्द्र के समान 'अद्भुत' नाम देना चाहिए, और न विश्वनाथ के समान इसे विस्मय' का अपर पर्याय मानना चाहिए, क्योंकि इनसे क्रमशः 'अद्भुत' नामक रस और 'विस्मय नामक स्थायिभाव का भ्रम होता है। स्पष्टता के लिए इसे धर्मदत्त के समान 'चमत्कार' नाम ही देना चाहिए।

निष्कर्ष —

—अद्भुत रस अन्य रसों के समान एक रस है।

—शृंगार आदि सभी रसों में, जिनमें अद्भुत रस भी एक रस है, 'अद्भुत रस' अनुस्यूत नहीं रहता, अपितु 'अद्भुत' नामक तत्त्व अनुस्यूत रहता है।

—विषय के स्पष्ट अवबोध के लिए इस तत्त्व को 'चमत्कार' नाम से अभिहित करना चाहिए, न कि 'अद्भुत' नाम से, और न ही 'विस्मय' नाम से।

(६) शान्त रस का स्थायिभाव

शान्त रस का स्थायिभाव 'निर्वेद' माना जाए अथवा 'शम'—यह एक विचारणीय प्रश्न है। मम्मट ने 'निर्वेद' नामक भाव की गणना स्थायिभावों में भी की है और संचारिभावों में भी। उन्हें इसी भाव को शान्त रस का स्थायिभाव भी मानना अभीष्ट है और संचारिभाव भी।[1] उन्होंने सभी स्थायिभावों और संचारिभावों की सूची प्रस्तुत करके इनका लक्षण प्रस्तुत नहीं किया, अतः उनके अनुसार 'निर्वेद' नामक स्थायिभाव और संचारिभाव के स्वरूप में कोई स्पष्ट विभाजन-रेखा नहीं खींची जा सकती। इस रेखा को आगे चलकर रामचन्द्र-गुणचन्द्र ने स्पष्ट किया, किन्तु प्रकारान्तर से। प्रकारान्तर से इसलिए कि उन्होंने शान्त रस का स्थायिभाव निर्वेद न मानकर 'शम' माना और 'निर्वेद' को संचारिभाव माना। इनके अनुसार—

---

१. (क) मम्मट ने 'निर्वेद को संचारिभावों में प्रथम स्थान दिया है इसीलिए है कि वह शान्त रस का स्थायिभाव है : 'निर्वेदस्य प्रथमम् उपादानं व्यभिचारित्वेऽपि स्थायिताविधानार्थम्।' —का० प्र०, ४.३४

(ख) निर्वेदस्थायिभावोऽस्ति शान्तोऽपि नवमो रसः। —वही, ४.३५

—शम कहते हैं निःस्पृहता अर्थात् इच्छा के अभाव को—'निःस्पृहत्वं शमः'।

—काम, क्रोध, लोभ, मान, माया आदि से रहित विषय-संलग्नता से विमुक्त अक्लिष्ट चित्तवृत्ति-रूप 'शम' नामक स्थायिभाव शान्त रस [के रूप में अभिव्यक्त] होता है।[1]

—जन्म-मरण से युक्त संसार से, भय तथा वैराग्य से, जीव, अर्थात् ब्रह्म, (परमात्मा और प्रकृति), पाप-पुण्य आदि तत्त्वों तथा मोक्ष के उपायों के प्रतिपादक शास्त्रों के विमर्श से शान्त रस की उत्पत्ति होती है।[2]

—दरिद्रता, व्याधि, अपमान, ईर्ष्या, श्रम, आक्रोश (फटकार), ताड़न, इष्ट-वियोग, परविभूति-दर्शन आदि (सांसारिक) क्लेशों के कारण विरसता (वैराग्य-भाव) तथा तत्त्वज्ञान निर्वेद कहाता है—निर्वेदस्तत्त्वधीः क्लेशैर्वैरस्यम्।[3]

रामचन्द्र-गुणचन्द्र के उक्त कथनों का अभिप्राय यह है कि विषय-संलग्नता से वास्तविक विरक्ति तो 'शम' है, परन्तु दरिद्रता, पुत्र-स्मरण आदि व्याधियों से उत्पन्न वैराग्य-भाव 'निर्वेद' है। शम स्थायिभाव है और निर्वेद संचारिभाव। इन दोनों आचार्यों ने मम्मट के उक्त मन्तव्य को इसी प्रसंग में स्पष्टतः अस्वीकृत करते हुए कहा है कि एक ही भाव (निर्वेद) को स्थायिभाव और संचारिभाव इन दोनों नामों से अभिहित करना स्ववचन-विरोध है।[4]

किन्तु वस्तुतः, निष्पक्ष रूप से देखा जाए तो मम्मट को भी यही अभीष्ट है, जो इन दोनों आचार्यों को है। मम्मट के शान्त रस के प्रख्यात उदाहरण 'अहौ वा हारे वा, कुसुमशयने वा दृषदि वा' से निस्सन्देह यही प्रतीत होता है कि 'निर्वेद' नामक स्थायि-भाव विषय-विमुक्ति से उत्पन्न विरक्ति-भाव है, न कि सांसारिक क्लेशों के कारण उत्पन्न विरक्ति भाव। हाँ, यह दूसरा रूप इसे संचारिभाव की ही संज्ञा देगा, स्थायि-भाव की नहीं।

मम्मट की इसी धारणा को मम्मट के टीकाकारों ने भी समझा था, और स्पष्टतः लिखा था—

---

१. कामक्रोधलोभमानमायाद्यनुपरक्तपरोन्मुखता-विवर्जिताक्लिष्टचेतोरूपशमस्थायी शान्तो रसो भवति। —हिन्दी नाट्यदर्पण, पृष्ठ ३१७

२. हि० ना० द० ३.२० तथा वृत्ति, पृष्ठ ३१७

३. वही, ३.२८ (सूत्र १८३) तथा वृत्ति, पृष्ठ ३३१

४. मम्मटस्तु व्यभिचारिकथनप्रस्तावे निर्वेदस्य शान्तरसं प्रति स्थायिता, प्रतिकूल-विभावादिपरिग्रहः' इत्यत्र तु तमेव प्रति व्यभिचारितां च ब्रुवाणः स्ववचन-विरोधेन प्रतिहत इति। —वही, पृष्ठ ३३२

स्थायी स्याद् विषयेष्वेव तत्त्वज्ञानाद् भवेद् यदि ।
इष्टानिष्टवियोगाप्तिकृतस्तु व्यभिचार्यसौ ॥
—का० प्र० (बालबोधिनी टीका), पृष्ठ ११६

किन्तु फिर भी, रामचन्द्र-गुणचन्द्र ने 'निर्वेद' और 'शम' का स्वरूप अलग-अलग दिखाकर विषय की स्पष्टता में पूर्ण सहयोग दिया है, और सम्भवतः इनके ग्रन्थ से अथवा इसी के अनुरूप किसी अन्य ग्रन्थ से प्रेरणा प्राप्त कर विश्वनाथ ने भी [काव्य-प्रकाशकार के समान 'निर्वेद' को दोनों रूपों में स्वीकृत न कर] इन्हीं के अनुरूप शम तथा निर्वेद दोनों भावों की अलग-अलग स्वीकृति की है ।[1] वस्तुतः, स्वच्छ प्रतिपादन के लिए आवश्यक भी यही था ।[2]

निष्कर्ष, 'शम' को ही शान्त रस का स्थायिभाव मानना चाहिए । जहाँ 'निर्वेद' नामक सचारिभाव का वर्णन होगा, वहाँ शान्त रस न स्वीकार किया जाकर भावध्वनि (शान्त-भाव अथवा शान्त-भावध्वनि) स्वीकार की जानी चाहिए ।

(७) अभिनय, अभिनेता तथा प्रेक्षक

अभिनय उस कृत्य को कहते हैं जिसके द्वारा [अभीष्ट] विषय सामाजिक के सम्मुख साक्षात् रूप से प्रस्तुत किया जाता है—सामाजिकानाम् आभिमुख्येन साक्षात्-कारेण नीयते प्राप्यतेऽनेनेति अभिनयः ।

अभिनेता (अनुकर्ता अथवा नट) उसे कहते हैं जो अपने अभिनय (अनुकरण) द्वारा अनुकार्य (राम आदि) और प्रेक्षक के बीच सम्बन्ध स्थापित करके प्रेक्षक की रसास्वाद-प्राप्ति का कारण बनता है, और यह तभी सम्भव होता है जब अभिनेता के सफल अनुकरण के कारण प्रेक्षक अभिनेता को ही अनुकार्य समझने लगता है ।

---

१ साहित्यदर्पण ३. १४२, १७५, २४५

२. इधर हिन्दी के रीतिकालीन आचार्यों में कुलपति ने भी अत्यन्त असमर्थ एवं शिथिल गद्यशैली में सम्भवतः इसी धारणा को ही व्यक्त करने का प्रयास किया है—

यह (शांत रस) रस ही कहाता है, भावध्वनि नहीं । तत्त्वज्ञान से निर्वेद उपजता तो स्थायी है, और जहा स्थायी प्रधानता करके व्यंग होवे सो यही रस है ।
—रसरहस्य ६ ६२ (वृत्ति)

इस कथन से कुलपति का आशय यह है कि संसार की असारता रूप तत्त्वज्ञान अर्थात् वैराग्य से उत्पन्न निर्वेद ही शान्त रस का प्रतिपाद्य विषय है, न कि आपद्, गृहकलह आदि से उत्पन्न निर्वेद । प्रथम प्रकार का निर्वेद स्थायिभाव कहाता है, और द्वितीय प्रकार का सचारिभाव । स्थायिभाव 'निर्वेद' शान्त रस (रस-ध्वनि) का विषय है, और सचारिभाव 'निर्वेद' भाव (भाव-ध्वनि) का । अस्तु !

किन्तु यह कैसे सम्भव होता है, क्योंकि न तो अनुकर्त्ता (अभिनेता) ने अनुकार्य को देखा होता है और न प्रेक्षक ने। अतः न तो अनुकर्त्ता अनुकार्य का [यथावत्] अनुकरण कर सकता है, और न प्रेक्षक अनुकर्त्ता को देखते हुए भी इसे [वास्तविक] अनुकरण मान सकता है।[1]

इस स्वाभाविक शंका के समाधान के लिए नाट्यदर्पण के प्रणेता रामचन्द्र-गुणचन्द्र ने कतिपय कारण प्रस्तुत किये हैं—

१. अभिनेता कवि-प्रणीत राम आदि के चरित्र को पढ अथवा सुनकर अत्यन्त अभ्यास द्वारा ऐसा अनुभव करने लगता है कि उसने अनुकार्य को स्वयं देख-सा लिया है, और पुनः यह अध्यवसान करने लगता है कि मैं उसी का अनुकरण कर रहा हूँ।[2]

२. यहां एक शंका की जा सकती है कि कविजन अपने नाटकों में राम आदि अनुकार्य की अवस्था का चित्रण कैसे कर पाते हैं जबकि इन्होंने भी तो उनको नहीं देखा होता। इसके उत्तर में कहा गया है कि 'त्रिकालदर्शी' ऋषिजनों से उन्हें यह ज्ञान मिला है, जिसके आधार पर वे अपने नाटकों का निर्माण करते हैं, तथा इनके ही ज्ञान पर पूर्ण विश्वास करने से प्रेक्षक भी नट को अनुकार्य समझ लेता है।[3]

३. वस्तुतः, नट को यह ज्ञान नहीं होता कि अनुकार्य ने अमुक अवसर पर किस रूप में हास्य, रोदन आदि किया होगा, अतः वह लोक-व्यवहार का—लोक में विभिन्न अवसरों पर हसने-रोने वाले व्यक्तियों का—अनुकरण कर रहा होता है।[4]

४. इधर प्रेक्षक भी यद्यपि देश-काल के भेद के कारण नट को रामादि समझने में असमर्थ होता है तो भी नट द्वारा उच्चरित रामादि के शब्द-संकेतों के श्रवण से, तथा अत्यन्त मनोरम संगीत आदि के वशीभूत होने के कारण वह उस नट को रामादि समझने लगता है, जो [आंगिक, आहार्य, वाचिक और सात्त्विक, इन] चार

---

१. रामादेरनुकार्यस्य नटेन प्रेक्षकैर्वा स्वयमदृष्टत्वात्। अनुकर्त्ता हि अनुकार्यमदृष्ट्वा नानुकर्तुमसम्। प्रेक्षकोऽपि चादृष्टानुकार्यो नाऽनुकर्त्तुरनुकर्तृत्वमनुमन्यते। —हिन्दी ना० द०, पृष्ठ ३५१

२. तदयं नटो रामादेश्चरितं कविनिबद्धमधीत्य अत्यन्ताऽभ्यासवशात् स्वयं दृष्टमनुमन्यमानोऽनुकरोमि इत्यध्यवस्यति।—हि० ना० द०, पृष्ठ ३५२

३. इह तावद् इत्थमाकृतिः, इत्थं गतिः, इत्थं जल्पितम्, इत्थं क्रोधादिललितम् इत्येवमशेषमपि रामादिललितम् ऋषीणां कालदर्शिना ज्ञानेन निश्चित्य कवयो नाटके निबध्नन्ति। तत्र चार्ये मुनिज्ञानविश्वासात् नटस्य साक्षाद् दर्शनमेव।

—वही, पृष्ठ ३५३

४. परमार्थस्तु लोकव्यवहारमेवाऽयमनुवर्तते।—वही, पृष्ठ ३५२

प्रकार के अभिनय से आच्छादित हो चुका होता है, अर्थात् उसका अपना वास्तविक रूप रामादि के रूप के नीचे ढँप गया होता है। ऐसी स्थिति में प्रेक्षक रामादि की सुख अथवा दुःख रूप अवस्थाओं में लीन हो जाता है।[1]

५ इसके अतिरिक्त अनुकर्त्ता को अनुकार्य समझ लेने का कारण भ्रान्ति भी है, जिसके बल पर प्रेक्षक शृंगार आदि रसों का आस्वाद प्राप्त करता है—उन्मिषन्ति च भ्रान्तेरपि शृंगारादयः, क्योंकि इसी भ्रान्ति के ही कारण स्वप्न में भी कामिनी, वैरी अथवा चोर आदि को देखकर स्वप्नद्रष्टा स्तम्भ आदि अनुभावों का अनुभव करते हैं।[2]

उक्त कथनों का निष्कर्ष यह है कि कोई प्रेक्षक जब तक अनुकर्ता को कृत्रिम व्यक्ति समझ रहा होता है तब तक उसे रसास्वाद प्राप्त नहीं हो सकता।[3] किन्तु जब वह उसे अनुकार्य समझने लगता है तभी उसे रसास्वाद की प्राप्ति होती है। उसे अनुकार्य समझ लेने का कारण है उसका अभिनय-कौशल तथा अन्य रंगमञ्चीय मनोहारी व्यवस्था। इन दोनों को नाट्यदर्पण के अनुसार 'भ्रान्ति' (चकाचौंध) भी कह सकते हैं। उधर अनुकर्ता का अभिनय-कौशल भी इसी अध्यवसान पर आधारित है कि वह अपने आप को अनुकार्य ही समझ ले, और यह तभी सम्भव होता है जब वह एक ओर तो कवि-निबद्ध नाटक का पुनः पुनः अभ्यास करता है, और दूसरी ओर लौकिक व्यवहार के अनुभवों द्वारा विभिन्न प्रकार के मनोभावों का प्रदर्शन करना सीखता है। शेष रहा कवि का प्रश्न कि उसे अनुकार्यों की विभिन्न मनोदशाओं का ज्ञान कैसे हो जाता है?—तो वह उसे ज्ञानचक्षुओं से देखने वाले ऋषियों से प्राप्त करता है।

× × ×

रामचन्द्र-गुणचन्द्र का उक्त विवेचन अधिकांशतः मान्य है, किन्तु उनका अन्तिम कथन किञ्चित् शिथिल है। इसका अभिप्राय केवल यही लिया जा सकता है कि कविजन काव्य-नाटक के निर्माण के समय अपनी कल्पना के बल पर जो विवरण

---

१. प्रेक्षकोऽपि रामादिशब्दसंकेतश्रवणाद् अतिहृद्यसंगीतकाहितवैवश्याच्च व्यपदेशकालभेदेनाऽसत्यभूतेष्वपि अभिनेयचतुष्टयाऽऽच्छादनात् तथाभूतेष्विव नटेषु रामादीनध्यवस्यति । अतएव तासु तासु सुखदुःखरूपासु रामाद्यवस्थासु तन्मयीभवति । —वही, पृष्ठ ३५२-३५३

२. उन्मिषन्ति च भ्रान्तेरपि शृंगारादयः । कामिनीवैरिचोरादीन् अधिस्वप्नमभिपश्यतः पुंसः कथम् अपरथा रसप्ररोहरोहिणस्तत्र स्तम्भादयोऽनुभावा प्रादुर्भवेयुरिति ।
—हि० ना० द०, पृष्ठ ३५३

३. कृत्रिममेतद् इति जानन्तो [प्रेक्षकाः] न रामादिसुखदुःखेषु तन्मयीभवेयुः ।
—वही, पृष्ठ ३५३

प्रस्तुत करते हैं वे शायद लगभग वैसे ही होंगे जैसे कि अनुकार्यों के साथ घटित हुए होंगे। जिसे आज का आलोचक कल्पना (इमैजिनेशन) कहता है, उसे रामचन्द्र-गुणचन्द्र के शब्दों में 'ऋषियों की ज्ञानचक्षु' कह सकते हैं। स्वयं वाल्मीकि भी यदि राम के समय में रहे हों तो भी वे उनकी सर्वप्रकार की मनोदशाओं से अवगत नहीं होंगे। अतः उनके 'ज्ञानचक्षु' 'शब्द' को 'कल्पना' का पर्याय मान सकते हैं। इसी प्रकार भास, कालिदास आदि नाटककारों ने अन्य ऋषियों (गुरुजनों) के सम्पर्क द्वारा अनुकार्य व्यक्ति की मनोदशाओं का ज्ञान प्राप्त किया होगा—यह मानना भी न तो व्यवहार-सगत है और न बुद्धि-सगत।

हमारे विचार में अनुकार्य की स्थिति के अवबोध के लिए सर्वप्रमुख साधन है परम्परागत ज्ञान अथवा लोकानुश्रुति। वस्तुतः, इसी के ही बल पर कविजन राम आदि के परम्परागत अथवा लोकानुश्रुत रूप का चित्रण करते चले आये हैं। यद्यपि अपनी कल्पना के बल पर वे उनके चरित्र में इधर-उधर परिवर्तन भी कर देते हैं, तथापि उनके मूल रूप में, उनकी मूल भावना में, कोई अन्तर नहीं आता। वे अपने ही देश-विशेष अथवा काल-विशेष के व्यक्ति के रूप में ही चित्रित किये जाते हैं, अन्य देश अथवा काल के व्यक्ति के रूप में नहीं। इसी प्रकार अभिनेता भी यद्यपि नाटक में निर्दिष्ट नाटककार (अथवा निर्देशक) के 'स्वगत, प्रकट, सावेग, सकोप, सहर्ष, सास्रस्वरेण' आदि निर्देशों द्वारा अभिनय-कौशल प्राप्त करता है, तो भी किसी व्यक्ति-विशेष के अभिनय करने का निर्देशन इसे लोक-परम्परा द्वारा ही मिलता है। विरही राम, विरही यक्ष और विरही पुरुरवा,—इन तीनों के विरह-विलाप में क्या अन्तर है, इसका ज्ञान उसे अथवा स्वयं उसके निर्देशक को केवल लोक-परम्परा द्वारा ही प्राप्त होता है। ठीक यही स्थिति प्रेक्षक की भी है। सीता के वियोग में 'राम' यदि रंगमंच पर बिसूरने लगता है तो भारतीय परम्परा से सुपरिचित प्रेक्षक का 'करुण' रस तत्क्षण के लिए हास्य-विनोद[1] में परिवर्तन हो जाता है, किन्तु इस परम्परा से अपरिचित किसी विदेशी प्रेक्षक के रसास्वाद में कोई अन्तर नहीं आता। बिसूरना भी करुण रस की अभिव्यक्ति का अनुभाव (कारण) बन सकता है, पर सामान्य नायक के अनुकरण-प्रसंग में, न कि राम जैसे धीरोदात्त नायक के प्रसंग में। इस रसभंग अथवा रसास्वाद का एक मात्र कारण है लोक-परम्परागत ज्ञान अथवा लोकानुश्रुति। इसी कसौटी पर यदि कोई अभिनेता अभिनय करता है तो प्रेक्षक उसे अनुकार्य समझ कर रसास्वाद प्राप्त करने में समर्थ हो सकता है।

८. रस की सुखद सात्मकता : करुण आदि रसों का आस्वाद

नाट्यदर्पण ग्रन्थ का सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण प्रसंग वह है जिसमें रस को सुखदुःखात्मक कहा गया है। सहृदय व्यक्ति शृंगार, हास्य आदि रसों द्वारा तो आस्वाद प्राप्त

---

१. 'हास्य-विनोद' से तात्पर्य हास्य रस नहीं है।

करता ही है, साथ ही उसे करुण, भयानक आदि रसों द्वारा भी आस्वाद की प्राप्ति होती है—यह कथन अपने आप में व्यावहारिक और तार्किक दृष्टि से विरोधात्मक और भ्रान्त प्रतीत होता है, अतः संस्कृत के कतिपय काव्याचार्यों ने रस को सुखदुःखात्मक कहा है। इन आचार्यों में से नाट्यदर्पण के कर्ता रामचन्द्र-गुणचन्द्र का नाम विशेष रूप से लिया जाता है, क्योंकि उन्होंने इस विषय पर सर्वाधिक सामग्री प्रस्तुत की है।

इस सम्बन्ध में उनका सिद्धान्त-कथन है—सुखदुःखात्मको रसः। इस कथन को स्पष्ट करते हुए उक्त दोनों ग्रन्थकारों का अभिमत है कि 'जहाँ शृंगार, हास्य, वीर, अद्भुत और शान्त ये पाँच रस सुखात्मक हैं, वहां करुण, रौद्र, बीभत्स और भयानक—ये चार रस दुःखात्मक हैं।'[1] प्रथम वर्ग के रसों को भी यदि सुखात्मक मान लिया जाता है तो इसी पर रामचन्द्र-गुणचन्द्र को आपत्ति है। इस सम्बन्ध में उन्होंने निम्नोक्त चार तर्क उपस्थित किये हैं[2]—

१. उनका पहला तर्क यह है कि करुण, भयानक आदि रस सहृदयों को अवर्णनीय क्लेश-दशा तक पहुंचा देते हैं। इनसे सामाजिक उद्वेग प्राप्त करते हैं। सुखास्वाद से भी भला कहीं कोई उद्विग्न होता है?[3] सीता का हरण, द्रौपदी के वस्त्रों तथा केशों का कर्षण, हरिश्चन्द्र की चाण्डाल के यहां दासता, रोहिताश्व की मृत्यु आदि घटनाओं के अभिनय को देखकर कौन ऐसा सहृदय है जो सुखास्वाद प्राप्त करता हो?

२. दूसरा तर्क यह है कि काव्य-नाटक में लौकिक आचार-व्यवहार का चित्रण यथार्थ रूप में ही किया जाता है। कविजन सांसारिक सुखों का वर्णन सुख-रूप में करते हैं, और दुःखों का वर्णन दुःख-रूप में। विरही राम-सीता आदि अनुकार्यों की करुण-दशाएं निस्सन्देह दुःखात्मक होती हैं, अतः यदि उनके काव्य नाटकगत अनुकरण को *सुखात्मक माना जाए तो यह अनुकरण वास्तविक न होगा, क्योंकि वह लौकिक* वस्तुस्थिति से विपरीत ही रहेगा।

३. रस को सुखात्मक मानने वालों की ओर से यह कहा जा सकता है कि जैसे लोक में विरही एवं शोकाकुल जनों के सम्मुख कारुणिक प्रसंगों का वर्णन अथवा अभिनय करने से उन्हें सुख-सान्त्वना मिलती है, इस प्रकार काव्य-नाटक-गत करुण, भयानक आदि रस भी सुखात्मक ही हैं, दुःखात्मक नहीं हैं। किन्तु रामचन्द्र-गुणचन्द्र का

१. हिन्दी नाट्यदर्पण, पृष्ठ २९०
२. वही, पृ० २९१-२९२
३. भयानको बीभत्सः करुणो रौद्रो रसास्वादवताम् अनाख्येयां कामपि क्लेशदशाम् उपनयति। अतएव भयानकादिभिः उद्विजते समाजः। न नाम सुखास्वादाद् उद्वेगो घटते। —वही, पृष्ठ २९१

कथन है कि वस्तुतः ऐसे प्रसंगों में भी दुःखी जनों को जो सुखास्वाद मिलता प्रतीत होता है, मूलतः वह भी दुःखास्वाद ही है, क्योंकि यदि वही व्यक्ति दुःखपूर्ण वार्ताओं से सुख-सा अनुभव प्रतीत करता है, तो प्रमोदपूर्ण वार्ताओं से [इतर जनों के समान] सुख का अनुभव न कर विकलित ही होता है। अतः वादियों का उक्त सहानुभूति-मूलक तर्क मनस्तोषक एवं मान्य नहीं है। वस्तुतः, करुण आदि रस दुःखात्मक हैं।

४. यद्यपि भयानक, करुण आदि रस दुःखात्मक ही हैं, फिर भी यदि इनसे सहृदय परम आनन्द को प्राप्त करते हैं तो केवल-मात्र कवि एवं नट की कुशलता से चमत्कृत होकर ही।[1]

इस अन्तिम कथन से ग्रन्थकारों का तात्पर्य यह है कि कवि के व्यवस्थित एवं मार्मिक निरूपण को पढ़कर अथवा नट के सुन्दर एवं मार्मिक हृदयहारी अभिनय को देखकर हमें जो आस्वाद प्राप्त होता है, उसकी लोलुपता ही सहृदय को करुण, भयानक आदि रसों से युक्त भी काव्य-नाटकों से आनन्द प्राप्त कराती है तथा उन्हें बार-बार पढ़ने, देखने की ओर प्रवृत्त कराती है, अन्यथा ये रस तो दुःखात्मक ही होते हैं। एक उदाहरण द्वारा अपने कथन की पुष्टि करते हुए ग्रन्थकार कहते हैं कि जिस प्रकार लोक में वीर पुरुष अपने उस प्राण-घातक शत्रु को भी देखकर आश्चर्यचकित से रह जाते हैं जो प्रहार करने में अत्यन्त निपुण होता है,[2] उसी प्रकार प्रेक्षक भी कवि अथवा नट के कौशल द्वारा चमत्कृत हो जाते हैं।

× × ×

उक्त तर्कों में से प्रथम तर्क मन के उद्वेग को लक्ष्य में रखकर प्रस्तुत किया गया है, और द्वितीय तर्क लौकिक व्यवहार और काव्य-रचना की पारस्परिक अन्विति को। तृतीय तर्क लौकिक सहानुभूति एवं सान्त्वना से सम्बद्ध है, और चतुर्थ तर्क काव्यत्व एवं अभिनय-जन्य बाह्य चमत्कार से। यदि गम्भीरतापूर्वक विचार करें तो इन चारों तर्कों के मूल में एक ही भ्रान्त धारणा सन्निहित है कि लौकिक व्यवहार और कवि-कृति में कोई अन्तर नहीं है, ये दोनों एक ही धरातल पर अवस्थित हैं। यही कारण है कि—

—पहले तर्क में सहृदय को भी भयानक, करुण आदि रसों द्वारा वैसा ही उद्विग्न एवं विकलित समझ लिया गया है जैसा कि सामान्य व्यवहार में भयभीत

१. अनेनैव च सर्वाङ्गाह्लादकेन कविनटशक्तिजन्मना चमत्कारेण विप्रलब्धाः परमानन्द-रूपतां दुःखात्मकेष्वपि करुणादिषु सुमेधसः प्रतिजानते। —हि०ना०द० पृष्ठ २६१

२. विस्मयन्ते हि शिरश्छेदकारिणाऽपि प्रहारकुशलेन वैरिणा शौण्डीरमानिनः।
—वही, पृष्ठ २६१

अथवा करुणाग्रस्त व्यक्ति को। किन्तु वस्तुतः, लौकिक रति, शोक आदि भावों में तथा काव्यगत इन भावों में सदा अन्तर रहता है। लौकिक भाव एक ही देश, काल एवं व्यक्ति तक सीमित रहते हैं, किन्तु काव्यगत भाव प्रत्येक प्रकार की सीमा से नितान्त विमुक्त होते हैं।

—इसी प्रकार दूसरे तर्क में भी उक्त धारणा के बल पर लौकिक घटनाओं और काव्यगत घटनाओं को एक-समान समझ लिया गया है। किन्तु यह अशास्त्रीय एवं अमान्य मन्तव्य है। वस्तुतः, दोनों में बहुविध एवं बहुहेतुक अन्तर रहता है। इनमें से एक अन्तर तो यह है कि काव्य में लौकिक घटनाओं के असमान केवल यथार्थ का चित्रण न होकर यथार्थ के साथ कल्पना-तत्त्व का सम्मिश्रण भी अनिवार्यतः रहता है। अतः 'लोक और काव्य की पारस्परिक अनुकूलता' को आधार मानकर अनुकार्य के ही अनुरूप सहृदय के सुख-दुःख का निर्णय करना मूलतः भ्रमपूर्ण है।

—अब तीसरे तर्क को लें। उधर लोक में पुत्र-विच्छेद-विह्वला माता के शोक में, और इधर ऐसी माता को रंगमंच पर देखकर अथवा इसके चरित्र को काव्य में पढ़कर शोक-विह्वल सहृदय के शोक में निस्सन्देह अन्तर है। उधर सान्त्वना से दुःख का हल्का होना, इसका कुछ क्षणों के लिए लुप्त हो जाना अथवा इसका बढ़ जाना आदि सभी स्थितियाँ सम्भव हैं, किन्तु इधर शोक स्थायिभाव से उद्विग्न अथवा आकुल (यदि इस स्थिति को यह नाम दें, तो) सहृदय के लिए प्रथम तो सान्त्वना-प्रदान का प्रश्न ही उपस्थित नहीं होता, क्योंकि काव्य-नाटकगत घटनाओं से इतर घटनाओं के साथ उसका कोई सम्बन्ध ही नहीं, और यदि उसके सम्मुख घटनाएं लायी भी जाती हैं तो उस समय वह सहृदय न होकर सांसारिक व्यक्ति-मात्र रह जाता है।

—चतुर्थ तर्क में सत्यता अवश्य है, पर एकांगी। कवि के रचना-कौशल से, और विशेषतः नट के अभिनय-कौशल से, जन्य चमत्कार निस्सन्देह सहृदय को अभिभूत कर देता है। इस कथन की पुष्टि में एक प्रत्युदाहरण लीजिए कि किस प्रकार एक अत्यन्त करुणोत्पादक एवं हृदय-विदारक दृश्य भी एक अनाड़ी नट के असफल प्रदर्शन द्वारा करुण के स्थान पर 'हास्य' का रूप धारण कर लेता है। अस्तु! कवि और नट की कुशलता से उत्पन्न चमत्कार से तो किसी भी स्थिति में, इनकार नहीं किया जा सकता, किन्तु यह चमत्कार पूर्ववर्ती प्रभाव का उद्दीपक कारण होता है, उसका उत्पादक कारण नहीं होता। उदाहरणार्थ, शृंगार रस में वह सहृदय के रति-भाव को उद्दीप्त करता है, और करुण रस में उसके शोक-भाव को। इसके अतिरिक्त कौशल-जन्य चमत्कार कवि अथवा नट की प्रतिभा के प्रति प्रेक्षक के हृदय में आश्चर्य, आदर आदि भाव भी उत्पन्न करता है। किन्तु, जैसा कि रामचन्द्र-गुणचन्द्र का मन्तव्य है, इन्हीं आश्चर्य, आदर आदि भावों को करुण, भयानक आदि रसों में सुख-प्राप्ति का कारण नहीं मानना चाहिए। यह भाव लौकिक होते हैं। अतः, इनसे

लौकिक आह्लाद ही उत्पन्न हो सकता है, काव्यगत रस—सुखात्मक रस—उत्पन्न नहीं हो सकता। अस्तु!

× × ×

रसों को सुखदु:खात्मक स्वीकार करने वाले प्रथम आचार्य रामचन्द्र-गुणचन्द्र नहीं हैं। इनसे पूर्व भी इस सम्बन्ध में कुछ इस प्रकार के स्पष्ट कथन मिल जाते हैं—

(क) येन त्वग्यथापि सुखदु:खजननशक्तियुक्ता विषयसामग्री बाह्यैव सुखदु:ख-स्वभावो रसः।—(अज्ञात आचार्य), *अभिनवभारती, भाग १, पृष्ठ २७८*

(ख) रसस्य सुखदु:खात्मकता तदुभयलक्षणत्वेन उपपद्यते, अतएव तदुभय-जनकत्वम्। रसकलिका (रुद्रभट्ट) 'नम्बर आफ रसस्' (रा०), पृष्ठ १५५

(ग) रसा हि सुखदु:खरूपा. ।—ना० प्र०, २य भाग (रा०), पृष्ठ ३६६

—इन कथनों से यद्यपि यह स्पष्टत प्रतीत नहीं होता कि उक्त आचार्य सभी रसों को सुखात्मक और दु:खात्मक स्वीकार करते थे, अथवा कुछ को सुखात्मक और कुछ को दु:खात्मक, किन्तु फिर भी सम्भावना यही है कि वे भी रामचन्द्र-गुणचन्द्र के समान शृंगार, हास्य आदि को सुखात्मक मानते होंगे, और भयानक, करुण आदि को दु:खात्मक।

उपर्युक्त कथनों के अतिरिक्त वामन ने किसी आचार्य के नाम पर ऐसा कथन भी उद्धृत किया है जिससे यह स्पष्ट प्रतीत होता है कि वह स्वयं अथवा सम्भवतः कुछ अन्य आचार्य भी करुण रस में सुख और दु:ख दोनों का सम्मिश्रण मानते होंगे—

(घ) करुणप्रेक्षणीयेषु सम्प्लवः सुखदुःखयोः।
यथानुभवतः सिद्धस्तथैवोजःप्रसादयोः॥ का० सू० वृ० ३.१.६(वृत्ति)

अर्थात् जिस प्रकार करुण रस के नाटकों में सुख और दु:ख का सम्प्लव(overlaping) सहृदय जनों के अनुभव द्वारा सिद्ध है, उसी प्रकार ओज और प्रसाद का सम्प्लव भी उनके अनुभव द्वारा सिद्ध है। सुख पहले होता है अथवा दु:ख पहले—इस ओर इस श्लोक में कोई संकेत नहीं है, किन्तु ऐसा प्रतीत होता है कि उन्हें करुण रस में दु:ख की स्थिति पूर्व मान्य होगी और सुख की बाद में। दूसरे शब्दों में, सहृदय लौकिक दु:ख का अनुभव करता हुआ भी अन्ततः काव्यगत आनन्द का, लोकोत्तर सुख का अनुभव करता है।

कुछ इसी प्रकार की धारणा की व्याख्या मधुसूदन सरस्वती ने सम्भवतः सर्वप्रथम मौलिक रूप से प्रस्तुत की है—

(ङ) सत्वगुणस्य सुखरूपत्वात् सर्वेषां भावनां सुखरूपत्वेऽपि रजस्तमोंऽश-मिश्रणात् तारतम्यमवगन्तव्यम्। अतो न सर्वेषु तुल्यसुखानुभवः।
—'नम्बर आफ रसस्' (रा०), पृष्ठ १५६

उनके कथन का अभिप्राय यह है कि सभी रसों से निस्सन्देह सुख का अनुभव होता है, परन्तु यह अनुभव सब रसों में तुल्य रूप से नहीं होता। इसका एक मात्र कारण यह है कि सत्वगुण की प्रधानता ही सुख का हेतु है, किन्तु ऐसा कभी नहीं होता कि किसी रस में रजोगुण और तमोगुण नितान्त अभिभूत हो जाए, और सत्वगुण पूर्णत: आविर्भूत अथवा उद्रिक्त हो जाए, अपितु रजोगुण और तमोगुण किसी न किसी अंश तक अवश्य विद्यमान रहते हैं। ये किस रस में कितनी मात्रा में विद्यमान रहते हैं, यद्यपि इसका निर्णय कर सकना कठिन है तथापि ये रहते अवश्य हैं। अतः उनके मिश्रण के तारतम्य के अनुसार सब रसों में सुख के साथ दु:ख का मिश्रण भी समझना चाहिए।

× × ×

इस प्रकार हमारे सम्मुख निम्नोक्त चार विकल्प उपस्थित हैं—

(क) सभी रस सुखात्मक हैं,

(ख) सभी रस सुखदु:खात्मक हैं,

(ग) शृंगार, हास्य आदि रस सुखात्मक हैं, किन्तु करुण भयानक आदि रस दु:खात्मक हैं।

(घ) शृंगार, हास्य आदि रस सुखात्मक हैं, किन्तु करुण, भयानक आदि रस सुखदु:खात्मक हैं।

उक्त विकल्पों में से रामचन्द्र गुणचन्द्र यद्यपि स्पष्टत: तीसरे विकल्प को स्वीकार करते हुए करुण आदि रसों को दु:खात्मक स्वीकार करते हैं, तथापि वे इन्हें अन्ततः सुखात्मक ही स्वीकार करते होंगे, कुछ इस प्रकार का स्पष्ट संकेत उन्होंने स्वयं भी दिया है—पानकमाधुर्यमिव च तीक्ष्णास्वादेन दु:खानि स्वदन्त इव इति। (हि० ना० द०, पृष्ठ २६१) अर्थात्, जिस प्रकार पानक (खट्टे मीठे-तीखे पेय) की मिठास दु:खास्वादजनक तीक्ष्ण पदार्थ के मिश्रण से और भी अधिक सुखास्वाद प्रदान करती है, उसी प्रकार करुण आदि रसों में भी दु:ख का मिश्रण सुखास्वाद प्रदान करता है। किन्तु वस्तुत: देखा जाए तो पानक पदार्थ और करुण रस में स्थापित यह उपमान-उपमेय-सम्बन्ध यथावत् एवं सुघटित प्रतीत नहीं होता, क्योंकि पानक में माधुर्य और तीक्ष्णता के मिश्रण में भले ही पूर्वापर-सम्बन्ध हो, किन्तु उसके आस्वादन में पूर्वापर-सम्बन्ध नहीं रहता, किन्तु करुण रस के शोक (लौकिक दु:ख) और इस रस के आस्वाद (सुख) में नि:सन्देह पूर्वापर-सम्बन्ध बना रहता है, यद्यपि यह अलग बात है कि इसमें काल का अन्तर इतना त्वरित एवं क्षिप्र होता है कि यह कहते नहीं बनता कि इस दु:ख और सुख में कोई काल-सम्बन्धी अन्तर है भी। अस्तु।

जो हो, रामचन्द्र-गुणचन्द्र का यह उदाहरण यह मानने के लिए पर्याप्त है कि वे उक्त विकल्पों में से तीसरे विकल्प को स्वीकार न कर चौथे विकल्प को स्वीकार करते होंगे कि भयानक, करुण आदि रस केवल दु:खात्मक न होकर सुखदु:खात्मक

है। अथवा यों कहिए कि दुःखसुखात्मक हैं—पूर्व स्थिति में ये दुःखात्मक हैं, और अन्तिम स्थिति में सुखात्मक। यदि यही उनकी मान्यता है तो इसकी व्याख्या प्रस्तुत की जा सकती है। यदि वे करुण, भयानक, आदि को नितान्त दुःखात्मक स्वीकार करते हैं तो उनकी यह धारणा काव्यशास्त्र और मनोविज्ञान के तो प्रतिकूल है ही, व्यवहार के भी सर्वथा प्रतिकूल होने के कारण सर्वथा अमान्य है। इस दृष्टि से विश्वनाथ का केवल एक यही तर्क इसे अमान्य ठहराने के लिए पर्याप्त है कि करुण आदि रस इसलिए सुखात्मक हैं कि सहृदय-जन इसे देखने के लिए सदा उन्मुख अर्थात् लालायित रहते हैं—

करुणादावपि रसे जायते यत्परं सुखम् ।
सचेतसामनुभवः प्रमाणं तत्र केवलम् ॥
किंच तेषु यदा दुःखं न कोऽपि स्यात्तदुन्मुखः ।
तदा रामायणादीनां भविता दुःखहेतुता ॥ सा० द० ३.४, ५

रामचन्द्र-गुणचन्द्र का कोई सुविज्ञ पाठक उनके सम्पूर्ण ग्रन्थ के अवलोकन के उपरान्त यह मानने को कदापि उद्यत न होगा कि उन जैसे तत्त्ववेत्ता और चिन्तक आचार्य करुण आदि रसों को केवल दुःखात्मक ही मानते होंगे। वह इसे दुःखात्मक मानते अवश्य होंगे, किन्तु पूर्व स्थिति में, और अन्ततः, वे इन्हें सुखात्मक ही मानते होंगे।

× × ×

अस्तु ! जो हो, उपर्युक्त मान्यता की व्याख्या कई रूपों में तथा कई दृष्टियों से की जा सकती है—

१. शृंगार, करुण आदि सभी प्रकार के रसों में रति, शोक आदि सभी स्थायिभाव जब तक विभावादि के संयोग द्वारा रसरूप में परिणत अथवा अभिव्यक्त नहीं होते, तब तक उनसे लौकिक सुख अथवा दुःख का ही अनुभव होता है। उदाहरणार्थ, यदि किसी प्रेक्षक को शृंगार रस के नाटक में अपनी प्रेयसी की, अथवा करुण रस के नाटक में अपने मृत पुत्र की स्मृति हो आती है तो उसका रति अथवा शोक भाव उसे लौकिक सुख अथवा दुःख की अनुभूति कराएगा। वह प्रेक्षक नाट्य-गृह में बैठा हुआ भी तत्क्षण के लिए *सहृदय*[1] *न होकर सांसारिक व्यक्ति ही होता है, किन्तु जिस क्षण वही व्यक्ति निजत्व की भावना से ऊपर उठ जाता है, वही क्षण उसकी रस-दशा का* है। उसी क्षण रतिजन्य सांसारिक सुख अथवा शोकजन्य सांसारिक दुःख इस दशा की पूर्वस्थिति बन जाते हैं और रस-दशा अन्तिम स्थिति बन जाती है।

२. काव्यशास्त्रीय आधार पर लौकिक कारण, कार्य एवं सहकारिकारण काव्य में इसलिए क्रमशः विभाव, अनुभाव और संचारिभाव कहाते हैं कि वे अब लौकिक क्षेत्र से ऊपर उठकर लोकोत्तरता के क्षेत्र में आ पहुँचे हैं।[2] जब तक भय, शोक आदि

---

१. यहां 'सहृदय' से तात्पर्य है—काव्यरसास्वादन-सक्षम व्यक्ति।
२. का० प्र० ४.२७,२८

भाव लौकिक कारण आदि से सम्पृक्त हैं, (चाहे वह घटना-स्थल नाट्यगृह भी क्यों न हो), तब तक ये भाव निस्सन्देह दुःखात्मक हैं, किन्तु विभाव आदि से सम्पृक्त होने के कारण ये भाव भयानक, करुण आदि सुखात्मक रसों के रूप में परिणत हो जाते हैं।

३. भयानक, करुण आदि रसों को अपनी परिणति में सुखात्मक स्वीकार करने के लिए काव्याचार्यों का 'साधारणीकरण' नामक सिद्धान्त एक प्रबल साधन है, जिसके बल पर सहृदय असाधारण (विशेष) से साधारण (सामान्य) भावभूमि पर उतर आता है।[1] उसका भय अथवा शोक किसी विशेष देश अथवा काल से विमुक्त हो जाता है।[2] वह अपने समस्त मोह, संकट आदि [से जन्य अज्ञान] से निवृत्त हो जाता है।[3] परिणामतः, काव्य-नाटक-गत कोई पात्र अब उसके लिए अपना विशिष्ट व्यक्तित्व खोकर मानव-मात्र बन जाता है—राम नामक पुरुष-पात्र पुरुषमात्र बन जाता है, और सीता नामक स्त्री-पात्र स्त्रीमात्र बन जाती है,[4] और इसका अगला परिणाम यह होता है कि सहृदय निजत्व और परत्व दोनों प्रकार के विश्वासों से विनिर्मुक्त हो जाता है। अतः इस प्रकार की परिस्थिति में सहृदय के लिए न तो शृंगार आदि रसों द्वारा लौकिक सुखानुभूति स्वीकार की जा सकती है, और न भयानक आदि रसों द्वारा लौकिक दुःखानुभूति—यह अवस्था दोनों प्रकार के रसों में अलौकिक (लोकोत्तर) रूप में सुखात्मिका होती है।

इस प्रकार निष्कर्ष रूप में हम यह कहते हैं कि—

१. प्रत्येक स्थायीभाव अपरिपक्व अवस्था में लौकिक सुख अथवा दुःख का कारण बनता है, किन्तु परिपक्व अवस्था में वह केवल अलौकिक (लोकोत्तर) सुख का ही कारण बनता है।

२. यह ठीक है कि लौकिक शोक, हर्ष आदि कारणों से लौकिक शोक, हर्ष आदि उत्पन्न होते हैं, किन्तु काव्य-नाटक में तो विभावादि द्वारा दोनों स्थितियों में लोकोत्तर सुख ही मिलता है।[5]

---

१. 'असाधारणस्य साधारणकरणम्' इति साधारणीकरणम्।

२. × × × भयमेव परं देशकालाद्यनालिंगितम्।

—हिन्दी अभिनवभारती, पृ० ४७०

३. काव्ये × × × नाट्ये च × × × निबिडनिजमोहसंकटतानिवारणकारिणा विभावादिसाधारणीकरणात्मना × × ×।—वही, पृष्ठ ४६४,४६५

४. तत्र सीतादिशब्दाः परित्यक्तजनकतनयादिविशेषाः स्त्रीमात्रवाचिनः।

—दशरूपक ४.४० (वृत्ति)

५. लौकिकशोकहर्षादिकारणेभ्यो लौकिकहर्षादयो जायन्त इति लोक एव प्रतिनियमः। काव्ये पुनः 'सर्वेभ्योऽपि विभावादिभ्यः सुखमेव जायते' इति।

—सा० द० ३,७(वृत्ति)

३. भयानक, करुण आदि रसों में निस्सन्देह प्रेक्षक भय, शोक आदि से जन्य दुःख का अनुभव करता है, किन्तु वह दुःख लौकिक ही होता है—ठीक उसी प्रकार जैसे वह शृंगार, हास्य आदि रसों मे रति, हास आदि से जन्य लौकिक सुख का अनुभव करता है। किन्तु यह लौकिक सुख अथवा दुःख रस-दशा की पूर्ववर्ती अवस्था है, और रस-दशा उसकी परवर्ती अवस्था है।

४. सक्षेपतः, करुण, भयानक आदि रस अन्ततः—अपने परिपाक रूप में—दुःखात्मक नही हैं, वे भी शृंगार आदि रसो के समान सुखात्मक ही हैं।

इस प्रकार हमने देखा कि रामचन्द्र-गुणचन्द्र की करुण आदि रसो के सम्बन्ध मे यह व्याख्या मान्य नही है कि ये रस दुःखात्मक हैं।

○ ○

उपसंहार

रामचन्द्र-गुणचन्द्र नामक आचार्यों की उपर्युक्त मान्यताओ एव धारणाओं को प्रस्तुत करने से हमारा उद्देश्य केवल इतना है कि इन्होने सस्कृत के काव्यशास्त्र को कितनी नूतन एवं मौलिक सामग्री दी है। यह अलग बात है कि इन मान्यताओं से सभी विद्वान् पूर्णतः अथवा अंशतः सहमत नही होगे। इसका प्रमाण उपर्युक्त अन्तिम धारणा ही है, जिसके आधार पर जैनाचार्य रस को 'सुखदुःखात्मक' मानते हैं। किन्तु आश्चर्य तो यह है कि इस महत्त्वपूर्ण विषय पर भरत से लेकर अपने समय तक जितना उज्ज्वल एव विशद प्रकाश इन दोनो ने डाला है—जहाँ तक हमारा ज्ञान है—उतना किसी अन्य आचार्य ने नही डाला। इससे बढकर एक आश्चर्य और है—वह यह कि इनके उपरान्त पण्डितराज जगन्नाथ-पर्यन्त किसी भी संस्कृत के आचार्य ने इसी प्रसंग के अन्तर्गत न तो इनका नामोल्लेख किया है, और न ही इनकी धारणाओ को प्रस्तुत, उनका पोषण अथवा खण्डन समुपस्थित किया है। अस्तु!

अन्ततः, यह उल्लेख्य है कि नाट्यदर्पण ग्रन्थ उक्त दोनो आचार्यों की अतिशय विद्वत्ता, गम्भीर विषय-सामग्री तथा अद्भुत चिन्तन-पद्धति का परिचायक है, और इस प्रकार यह ग्रन्थ काव्यशास्त्रीय जगत् मे अपना विशिष्ट महत्त्व रखता है।

○ ○ ○

१२. क्षेमेन्द्र का 'औचित्य-तत्त्व' और उसका पृष्ठाधार

'औचित्य-तत्त्व' के प्रवर्तन का श्रेय क्षेमेन्द्र[1] को दिया जाता है, किन्तु वस्तुतः यह इसके प्रवर्तक न होकर इसके व्यवस्थापक हैं। इनसे पूर्व भी भरत, भामह, दण्डी, उद्भट, रुद्रट, आनन्दवर्धन, कुन्तक और महिमभट्ट के ग्रन्थों में इस तत्त्व के सम्बन्ध में साक्षात् एवं असाक्षात् रूप से पर्याप्त सामग्री मिल जाती है। इनमें से सर्वाधिक प्रकाश आनन्दवर्धन ने डाला है।

[१]

१. भरत के नाट्यशास्त्र में 'औचित्य' शब्द का प्रयोग न होने हुए भी इसके सम्बन्ध में अनेक स्थलों पर पर्याप्त संकेत मिल जाते हैं—

—'जिस पात्र के लिए जैसी भूमिका एवं चेष्टा उचित हो वह वैसी होनी चाहिए'—

(क) यादृशो यस्य कर्तव्या विन्यासे भूमिकास्ततः ॥

(ख) या यस्य सदृशी चेष्टा हृद्युत्तमाधममध्यमा । ना० शा० ३५ १

जैसा कि हम आगे देखेंगे, क्षेमेन्द्र ने भी 'उचित' के स्वरूप-निर्देश में संभवतः भरत का ही अनुकरण करते हुए कहा है कि जो जिसके सदृश हो उसे उचित कहते हैं—उचितं प्राहुराचार्याः सदृशं किल यस्य तत् । औ० वि० च०

—अभिनेता का 'वेष' आयु के अनुरूप, 'गतिप्रचार' (शारीरिक चेष्टाएं) वेष के अनुरूप, 'पाठ्य' (संवाद) गति-प्रचार के अनुरूप और 'अभिनय', पाठ्य के अनुसार होना चाहिए—

वयोऽनुरूपः प्रथमस्तु वेषो, वेषानुरूपश्च गतिप्रचारः ।

गतिप्रचारानुगतं च पाठ्यम्, पाठ्यानुरूपोऽभिनयश्च कार्यः ॥ ना०शा० १४.६८

---

१. क्षेमेन्द्र का परिचय : इस लेख के अन्त में देखिए।

—अटपटा वेष अभिनेता के फूहड़पन को द्योतित करता है—मेखला को कटि पर धारण न कर कण्ठ में धारण कर लेने से वह उपहास का पात्र बन जाता है—

अदेशजो हि वेषस्तु न शोभां जनयिष्यति ।
मेखलोरसि बन्धे च हास्यायैवोपजायते ॥ ना० शा०

—नाट्य वही सिद्ध होता है, जो 'लोकसिद्ध' एवं 'लोकस्वभावज' हो। वस्तुत, नाट्य-प्रयोगो मे 'लोक' ही प्रमाण होता है—

लोकसिद्धं भवेत्सिद्धं नाट्यं लोकस्वभावजम् ।
तस्मान्नाट्यप्रयोगेषु प्रमाणं लोक इष्यते ॥ ना० शा०

२. भामह के ग्रन्थ काव्यालंकार में भी 'औचित्य' शब्द का प्रयोग न होते हुए भी इस तथ्य के द्योतक अनेक कथन मिल जाते हैं—

—भरत ने 'नाट्य' को 'लोकस्वभावज' कहा था तो भामह के शब्दो में महाकाव्य 'लोक-स्वभाव-युक्त' होना चाहिए—

युक्तं लोकस्वभावेन रसैश्च सकलैः पृथक् । का० अ० १,२१

—दोष माना कि दोष है, किन्तु वह प्रयोग-विवेक के बल पर कहीं दोष नही रहता, और कही तो गुण बन जाता है। इस सम्बन्ध मे भामह के अनेक कथन औचित्य-तत्त्व के द्योतक हैं। दो स्थल लीजिए—

(क) सन्निवेश-विशेष के कारण सदोष कथन भी शोभित होने लगता है। जैसे पुष्पमाला के बीच-बीच गुंथा हुआ नील-पलाश भी शोभित होने लगता है—

संन्निवेशविशेषात्तु दुरुक्तमपि शोभते ।
नीलं पलाशमाबद्धमन्तराले स्रजामिव ॥ का० अ० १,५४

(ख) कोई असाधु वस्तु भी आश्रय के सौन्दर्य से अत्यन्त सुन्दर बन जाती है, जैसे —कज्जल तो स्वभावतः काला होता है, किन्तु सुन्दर स्त्री के नेत्रों मे अंजित होने पर उसकी शोभा बढ़ जाती है—

किंचिद् आश्रयसौन्दर्यात् धत्ते शोभामसाध्वपि ।
कान्ता-विन्यस्त-न्यस्तं मलीमसमिवांजनम् ॥ का० अ० १,५५

३. इसी प्रकार दण्डी ने भी दोष के निवारण तथा गुणत्व के सम्बन्ध में बहुविध सामग्री प्रस्तुत की है। उदाहरणार्थ—

कवि-कौशल के बल पर देशगत, कालगत आदि विरोध दोषत्व को छोड गुण बन जाते हैं—

विरोधी सकलोऽप्येष कदाचित् कवि-कौशलात् ।
उत्क्रम्य दोषगणनां गुणवीथिं विगाहते ॥ का० प्रा० ३.१७६

—दूसरे शब्दों में, यदि कोई कवि अपने काव्य में इन दोषों का औचित्य देखते हुए इनका प्रयोग जानबूझ कर करता है तो वहाँ ये दोष गुण बन जाते हैं।[1]

—दोष और गुण के विधि-दर्शित मार्ग का विवेक-पूर्वक आचरण करने वाला व्युत्पन्न-मति कवि दूसरों को वश करने वाली अपनी वाणी के द्वारा ठीक उसी प्रकार [कविता-रूपी रमणी का] रमण करता है, और कीर्ति को भी प्राप्त करता है, जैसे दोष और गुण के विधि-दर्शित मार्ग का अनुकरण करने वाला व्युत्पन्न-मति धन्य युवा दूसरों को वश में करने वाली अपनी वाणी के द्वारा मदिरेक्षणाओं (रमणियों) का रमण करता है, तथा कीर्ति का भागी बनता है।[2]

४. उद्भट ने भी यद्यपि 'औचित्य' शब्द का प्रयोग नहीं किया, किन्तु ऊर्जस्वि अलंकार के लक्षण में प्रयुक्त 'अनौचित्य' शब्द[3] प्रकारान्तर से इस तथ्य का सूचक है कि उनके युग में 'औचित्य-तत्त्व' किसी रूप में पनप रहा था।

---

१. इनसे पूर्व भामह (काव्यालंकार ४.१४) और बाद में रुद्रट (काव्यालंकार ६.२१,२६) मम्मट और विश्वनाथ (का० प्र० ७ म उ० तथा सा० द० ७ म परि०) ने भी इसी प्रकार की धारणाएं प्रस्तुत की हैं। उदाहरणार्थ—

अन्येषामपि दोषाणामित्यौचित्यान्मनीषिभिः ।
अदोषता च गुणता ज्ञेया चानुभयात्मता॥ सा० द० ७.३२

यहां यह उल्लेख्य है कि आनन्दवर्धन ने नित्य और अनित्य दोष की व्यवस्था की है कि 'श्रुतिकटु' आदि दोष काव्य में अनित्य हैं, तो 'च्युतसंस्कृति' आदि दोष नित्य हैं—

श्रुतिदुष्टादयो दोषा अनित्या ये च दर्शिताः ।
ध्वन्यात्मन्येव शृंगारे ते हेया इत्युदाहृताः ॥ ध्वन्या० २.११

२. व्युत्पन्नबुद्धिरमुना विधिदर्शितेन,
मार्गेण दोषगुणयोर्वशवर्तनीभिः ।
वाग्भिः कृताभिसरणो मदिरेक्षणाभि-
धन्यो युवेव रमते लभते च कीर्तिम् ॥ का०प्रा० ३.१८७

३. अनौचित्यप्रवृत्तानां कामक्रोधादिकारणात् ।
भावानां च रसानां च बन्ध ऊर्जस्वि कथ्यते ॥ का० सा० स० ४ र्थ वर्ग

अर्थात् ऊर्जस्वि अलंकार वहां माना जाता है जब काम, क्रोध आदि के [अनुचित प्रयोग] के कारण रसों और भावों की अनौचित्यपूर्ण रचना की जाए।

५. इनके उपरान्त काव्याचार्यों में रुद्रट ने संभवतः सर्वप्रथम[1] 'औचित्य' और 'अनौचित्य' शब्द का प्रयोग करते हुए औचित्य की महत्ता का स्पष्ट संकेत किया है। उनके कथनानुसार—

—वैदर्भी और पांचाली वृत्तियों का प्रेयान्, करुण, भयानक और अद्भुत रसों में तथा लाटीया और गौडीया का रौद्र रस में प्रयोग औचित्य-पूर्वक करना चाहिए—

वैदर्भीपांचाल्यौ प्रेयसि करुणे भयानकाद्भुतयोः।
लाटीयागौडीये रौद्रे कुर्याद् यथौचित्यम् ॥ का० अ० १५.२०

—इसी प्रकार अनुप्रास अलंकार की पाँचों जातियों के संबंध में भी उनका कथन है कि इनका प्रयोग और त्याग औचित्य का पूरा-पूरा ध्यान रखते हुए करना चाहिए—

एताः प्रयत्नादधिगम्य सम्यगौचित्यमालोच्य तथार्थसंस्थम्।
मिश्राः कवीन्द्रैरघनाल्पदीर्घाः कार्या मुहुश्चैव गृहीतमुक्ताः ॥[2]
—का० अ० २.३२

अब 'अनौचित्य' शब्द का प्रयोग लीजिए। रुद्रट के अनुसार ग्राम्य वहाँ दोष माना जाता है जहाँ कुल, जाति, विद्या, वित्त, आयु, स्थान और पात्र इन [आठों विषयों] में व्यवहार, आकार, वेश और वचन का अनौचित्य हो—

---

१. भोजराज ने शृंगारप्रकाश में निर्दिष्ट किया है कि राजा यशोवर्मा ने अपने 'रामाभ्युदय' नाटक में सर्वप्रथम 'औचित्य' शब्द का प्रयोग किया है—

औचित्यं वचसां प्रकृत्यनुगतं, सर्वत्र पात्रोचिता,
पुष्टिः स्वावसरे रसस्य च, कथामार्गे न चातिक्रमः।
शुद्धिः प्रस्तुतसंविधानकविधौ, प्रौढिश्च शब्दार्थयोः
विद्वद्भिः परिभाव्यतामवहितैः एतावदेवास्तु नः ॥
—शृंगारप्रकाश (२), पृष्ठ ४११

२. अर्थात्, महान् कवियों द्वारा इन पाँचों वृत्तियों—मधुरा, प्रौढा, परुषा, ललिता और भद्रा—को प्रयत्नपूर्वक समझकर, इनके (पात्र-गत) औचित्य की तथा अभिधेयार्थ की अनुकूलता को देखकर इनका प्रयोग कहीं मिश्रित अर्थात् परस्पर संयुक्त रूप से, कहीं अल्प तथा कहीं दीर्घ रूप से करना चाहिए, तथा कहीं इनका प्रयोग करके फिर छोड़ देना चाहिए, [जिससे निरूपण-शैली में एकरूपता रहे।]

ग्राम्यत्वमनौचित्यं व्यवहाराकारवेषवचनानाम् ।
देशकुलजातिविद्यावित्तवय:स्थानपात्रेषु ॥ का०अ० ११.६

केवल इतना ही नहीं, रुद्रट ने भी भामह और दण्डी के अनुरूप दोषों के गुणत्व-प्रसंग का सम्यक् निरूपण करते हुए[1] प्रकारान्तर से 'औचित्य'-विषयक पूर्व-मान्यताओं की पुष्टि की है। इसके अतिरिक्त उन्होंने श्लेष अलंकार के प्रयोग के संबंध में भी जिन नियमों का निर्देश किया है, वे भी प्रकारान्तर से औचित्य-तत्त्व की ओर संकेत करते हैं।[2]

× × ×

६. इन सबके पश्चात् आनन्दवर्धन ने अलंकार, गुण, संघटना, प्रबन्ध, वृत्ति (रसवृत्ति) तथा भाषा के प्रयोग के औचित्य पर पर्याप्त प्रकाश डालते हुए क्षेमेन्द्र के लिए इस तत्त्व को प्रतिपादित करने का द्वार खोल दिया। विशिष्ट स्थल लीजिए—

अलंकार का औचित्य इसी में है कि वह रस, भाव आदि के तात्पर्य (चमत्कार-वृत्ति) का साधन बन कर रहे।[3] अलंकार का बन्ध रस को ध्यान में रखते हुए ऐसे सहज भाव से होना चाहिए कि रचना करते समय न तो कवि को इसके समावेश के लिए कोई पृथक् अभ्यास करना पड़े, और न ही पाठक को कोई अलंकार-विशेष पृथक् रूप से आभासित हो सके।[4] इसके अतिरिक्त अलंकार के प्रयोगौचित्य के सम्बन्ध में आनन्दवर्धन ने अनेक नियम भी निर्धारित किये हैं। (देखिए प्रस्तुत ग्रन्थ, पृष्ठ १८७-१६०)

गुण का औचित्य इसी में है कि गुण रस का धर्म बनकर रहे। शृंगार आदि कोमल रसों के आस्वाद से क्षण भर पूर्व घटित सहृदय के चित्त की 'द्रुति' माधुर्य गुण कहाती है। इसी प्रकार रौद्र आदि कठोर रसों के आस्वाद से क्षण भर पूर्व घटित—सहृदय के चित्त की—'दीप्ति' ओज गुण कहाती है। इसके अतिरिक्त माधुर्य गुण की अभिव्यञ्जना, कोमल वर्ण-योजना के माध्यम से भी, प्रकारान्तर से होती है, जिसका प्रयोग शृंगार आदि कोमल रसों में करना चाहिए। इसी

१.२. काव्यालंकार ६, ४७, ४ ३५

३. रसभावादितात्पर्यमाश्रित्य विनिवेशनम् ।
अलंकृतीनां सर्वासामलंकारत्वसाधनम् ॥ ध्वन्या० ३.६

४. रसाक्षिप्ततया यस्य बन्धः शक्यक्रियो भवेत् ।
अपृथग्यत्ननिर्वर्त्यः सोऽलंकारो ध्वनौ मतः ॥ ध्वन्या० २.१७

प्रकार ओज गुण की अभिव्यञ्जना, कठोर वर्णयोजना के माध्यम से भी, प्रकारान्तर से होती है, जिसका प्रयोग रौद्र आदि कठोर रसों में करना चाहिए। शब्दार्थ की स्वच्छता को—चाहे वह किसी रस में हो—प्रसाद गुण कहते हैं।[1]

संघटना से आनन्दवर्धन का अभिप्राय है असमासा, मध्यमसमासा, और दीर्घसमासा रचना। सघटना का औचित्यपूर्ण प्रयोग इसी में है कि वह माधुर्य आदि गुणों के आश्रित रहकर रसाभिव्यक्ति में सहायक बने। इसका प्रयोग वक्ता, वाच्य, विषय और रस—इन चारों के औचित्य को ध्यान में रखकर करना चाहिए।[2]

वृत्ति का औचित्य भी इसी में है कि वह रस आदि के अनुकूल प्रयुक्त हो। वृत्ति से आनन्दवर्धन का तात्पर्य है—भारती, आरभटी, सात्त्वती और कैशिकी नामक नाट्यवृत्तियां, तथा उपनागरिका, परुषा और कोमला नामक अनुप्रास-जातियां।[3]

[उपनागरिका आदि को मम्मट ने क्रमशः वैदर्भी, गौडी और पाञ्चाली नाम भी दिया है।]

प्रबन्ध (प्रबन्ध-ध्वनि) के औचित्य के सबन्ध में आनन्दवर्धन का कथन है कि इसका कथानक—चाहे इतिहास, पुराण आदि पर आश्रित हो, अथवा कवि-कल्पित हो—औचित्यपूर्ण होना चाहिए, और इसका एकमात्र उपाय है कि कथानक रस के अनुकूल हो। इसकी सिद्धि के लिए आनन्दवर्धन ने निम्नोक्त पाच अभिव्यजक हेतु बताये हैं[4] —

(१) विभाव, अनुभाव, सचारिभाव और स्थायिभाव के औचित्य से ऐतिहासिक अथवा कल्पित कथा-शरीर का सुन्दर निर्माण।

(२) ऐतिहासिक कथाओं में रस के प्रतिकूल कथाओं का त्याग कर उनके स्थान पर—यदि आवश्यकता पड़े तो—अन्य प्रसगों का समावेश।

---

१. ध्वन्यालोक २. ७-१० (विशेष विवरण के लिए देखिए पृष्ठ १२०-१२३)

२. वक्ता अर्थात् काव्य-नाटक के पात्र। वाच्य अर्थात् काव्य-नाटक का प्रतिपाद्य विषय। विषय अर्थात् महाकाव्य, खण्डकाव्य, मुक्तक, गद्यकाव्य, चम्पू आदि काव्य-प्रकार।

३. रसाद्यनुगुणत्वेन व्यवहारोऽर्थशब्दयोः।
औचित्यवान् यस्ता एता वृत्तयो द्विविधाः स्थिताः॥ ध्वन्या० ३.३३

४. ध्वन्यालोक ३.१०-१४

(३) शास्त्र-विधान के परिपालनमात्र के लिए नहीं, अपितु रसाभिव्यक्ति की दृष्टि से सन्धि-सन्ध्यंगों की रचना।

(४) यथावसर अंगभूत रसों के उद्दीपन अथवा प्रशमन द्वारा अंगीभूत रस का अनुसन्धान (पोषण)।

(५) रसानुरूप अलंकार-योजना।

प्रबन्ध का कथानक रस के प्रतिकूल नहीं होना चाहिए। यह प्रतिकूलता (अनौचित्य) निम्नोक्त रूपों में घटित हो सकती है—

(१) जब अंगों के स्थान पर अंग का वर्णन अति विस्तृत हो जाए। उदाहरणार्थ, शिशुपालवध का प्रकृत रस है तो वीर रस, किन्तु उसमें शृंगार रस के विभिन्न रूपों— ऋतु, उपवन, मज्जन, प्रभात-वर्णन आदि—का वर्णन विस्तार से हो गया है। वस्तुतः शृंगार रस तो इस महाकाव्य में अंगभूत है और वीर रस अंगीभूत है। इस प्रकार यहां प्रमुख रस गौण हो गया है।

(२) अंगी अर्थात् प्रधान व्यक्ति के अननुसन्धान से—उसे विस्मृत कर कर देने से—भी प्रबन्ध-काव्य में अनौचित्य आता है। जैसे रत्नावली नाटिका के चतुर्थ अंक में कंचुकी बाभ्रव्य के आ जाने पर नायक उदयन विजयवर्मा के वृत्तान्त को सुनने में लग जाता है, और नाटक की नायिका रत्नावली (सागरिका) को भूल जाता है।

(३) अनंग का, अर्थात् रस की अनुपकारक वस्तु का, वर्णन भी प्रबन्ध में अनौचित्य का कारण बनता है। जैसे—कर्पूरमंजरी नाटक में राजा स्वयं अपने द्वारा तथा नायिका द्वारा किये गये वसन्त-वर्णन का अनादर करके—अर्थात् उसे कवित्वपूर्ण स्वीकार न करके—वन्दियों द्वारा किये गये वसन्त-वर्णन की प्रशंसा करता है।

(४) प्रकृति में व्यत्यय से, अर्थात् काव्य-नाटक के मुख्यपात्र के स्वभाव में परिवर्तन करने से, भी औचित्य की हानि होती है। जैसे— धीरोदात्त, धीरोद्धत, धीरप्रशान्त और धीरललित नायकों के, अथवा दिव्य, अदिव्य नायकों के स्वभाव को परिवर्तित करके दिखा देना, आदि।[1]

---

१. ज्ञातव्य है कि प्रबन्धौचित्य के भंग करने वाले इन चारों कारणों को मम्मट ने रस-दोष-प्रकरण में स्थान दिया है। (का० प्र० ७.६२, वृत्ति)

इसके अतिरिक्त आनन्दवर्धन ने भाषा के विभिन्न अवयवों—सुबन्त, (विभक्ति), तिङन्त (क्रिया-रूप), वचन, कारक, कृदन्त, तद्धित, समास, निपात, उपसर्ग, काल आदि के सम्बन्ध में भी कहा है कि काव्य में इनके विशेष अर्थात् औचित्यपूर्ण प्रयोग द्वारा रस की अभिव्यक्ति की जा सकती है।[1] कुछ उदाहरण लीजिए —

(१) मेरे ये नेत्र तुम्हारे दर्शनमात्र से ही अनुरक्त होकर तुम्हारे इस प्रकार के (अर्थात् निष्ठुर) हृदय को न पहचान सके। ये भाग्यहीन नयन तो बस केवल रोने के लिए ही बने हैं। अब इन्हें अपने दर्शन से फिर से विकसित करने का प्रयास मत करो, यहां से हट जाओ —

अपसर रोदितुमेव निर्मिते, मा पुंसय हते अक्षिणी मे।
दर्शनमात्रोन्मत्ताभ्यां याभ्यां, तव हृदयमेवं रूपं न ज्ञातम्॥[2]

—ध्वन्या० ३.१६ वृत्ति

यहां 'अपसर' और 'मा पुंसय'— इन दोनों तिङन्त-रूपों के औचित्यपूर्ण प्रयोग के कारण काव्य-सौन्दर्य है।

मुहुरंगुलिसंवृताधरोष्ठं प्रतिषेधाक्षरविक्लवाभिरामम्।
मुखमसविवर्ति पक्ष्मलाक्ष्याः कथमप्युन्नमितं न चुम्बितं तु॥

—ध्वन्या० ३.१६ (वृत्ति), अभिज्ञान० ३.७८

[अपनी उंगली से जो ढ़पती बार-बार अपने अधरों को,
'ऊँह-ऊँह', 'न-न-न'—कुछ ऐसी ध्वनि भी करती जो,
उस रमणी के, प्यारे पलकों वाली रमणी के मुख को,
लाज के मारे कांधे से चिपके सुन्दर मुख को,
मैंने उठाया ऊपर को, पर हाय! उसे न चूम सका] — हिन्दी-रूपान्तर

यहां 'तु' ['पर हाय'!] निपात के औचित्यपूर्ण प्रयोग के कारण काव्य-सौन्दर्य है।

अस्तु! इस प्रकार आनन्दवर्धन ने 'औचित्य' के सम्बन्ध में सर्वप्रथम सर्वाधिक सामग्री प्रस्तुत करते हुए यह धारणा स्थिर की कि विभिन्न काव्य-तत्वों का औचित्य इसी में है कि इनका रसानुकूल प्रयोग किया जाए, और इस प्रकार उन्होंने

---

१. ध्वन्यालोक ३.१६ तथा वृत्ति
२. प्राकृत से रूपान्तर

औचित्यपूर्ण प्रयोग के बल पर ही अलंकार और गुण अपने-अपने नाम के वास्तविक अधिकारी हैं, अन्यथा नहीं। सच्चे अर्थों में अलंकार उसे कहना चाहिए जिसका उचित स्थान पर विन्यास किया गया हो, और गुण भी वही मानना चाहिए जो औचित्य से सम्पन्न हो—

उचितस्थानविन्यासादलंकृतिरलंकृतिः ।
औचित्यादच्युता नित्यं भवन्त्येव गुणाः गुणाः ॥ ५

ऐसा अलंकार व्यर्थ है, और ऐसा गुण भी मिथ्या है, जिसका जीवित औचित्य न हो, अर्थात् जिसका प्रयोग औचित्यपूर्ण नहीं किया गया —

काव्यस्यालमलंकारैः किं मिथ्यागणितैर्गुणैः ।
यस्य जीवितमौचित्यं विचिन्त्यापि न दृश्यते ॥ ४

अर्थ (वर्ण्य विषय) के औचित्य के अनुरूप अलंकार-प्रयोग के द्वारा कवि का सुन्दर कथन इस प्रकार शोभित हो उठता है, जिस प्रकार पीन-स्तन पर धारण किये हुए हार से कोई मृगनयनी सुन्दरी शोभित होती है —

अर्थौचित्यवता सूक्तिरलंकारेण शोभते ।
पीनस्तनस्थितेनेव हारेण हरिणेक्षणा ॥ १५

ठीक इसी प्रकार के कथन क्षेमेन्द्र ने लगभग सभी काव्यांगों के सम्बन्ध में कहे हैं। रस के औचित्य के सम्बन्ध में इसी प्रकार के निम्नोक्त दो कथन प्रस्तुत हैं—

(१) कुर्वन् सर्वाशये व्याप्तिमौचित्यरुचिरो रसः ।
मधुमास इवाशोकं करोत्यंकुरितं मनः ॥ १६

अर्थात्, औचित्यपूर्ण प्रयोग के कारण रस रुचिर रूप में प्रस्तुत होकर सहृदय के मन को उस प्रकार उल्लसित करता है, जिस प्रकार वसन्त ऋतु अशोक वृक्ष को उल्लसित करती है। इसी प्रकार—

शृंगार आदि रस कौशलपूर्वक परस्पर संयोजित किये जाने पर उस प्रकार विचित्र आस्वाद को प्राप्त कराते हैं, जिस प्रकार मधुर, तिक्त आदि रस। अतः इनके परस्पर-मिश्रण में औचित्य की रक्षा अवश्य करनी चाहिए। पर अनौचित्य के स्पर्श मात्र से भी [दूषित] रसों का मिश्रण भला किसे अभीष्ट हो सकता है?

(२) यथा मधुरतिक्ताद्या रसाः कुशलयोजिताः ।
विचित्रास्वादतां यान्ति शृंगाराद्यास्तथा मिथः ॥
तेषां परस्पराश्लेषात् कुर्यादौचित्यरक्षणम् ।
अनौचित्येन संस्पृष्टः कस्येष्टो रससंकरः ॥ १७, १८

अब औचित्य के स्वरूप को समझने के लिए कतिपय उदाहरण लीजिए—

> चलापांगां दृष्टिं स्पृशसि बहुशो वेपथुमतीम्,
> रहस्याख्यायीव स्वनसि मृदु कर्णान्तिकचरः ।
> करं व्याधुन्वत्याः पिबसि रतिसर्वस्वमधरं,
> वयं तत्त्वान्वेषान्मधुकर हतास्त्वं खलु कृती ॥[1] १

यहां भ्रमर का स्वाभाविक वर्णन किये जाने के कारण स्वभावोक्ति अलंकार है, और यह अलंकार 'अभिलाष' नामक विप्रलम्भ शृंगार रस का पोषण कर रहा है। अतः यहां इसका प्रयोग औचित्य-पूर्ण रूप में हुआ है।

एक अन्य उदाहरण लीजिए—र और ल जैसे कोमल वर्णों की आवृत्ति से जन्य अनुप्रास अलंकार का प्रयोग विप्रलम्भ शृंगार में तो औचित्यपूर्ण है, जैसे—

> अपसारय घनसारं कुरु हारं दूर एव किं कमलैः ।
> अलमलमालि मृणालैरिति वदति दिवानिशं बाला ॥[2]
>
> —का० प्र० ८.३४३

किन्तु इसके विपरीत यदि शृंगार रस में टवर्ग जैसे कठोर वर्णों का अनुप्रास कर दिया जाए तो यह औचित्यपूर्ण नहीं होगा। उदाहरणार्थ, शृंगार रस के निम्नोक्त उदाहरण में अनेक शब्दों में टवार की आवृत्ति कर दी गयी है, जो कि अनौचित्य का द्योतक है—

---

(१) कोये जिनके चपल हैं, और काँप रहे जो भय से ।
बार-बार उन नयनों का, तुम भवरे स्पर्शन करते हो ॥
गुंजार मधुर हो करते तुम, पास कान के आ-आकर ।
है लगता ऐसा मुझको कि, कुछ राज़ की बातें करते हो ॥
हो चूमते इसके होठों को, जो सार बने रति-लीला के ।
है हाथों को यह छिटक रही, परवाह न कुछ भी करते हो ॥
'न करना क्या' और 'क्या करना'—हम मारे गये इन सोचों में ।
पर सचमुच तुम हो धन्य भ्रमर, निश्शंक हुए सब करते हो ॥

—(हिन्दी-रूपान्तर)

२. हे सखि ! कर्पूर को हटा दो, हार को दूर रखो, कमलों से क्या लाभ ? मृणालों को भी रहने दो—वह [विरहिणी] रात-दिन यही कहती रहती है।

चित्ते विहट्टदि ण टुट्टदि स गुणेसु
सज्जासु लोट्टदि विसट्टदि दिम्मुहेसु ।
बोलम्मि बट्टदि पवट्टदि कव्वबन्धे
झाणे ण टुट्टदि चिरं तरुणी तरट्टी ॥[1]

इसी प्रसग में भूषण कवि का निम्नोक्त पद्य लीजिए, जिसमे वीर रस के प्रसग मे अनुप्रास अलकार का प्रयोग अत्यन्त औचित्यपूर्ण हुआ है, किन्तु शृंगार अथवा करुण रस मे ऐसा प्रयोग औचित्यपूर्ण नहीं होगा

(क) दुग्ग पर दुग्ग जीतें सरजा सिवाजी गाजी,
दुग्ग नाचे दुग्ग पर रुंड मुंड फरके ।
(ख) पील सम डील जहा गिरि से गिरन लागे,
मुंड मतवारे गिरें झुंड मतवारे से ॥

उक्त तीनो पद्यो मे से 'अपसारय घनसारम् ' में माधुर्य गुण के अभिव्यजक वर्णों के प्रयोग के कारण और 'दुग्ग पर दुग्ग जीते ···' मे ओज गुण के अभिव्यजक वर्णों के कारण गुणौचित्य भी माना जा सकता है। किन्तु इसके विपरीत 'चित्ते विहट्टदि · ' मे ओज गुण के अभिव्यजक वर्णों का प्रयोग गुण के अनौचित्य का द्योतक है।

काव्य मे अलकार और गुण दोनों का प्रयोग औचित्यपूर्ण होना चाहिए— क्षेमेन्द्र ने इस मान्यता पर बल देते हुए अत्यन्त रोचक उदाहरण प्रस्तुत किए हैं — किसी नारी द्वारा गले म मेखला, नितम्बों पर हार, हाथों में नूपुर और पैरों में केयूर धारण कर लेना भला किस के लिए हास्य का विषय नहीं बनेगा ? इसी प्रकार यदि कोई वीर पुरुष शरणागत पर शौर्य और शत्रु पर करुणा दिखाए तो

---

१. चित्ते विघटते त्रुट्यति सा गुणेषु
शय्यासु लुठति विसर्पति दिङ्मुखेषु ।
वचने वर्तते प्रवर्तते काव्यबन्धे
ध्याने न त्रुट्यति चिरं तरुणी प्रगल्भा ॥ (संस्कृत-रूपान्तर)
—का० प्र ८, ३४५, कर्पूरमजरी (राजशेखर)

अर्थात्, वह प्रतिभावती तरुणी (कर्पूरमजरी) चित्त में बैठी हुई है, वह गुणों में कम नहीं है, [कभी वह मुझे अपनी] शय्या पर लटती दिखायी देती है, और कभी वह सभी दिशाओं मे घूमती फिरती है। कभी वह मेरे साथ बात करती है, और कभी काव्य-रचना मे प्रवृत्त होती है। वह कभी भी क्षणमात्र तक मेरे ध्यान से बाहर नही रहती।

उसकी यह चेष्टा भी हास्यास्पद ही है। सत्य तो यह है कि न तो अलंकार और नही गुण औचित्य के बिना रुचिकर है—

> कण्ठे मेखलया नितम्बफलके तारेण हारेण वा,
> पाणौ नूपुर-बन्धनेन चरणे केयूरपाशेन वा।
> शौर्येण प्रणते रिपौ करुणया, नायान्ति के हास्यताम्,
> औचित्येन विना रुचिं प्रतनुते, नालङ्कृतिर्नो गुणाः॥

क्षेमेन्द्र के अनुसार रस काव्य का प्राण अवश्य है, किन्तु जब तक वह भी औचित्य से रुचिर नही होता, तब तक वह सहृदयों के चित्त को आकर्षित नहीं कर सकता। इसके उदाहरण-स्वरूप, कुमारसम्भव का वसन्त-वर्णन प्रस्तुत किया जा सकता है जिसमे एक स्थल पर कवि कालिदास ने भगवान् शंकर के हृदय मे पार्वती के प्रति अभिलाषा उत्पन्न करने के लिए वसन्त का वर्णन उद्दीपन-रूप में किया है —'इस ऋतु में वनस्थली पर लाल रंग की पलाश-कलिका उस प्रकार प्रतीत हो रही है जिस प्रकार ललनाओं के अंग पर किये गये नखक्षत की शोभा।' निस्सन्देह ऐसे स्थल औचित्यपूर्ण समझे जाते हैं

> बालेन्दुवक्राण्यविकासभावाद् बभुः पलाशान्यतिलोहितानि।
> सद्यो वसन्तेन समागतानां नखक्षतानीव वनस्थलीनाम्॥ का० स० ३,२९

अब इसी तत्त्व का एक अन्य उदाहरण लीजिए —'यह विकट-नितम्बा ऐसे बज्र मूर्ख से ब्याही गयी है, जो काल-द्योतक 'मास' शब्द के स्थान पर तो 'माष' (उड़द) शब्द का उच्चारण करता है, और सस्य (माष) के लिए 'मास' शब्द का, तथा 'सकाश' (समीप) को 'शकाश' कहता है, 'उष्ट्र' बोलते समय कभी तो 'र' का लोप कर 'उष्ट' बोलता है, तो कभी 'ष' का लोप कर 'उट्र'—

> काले माषं सस्ये मासं वदति शकाशं यश्च सकाशम्।
> उष्ट्रे लुम्पति रं वा षं वा तस्मै दत्ता विकटनितम्बा॥
> —का० अ० (रु०) ६,४७ (नमिसाधु की टीका)

उक्त पद्य मे हास्य-रस-विषयक औचित्य स्वीकार किया जाता है। इसी प्रकार जयशंकर प्रसाद का एक पद्य लीजिए; जिसमे उन्होंने बीभत्स रस का औचित्यपूर्ण प्रतिपादन किया है—

> दुर्बलता इस अस्थिमांस की
> ठोंक कर लोहे से, परख कर वज्र से,
> प्रलयोल्का, खड्ग के निकस पर कस कर
> चूर्ण अस्थिपुंज सा हँसेगा अट्टहास कौन ?

साधना पिशाचों की बिखर चूर-चूर होके,
धूलि सी उड़ेगी किस दृप्त फुत्कार से।

अब एक उदाहरण रस-संकर का लीजिए—

सत्यं मनोरमा रामाः सत्यं रम्या विभूतयः।
किन्तु मत्तांगनापांगभंगलोलं हि जीवितम् ॥[1] १८ (वृत्ति)

यहां शान्त रस को अंग रूप में वर्णित करते हुए शृंगार रस की प्रस्तुति की गयी है—अतः यहां इन दोनों रसों का संकर औचित्यपूर्ण है।

तथा समक्षं दहता मनोभवं पिनाकिना भग्नमनोरथा सती।
निनिन्द रूपं हृदयेन पार्वती प्रियेषु सौभाग्यफला हि चारुता ॥ कु० स० ५.१

कालिदास के इस पद्य में महादेव के अनेक नामों में से 'पिनाकी' नाम का प्रयोग औचित्यपूर्ण है, क्योंकि पिनाक (धनुष) द्वारा ही किसी वस्तु का भंग किया जा सकता है। अतः यहां 'नामौचित्य' है। किन्तु इसके विपरीत कालिदास का ही निम्नोक्त पद्य लीजिए—

क्रोधं प्रभो संहर संहरेति
यावद् गिरः खे मरुतां चरन्ति।
तावत् स वह्निर्भवनेत्रजन्मा
भस्मावशेषं मदनं चकार ॥[3] कु० स० ३.७२

---

१ है यह सत्य कि होती मनोरम नारी
यह भी सत्य कि सम्पद् होती मनोहर है,
क्षणभंगुर यह जीवन किन्तु ऐसा—
होते चपल कटाक्ष हैं जैसे, मदमाती रमणी के।

२. कामदेव को भस्म करने वाले पिनाकी (पिनाक अर्थात् धनुष को धारण करने वाले महादेव) द्वारा जब पार्वती की मनोकामना (महादेव की प्राप्ति-रूप अभिलाषा) भग्न हो गयी तो वह हृदय से अपने रूप की निन्दा करने लगी। सत्य है *कि सुन्दरता वह जो अपने प्रियजन (पति) में सौभाग्य का फल देने* वाली हो।

३ अभी आकाश में देवगणों की यह वाणी हो रही थी कि 'हे प्रभो! क्रोध को छोड़िए' कि इतने में भव (महादेव) के नेत्र से उत्पन्न अग्नि ने कामदेव को जलाकर राख कर डाला।

इस पद्य मे 'भव' (महादेव) का यह नाम अनुचित रूप में प्रयुक्त हुआ है, क्योकि संहार के अवसर पर 'रुद्र' नाम का प्रयोग उचित था, न कि संसार के उत्पत्ति के सूचक 'भव' शब्द का।

इस प्रकार क्षेमेन्द्र ने औचित्य के विविध प्रकारो का विधान करते हुए यह प्रमाणित किया है कि इसका अनुधावन किए बिना काव्य और नाटक दोनो में रमणीयता नहीं आती।

× × ×

इस सबन्ध में यह समस्या विचारणीय है कि (१) क्या औचित्य को काव्य की आत्मा मानना सगत है, और इसी आधार पर (२) क्या इसे विशिष्ट सिद्धान्त अथवा सम्प्रदाय कहना चाहिए

हमारा विचार है कि औचित्य कोई अलग सिद्धान्त न होकर विभिन्न काव्यागो को परिष्कृत एवं उपादेय बनाने का हेतु मात्र है, गुण, अलकार, रस, आदि सभी २७ काव्य-तत्त्वों के सम्बन्ध में उनकी एक ही धारणा है कि इनका प्रयोग औचित्यपूर्वक ही होना चाहिए। इसी के बल पर यह काव्याग अपने यथावत् रूप मे प्रस्तुत हो सकते हैं, अन्यथा नहीं। निस्सन्देह क्षेमेन्द्र ने औचित्य को काव्य का 'जीवित' कहा है, किन्तु यहाँ 'जीवित' शब्द आत्मा का पर्याय नही है, अपितु इसका तात्पर्य है किसी काव्याग को उपादेय बनाने का हेतु। अतः 'औचित्य' को काव्य की आत्मा मानना संगत नहो है।

इसी सम्बन्ध में यह उल्लेख्य है कि अलकार, रीति, वक्रोक्ति और रस—इन पाँच काव्य-सिद्धान्तो के प्रवर्तक एव अनुमोदक या तो अपने मान्य सिद्धान्त के अन्तर्गत अन्य काव्य-तत्त्वों को समाविष्ट करते हैं, जैसे अलकारवादी, रीतिवादी एव वक्रोक्तिवादी, अथवा अन्य काव्यागो को अपने मान्य सिद्धान्त के परिपोषक रूप मे स्वीकृत करते हैं, जैसे ध्वनिवादी एव रसवादी। किन्तु क्षेमेन्द्र इनमे से किसी आधार को नही अपनाते। वह सभी काव्यागो को स्वीकार करते हुए केवल उनके औचित्यपूर्ण प्रयोग पर ही बल देने के पक्ष में हैं। अतः औचित्य को काव्य की आत्मा अथवा कोई स्वतन्त्र सिद्धान्त न मानकर सभी काव्य-तत्त्वों का उत्कर्षक तत्त्व ही स्वीकार करना चाहिए।

क्षेमेन्द्र का परिचय

क्षेमेन्द्र कश्मीर-निवासी थे। वे ११वीं शती के उत्तरार्द्ध में विद्यमान थे। इन के तीन ग्रन्थ प्रसिद्ध हैं—औचित्यविचारचर्चा, सुवृत्ततिलक और कविकण्ठाभरण। प्रथम ग्रन्थ मे औचित्य को लक्ष्य में रखकर इन्होने वाणी के विभिन्न

अंगों—वाक्य, गुण, रस, क्रिया, करण, लिंग, उपसर्ग, देश, स्वभाव आदि का स्वरूप निर्धारित किया है। द्वितीय ग्रन्थ में छन्द के औचित्य का निर्देश है। तीसरा ग्रन्थ कवि-शिक्षा से सम्बद्ध है। इस ग्रन्थ की ५ सन्धियों में क्रमशः कवित्व-प्राप्ति के उपाय, कवियों के भेद, काव्य के गुण तथा दोष का विवेचन है। क्षेमेन्द्र के ये ग्रन्थ लघुकाय हैं, पर इनमें काव्य के बहुविध अंगों पर प्रकाश डाला गया है।

यद्यपि 'औचित्य' कोई नया काव्य-तत्त्व नहीं है, आनन्दवर्धन 'औचित्य' शब्द को, और महिमभट्ट 'अनौचित्य' शब्द को अपने ग्रन्थों में स्थान दे आये थे, पर इसी के आधार पर समस्त कागंगों को निर्धारित कर देना क्षेमेन्द्र की मौलिक प्रतिभा का परिचायक है। कुछ विद्वान् औचित्य को भी काव्यशास्त्र का एक सिद्धान्त मानने लगे हैं, पर हमारे विचार में यह काव्यशास्त्रीय विधानों में से एक आवश्यक विधान है, यह कोई स्वतन्त्र सिद्धान्त नहीं है।

इस ग्रन्थ की हिन्दी-टीका डा० मनोहरलाल गौड ने प्रस्तुत की है। डा० सूर्यकान्त शास्त्री ने अंग्रेजी में 'क्षेमेन्द्र स्टडीज' नाम से, और श्री रामपाल विद्यालंकार ने हिन्दी में 'क्षेमेन्द्र की औचित्य-दृष्टि' नाम से क्षेमेन्द्र की मान्यताओं पर प्रकाश डाला है। 'औचित्य' को पृष्ठाधार बनाकर हिन्दी तथा संस्कृत में अनेक शोध-प्रबन्ध भी लिखे गये हैं।

OOO

१३. विश्वेश्वर-कविचन्द्रकृत 'चमत्कार-चन्द्रिका' और उसमें प्रस्तुत चमत्कार-तत्त्व

[१]

विश्वेश्वर-कविचन्द्र-कृत 'चमत्कारचन्द्रिका'[१] ग्रन्थ एक काव्यशास्त्रीय ग्रन्थ है, जिसके प्रायः सभी उदाहरणों में उन्होंने सिंगभूपाल नामक राजा की स्तुति प्रस्तुत करते हुए[२] यह ग्रन्थ उन्हें समर्पित किया है।[३] सिंगभूपाल रेचर्ल-वंश से सम्बद्ध थे।[४] इस वंश में तीन सिंगभूपाल हुए—जैसा कि 'वेलुगोटिवारिवंशचरित्र'[५] नामक ग्रन्थ में दी हुई वंशावली से प्रतीत होता है। विश्वेश्वर सिंगभूपाल द्वितीय के आश्रित कवि थे, जोकि आन्ध्र में संभवतः गौतमी नदी के निकटवर्ती किसी भूभाग के शासक थे।[६] सिंगभूपाल द्वितीय ने 'रसार्णवसुधाकर' नामक ग्रन्थ की रचना की थी। 'चमत्कार-चन्द्रिका' और 'रसार्णवसुधाकर'—इन दोनों ग्रन्थों में एक दूसरे से अनेक स्थल उद्धृत किये गये हैं। इस ग्रंथ का रचनाकाल १३३०-१४०० ईस्वी के बीच माना जा सकता है।[७] यहां यह उल्लेख्य है कि 'अलंकार-कौस्तुभ' ग्रन्थ का प्रणेता विश्वेश्वर 'चमत्कारचन्द्रिका' ग्रन्थ के प्रणेता विश्वेश्वर से भिन्न है। प्रस्तुत ग्रन्थकार १४ वीं शती ई० का है, किन्तु अलंकार-कौस्तुभकार विश्वेश्वर १८ वीं शती का।[८]

---

१. डॉ० (श्रीमती) पन्दिरि सरस्वतीमोहन द्वारा सम्पादित तथा 'मेहरचन्द लछमनदास' दिल्ली-६ द्वारा सन् १९७२ में प्रकाशित।

२. भुजया कम्पितं सालकरालकरवालया।
भासते सिंगभूपालो भद्रश्रीरिव शालया॥ च० च० २.२९

३. च० च० के आठों विलासों की पुष्पिका से इसी तथ्य की पुष्टि होती है। उदाहरणार्थ—
'इति सरससाहित्यचातुरीधुरीणश्रीविश्वेश्वरकविचन्द्रप्रणीतायां श्रीसिंगभूपाल-कीर्तिसुधासारशीतलायां चमत्कारचन्द्रिकायां वर्णपदविवेको नाम प्रथमो विलासः १'

४. रेचर्लान्वयमौलिमण्डनमणे श्रीसिंगभूपालक। च० च० १२०
राजा रेचर्लवंशस्यं कुमुदं परम्। च० च० ८.१००

५. तेलुगु-भाषा में लिखित इस इतिहास-ग्रन्थ के प्रणेता वेल्लाल सदाशिवशास्त्री तथा मनवानम शेषशास्त्री हैं।

६,७. देखिए—सम्पादिका महोदया की भूमिका (पृष्ठ २-११)

8. Some Concepts of Alumkāra shāstra (V. Ragavan) P. 270

'चमत्कार-चन्द्रिका' ग्रन्थ कारिका-वृत्ति-शैली में लिखित है। उदाहरण-भाग प्रायः सिंगभूपाल की स्तुति का निर्देशक है। इस ग्रन्थ में आठ विलास हैं—

प्रथम विलास का नाम 'वर्णपदविवेक' है। मंगलाचरण में वाग्देवी और कविता की स्तुति के पश्चात् सिंगभूपाल का उल्लेख किया गया है। फिर काव्य-लक्षण पर प्रकाश डाला गया है। चमत्कार के सात कारण हैं—गुण, रीति, रस, वृत्ति, पाक, शय्या और अलंकार, और इन्हीं सातों का ही इस ग्रन्थ में निरूपण किया गया है। वाणी का तीन प्रकार का माना गया है—वर्ण, पद और वाक्य। वर्ण, का लक्षण[1] और इसके विभिन्न भेदों—अल्पप्राण तथा महाप्राण, स्निग्ध और रूक्ष के पश्चात् अक्षर-क्रम, गुरु-लघु-विभाग, तथा वर्णों और गणों के अशुभ फल के निवारण करने के उपायों पर प्रकाश डाला गया है, तथा दोष-परिहार पर बल दिया गया है। पुनः पद का लक्षण[2] और इसके तीन भेद गिनाये गये हैं—वाचक, लक्षक और व्यंजक, तथा १५ पद-दोषों के लक्षण तथा उदाहरण प्रस्तुत किये गये हैं। इन दोनों में से निम्नोक्त चार दोष नये प्रतीत होते हैं—अपभ्रष्ट, अनिश्चित, देश्य और प्रतिहृन्तक। शेष ११ दोषों में से निम्नोक्त तीन भेद—जुगुप्सित, अकल्याण और व्रीडाकर नये भेद नहीं हैं, अपितु मम्मट-प्रस्तुत अश्लील नामक दोष के तीन भेद हैं। इनके अतिरिक्त शेष ८ भेद भी वही हैं जो कि मम्मट ने प्रतिपादित किये हैं।

द्वितीय विलास में वाक्य का लक्षण[3] और इसके दो भेदों—लक्षक और व्यंजक—के निर्देश के बाद १३ वाक्य-दोषों के लक्षण तथा उदाहरण दिये गये हैं। इनमें से निम्नोक्त तीन दोष नये प्रतीत होते हैं—दूरान्वय, विकल और केवल। शेष दस दोष मम्मट-प्रतिपादित हैं। इस विलास का नाम पुष्पिका में नहीं दिया गया। इसे विषयानुसार 'वाक्यदोषविवेक' नाम दे सकते हैं।

तृतीय विलास का नाम यद्यपि पुष्पिका में 'अर्थगुण-दोष-प्रबन्ध-विशेष-विवेक' है। किन्तु इसमें उक्त प्रसंगों में से केवल अर्थ-दोषों का स्वरूप प्रस्तुत किया गया है। अतः इसे 'अर्थदोष-विवेक' नाम देना चाहिए। अर्थ के तीन भेदों—वाच्य, लक्ष्य और व्यंग्य—के निर्देश के बाद इस विलास में १६ अर्थदोषों पर प्रकाश डाला गया है। इन में से निम्नोक्त दो दोष नए प्रतीत होते हैं—अतिमात्र और अनुज्ज्वल। शेष चौदह भेद मम्मट-प्रतिपादित हैं। अर्थ-दोषों के प्रतिपादन के

---

१. अकारादि-हकारान्ता वर्णास्स्युर्मातृकाह्वयाः। च० च०, पृष्ठ ३

२. विभक्त्यन्तं पदम्। च० च०, पृष्ठ ६

३. समन्वितपद वाक्यम्। च० च०, पृष्ठ ३२

बाद ग्रन्थकार ने न जाने क्यों विषय का क्रम-भंग करते हुए अनायास काव्य का लक्षण प्रस्तुत करने के बाद चमत्कार के तारतम्य के आधार पर काव्य के तीन भेद प्रस्तुत किये हैं—चमत्कारी, चमत्कारितर, चमत्कारितम। फिर काव्य के तीन भेद दिये गये हैं—गद्य, पद्य और मिश्र। मिश्र के दो भेद हैं—प्रेक्ष्य और श्रव्य। प्रेक्ष्य के दो भेद हैं—रूपक और उपरूपक। श्रव्य के भी दो भेद हैं—चम्पू और उपचम्पू तथा उपचम्पू के आठ भेद हैं।

चतुर्थ विलास का नाम 'गुण-विवेक' है। इसमें गुण का लक्षण तथा २३ गुणों का स्वरूप प्रस्तुत किया गया है। जिस प्रकार रूप आदि शरीर के स्वरूप के उत्कर्ष के हेतु होते हैं उसी प्रकार श्लेष आदि गुण भी [शब्दार्थ-रूप] काव्य-शरीर के उत्कर्ष के हेतु होते हैं।[1] इन गुणों में से दस तो वही हैं जो भरत, दण्डी और वामन ने प्रस्तुत किये थे, शेष १३ गुणों के नाम इस प्रकार हैं—उदात्त, प्रेयान्, औजित्य, सौक्ष्म्य, गाम्भीर्य, विस्तार, संक्षेप, शब्द-संस्कार, भाविक, सम्मित, गति, उक्ति और रीति। प्रायः सभी गुणों के स्वरूप-निर्देश में भोजराज-कृत 'सरस्वती-कण्ठाभरण' का आधार लिया गया है।

गुण-निरूपण के बाद रीति, वृत्ति, पाक और शय्या का निरूपण है। रीति कहते हैं—पदों की घटना को। इसकी व्युत्पत्ति 'रीङ् गतौ' धातु से है, जिसके द्वारा [कविजन काव्य-पथ पर] गमन करते हैं—'ईर्यते गम्यते अनया इति रीतिः'—

रीतिः पदानां घटना प्रोक्ता रीतिविशारदैः।
रीङ् गताविरयतो धातोरागता रीतिरीर्यते॥ च० च०, पृष्ठ ६५

इसके तीन भेद हैं—असमासा, मध्यमसमासा और अतिदीर्घसमासा[2]। वृत्ति उस व्यापार या व्यवहार को कहते हैं जो कि किसी पात्र द्वारा चित्त की निम्नोक्त चार अवस्थाओं में किया जाता है—विकास, विक्षेप, संकोच और विस्तार।[3] इसके छह भेद हैं — कैशिकी, आरभटी, भारती, सात्त्वती, मध्यमा आरभटी तथा मध्यमा कैशिकी। पाक कहते हैं वचन की ऐसी परिपक्वता को, जो कि आस्वाद में मेदुर हो, अर्थात् जो फूलकर कोमल बन चुकी हो। समास के आधार पर पाक दो प्रकार

---

१. रूपादय इवांगस्य स्वरूपोत्कर्षहेतवः।
काव्यस्यैताद् हि जानन्ति गुणान् गुणविवेकिनः॥ च० च०, ४ र्थ वि० (पृष्ठ ८३)

२. ये तीनों भेद सर्वप्रथम आनन्दवर्धन ने 'संघटना' के गिनाये थे। (ध्वन्यालोक ३.५)

३. या विकासे च विक्षेपे विक्षोभे विस्तरे तथा।
चेतसो वर्तयित्री स्यात् सा वृत्तिस्सापि षड्विधा॥ च० च० ४ र्थ वि०

का होता है—मृदु-पाक और खर-पाक।[1] शय्या कहते हैं पदों की ऐसी परस्पर-मैत्री को—समन्वित स्थिति को—कि जिसे [इधर-उधर] परिवर्तित नहीं कर सकते।[2]

पंचम विलास का नाम रस-विवेक है, जिसमें रस के लक्षण, उसकी महत्ता और आठ रसों की गणना के पश्चात् शृंगार रस की प्रधानता निर्दिष्ट की गयी है। फिर, तीन प्रकार की उक्तियों—वक्रोक्ति, रसोक्ति, स्वभावोक्ति—में से रसोक्ति की प्रधानता प्रतिपादित की गयी है। रसोक्ति दस प्रकार की है—सत्ता, स्फुरता, अनुबन्ध, निष्पत्ति, पुष्टि, संकर, ह्रास, आभास, शम और शेष। फिर, रसानुभाव पर प्रकाश डाला गया है, और अन्ततः, रस को निम्नोक्त आठ प्रकार के प्रमाणों के आधार पर सिद्ध करने का प्रयास किया गया है—प्रत्यक्ष, अनुमान, आगम, उपमान, अर्थापत्ति, सम्भव, ऐतिह्य, और अभाव। अब कुछ महत्त्वपूर्ण स्थल लीजिए—

—'रस कहते हैं उस अलौकिक आस्वाद को, जो कि [कवि और नट के संविधानक चातुर्य (अर्थात् काव्य-रचना एवं अभिनय की कुशलता) के कारण साक्षात् रूप से ही [सामाजिक को] परिस्फुरित (आह्लादित) कर रहा होता है। साक्षात् रूप से तात्पर्य है कि सामाजिक काव्य के पठन के समय मानो वास्तविक घटना को ही अपनी आंखों से देख रहा होता है, और दृश्य-काव्य में रंगमंच पर अभिनीत घटनाओं को भी वह वास्तविक रूप में घटित होता अनुभव कर रहा होता है। इसी के सद्भाव से ही काव्य-सौन्दर्य निखर उठता है तथा इसी के बल पर कवि की कीर्ति अनन्त काल तक स्थिर रहती है। 'रसो वै सः'[3] इस श्रुति के आधार पर रस ब्रह्मानन्द के समकक्ष है।'[4]

---

१. पाकं वाचां परीपाकमाहुरास्वादमेदुरम्।
सोऽयं मृदुः खरश्चेति समासेन द्विधा भवेत्॥ च० च०, ४ र्थ वि०, पृष्ठ १०२

२. शय्या पदानामन्योन्यमैत्री विनिमयासहा।
साहित्यस्य पराकाष्ठा शय्या देशविभेदतः॥
लोके प्रसिद्धिमित्येषा प्राप्तंशय्येति कीर्तिता॥ च० च०, ४ र्थ वि०

३ तैत्तिरीयोपनिषद्, प्रश्न २, अनुवाक ७

४. संविधानकचातुर्यात् साक्षादिव परिस्फुरन्।
अलौकिकरसमास्वादो यस्मात्सोऽत्र रसो मतः॥
तदन्वयेन काव्यश्रीः कमनीयत्वमागता।
आकल्पान्तरमाकल्पं कीर्तिं कल्पयते कवेः॥
'स वै रस' इति श्रुत्या ब्रह्मणस्समकक्षया।
प्रोक्तो रसस्स्वयं भाग्यात् कैश्चिदेवानुभूयते॥ च० च०, ५ म वि०, पृष्ठ १०७

—रस का भोक्ता सहृदय होता है, जो कि मात्र उसी के निजी अनुभवों द्वारा आस्वादित किया जाता है। उसके स्वरूप का निर्देश कर सकना असम्भव है। क्षीर-सागर को कण्ठ तक पीकर ब्रह्मा भी उसकी 'मधुरता इतनी है' इसका वर्णन नहीं कर सकता। रस के अस्तित्व का सबसे बड़ा प्रमाण तो सहृदय की स्वानुभूति ही है। इसलिए रस को 'विगलित-वेद्यान्तर' कहकर सन्तोष कर लिया गया है, अर्थात् अन्य किसी भी प्रकार का ज्ञान इस रस की अनुभूति के समय नहीं होता।[1]

—जिस प्रकार तिक्तादि में मधुर रस सर्वप्रथम है उसी प्रकार शृंगार रस हास्यादि आठ काव्य-रसों में सर्वप्रमुख है।[2]

षष्ठ, सप्तम और अष्टम विलासों में क्रमशः ग्यारह शब्दालंकारों, बीस अर्थालंकारों और चौबीस उभयालंकारों का प्रतिपादन है। जिस प्रकार मानव-शरीर के [किसी] एक अंग पर पहने हुए कटक आदि आभूषण सारे शरीर को अलंकृत करते हैं उसी प्रकार [अनुप्रास, उपमा आदि] अलंकार भी काव्य के [किसी] एक अंग से सलग्न होते हुए भी [समस्त] काव्य को अलंकृत करते हैं।[3] केवल शब्द को अलंकृत करने वाले अलंकारों को इन्होंने शब्दालंकार माना है और अर्थ को अलंकृत करने वाले अलंकारों को अर्थालंकार।[4] श्लेष, अनुप्रास, यमक आदि शब्दालंकार हैं, तो विभावना, हेतु, सूक्ष्म, अर्थापत्ति अलंकारों को इन्होंने उभयालंकार कहा है, क्योंकि इनमें 'इव' आदि शब्दों का प्रयोग किया जाता है।[5] इनका यह दृष्टिकोण भोजराज के सरस्वतीकण्ठाभरण के अनुरूप है।

---

१. ननु कोऽयमाकारो रसस्य येनायं भावुकमानसैरनुभूयत इति चेत् स्वस्यानुपभवैक-निवेदनीये तस्मिन्नाकारे कथमस्मादृशां वाचो व्यापारमापूरयेयुः। न हि क्षीर-सागरमागलं पिबन्नपि न माधुरी-विशेषम् इदन्तया निर्वक्तुं ब्रह्मापि शक्नोति। किन्तु विगलितवेद्यान्तरत्वमिति यच्चन्द्रपरिपाटी मनसि मुहुरावर्तयता भावना-सिद्धिपर्यन्त सन्तोष्टव्यमापुष्मता। —च० च०, ५ म वि०, पृष्ठ १२७

२. मधुररससर्वसम्मत्या तिक्तादिषु रसेष्विव।
हास्यादिषु च शृंगारो रससाम्राज्यमर्हति॥ च० च० ५ म, पृष्ठ १०७

३. एकदेश गतास्सर्वं शरीर कटकादिवत्।
अलङ्कुर्वन्ति ये काव्य तेऽलंकारतया मताः॥ च० च० पृष्ठ १३२,

४ अलमर्थानलंकर्तुं ये तदाश्रयशोभिनः।
ये तु आत्यादयः प्रोक्तास्तेऽर्थालंकार संज्ञया॥ च० च०, ७ म वि०, पृष्ठ १४६

५. शब्देभ्यो य इवादिभ्यो उपमादिः प्रतीयते।
विशिष्टार्थः कवीनां ता उभयसंक्रिया मताः॥ च० च०, ८ म, वि०, पृष्ठ १८६

[२]

इस प्रकार चमत्कार-चन्द्रिका ग्रन्थ का सामान्य अवलोकन करने के उपरान्त हम 'चमत्कार' नामक काव्य-तत्त्व को लेते हैं, जिसे लक्ष्य मे रखकर विश्वेश्वर ने इस ग्रन्थ का नामकरण किया है। ग्रन्थकार के अनुसार—

—काव्य का प्रयोजन है विधि और निषेध (करणीय और अकरणीय) की शिक्षा देना, किन्तु यह शिक्षा चमत्कार-युक्त होनी चाहिए। विद्वानों अर्थात् सहृदयों को आनन्द प्रदान करने वाला [काव्य-तत्त्व] चमत्कार कहाता है।

(क) नृणा विधौ निषेधे च शिक्षा काव्य-प्रयोजनम् ।
शिक्षा च सचमत्कारं चोदिता स्थिरता भवेत् ॥

(ख) चमत्कारस्तु विदुषामानन्दपरिवाहकृत् ।: च० च०, १ म वि०, पृष्ठ २

—काव्य मे चमत्कारोत्पादक निम्नोक्त सात कारण हैं—गुण, रीति, रस, वृत्ति, पाक, शय्या और अलंकार।[1] [वस्तुत.] चमत्कार-युक्त शब्दार्थ को ही काव्य कहा जाता है—वागर्थौ सचमत्कारौ काव्यं काव्यविदो विदु'।

—चमत्कार के तारतम्य के आधार पर काव्य तीन प्रकार का है—चमत्कारी[2], चमत्कारितर और चमत्कारितम।

—जहा [कवि की] विवक्षा शब्द का चारुत्व दिखाना होती है वहा 'चमत्कार' काव्य होता है।

—जहा [कवि की] विवक्षा वाच्य (अर्थ) का चारुत्व दिखाना होती है, तथा जहा 'व्यंग्य' गौण रूप मे निर्दिष्ट रहता है, वहा 'चमत्कारितर' काव्य होता है।

—जहा प्रत्येयार्थ अर्थात् व्यंग्यार्थ का चारुत्व होता है, वहा 'चमत्कारितम' काव्य होता है।[3]

बस, 'चमत्कार' के सम्बन्ध मे केवल इतना प्रतिपादन इस ग्रन्थ मे किया गया है। 'चमत्कार-युक्त शिक्षा' को काव्य का प्रयोजन मानते हुए ग्रन्थकार ने इस गन्थ

---

१. च० च०, १ म वि० पृष्ठ २.

२. यहा हिंदी के पुंलिगवाची प्रयोग के अनुसार "चमत्कारी" शब्द लिखा गया गया है। वस्तुत: इसे नपुसकलिंगवाची 'काव्य' शब्द के अनुरूप 'चमत्कारि' लिखना चाहिए।

३. (क) शब्दचारुत्वतात्पर्ये चमत्कारीति कथ्यते।
(ख) वाच्यचारुत्वतात्पर्ये चमत्कारितर मतम्।
व्यंग्यस्य च गुणीभावे तदेवाहुर्मनीषिण: ॥
(ग) प्रत्येयार्थस्य चारुत्वे चमत्कारितम मतम्।
—च० च०, ३ य वि० पृष्ठ ७३, ७४, ७७

की भूमिका बाँधी है। 'चमत्कार सहृदयाह्लाद-कारी होता है'—यह चमत्कार का लक्षण दिया है, और काव्य का लक्षण चमत्कार पर आधारित करते हुए 'चमत्कार-युक्त शब्दार्थ' को काव्य कहा है, और फिर गुण, रीति आदि उक्त सात काव्य-तत्वों का प्रतिपादन करने के उद्देश्य से इन्हें चमत्कार के उत्पादक कारण माना है, और अन्ततः, समस्त काव्य के तीन भेद इसी के तारतम्य के आधार पर प्रस्तुत कर दिये हैं कि शब्दचारुत्व (शब्दालंकारजन्य सौन्दर्य) को चमत्कारी काव्य कहते हैं, तो अर्थालंकार-जन्य सौन्दर्य को चमत्कारितर काव्य कहते हैं, साथ ही, गुणीभूतव्यंग्य काव्य का चमत्कार भी इसी दूसरे भेद के अन्तर्गत है। प्रतेय (व्यंग्यार्थ) की प्रधानता चमत्कारितम काव्य कहाती है।

स्पष्ट है कि काव्य के इन तीनों भेदों के लिए विश्वेश्वर अपने पूर्ववर्ती आचार्यों—मूलत आनन्दवर्धन तथा उनसे प्रभावित मम्मट—के ऋणी हैं, किन्तु कुछ अन्तर के साथ। उन्होंने काव्य के तीन भेद माने हैं—ध्वनि-काव्य, गुणीभूतव्यंग्य काव्य और चित्रकाव्य। चित्रकाव्य के अन्तर्गत शब्दालंकारों और अर्थालंकारों का सौन्दर्य ग्रहण किया जाता है। पर इन्होंने उनके अनुरूप 'ध्वनि-काव्य' को तो चमत्कारितम कहा है, किन्तु गुणीभूतव्यंग्य-काव्य को, तथा साथ ही, अर्थचित्र-काव्य (अर्थालंकारों) को भी, इन्होंने 'चमत्कारितर' कहा है, और केवल शब्द-चित्र को 'चमत्कारी' कहा है। गुणी-भूतव्यंग्यकाव्य के आठ भेद वही गिनाये गये हैं जोकि आनन्दवर्धन और मम्मट ने माने हैं। ग्रन्थकार ने आनन्दवर्धन के प्रभाव को तो स्पष्टतः स्वीकार भी किया है। काव्य के तीनों भेदों के प्रतिपादन के उपरान्त चमत्कारितम काव्य (ध्वनि-काव्य) के विभिन्न भेदों का स्वयं उल्लेख न करके यह लिखा है कि इसका भेद-प्रपंच ध्वन्यालोक आदि ग्रन्थों में देखना चाहिए—अत्र भेदप्रपञ्चस्तु ध्वन्यालोकादिग्रन्थेषु द्रष्टव्यः।

अब 'चमत्कार' के संबंध में कुछ तथ्य लीजिए।[1] डा० वी॰ राघवन के कथनानुसार[2] 'रस' के समान 'चमत्कार' शब्द भी पाकशास्त्र से आया प्रतीत होता है।

---

१. द्रष्टव्य : Some Concepts of Alamkara shastra (V. Raghavan) : Camatkāra.

2 It is a striking coincidence, that like the concept of Rasa, the concept of Camatkāra also came into Alamkārashāstra from the Pākashāstra × × × ×. It appears to me that originally the word Camatkāra was an Onomatopoic word referring to the clicking sound we make with our tongue when we taste something snappy, and in the course of its semantic enlargements, Camatkāra came to mean a sudden Fillip relating to any feeling of a pleasurable type.

—S.C.A. Sh., Page 269

चमत्कार शब्द ध्वन्यात्मक है। स्वादिष्ट भोजन खाने के बाद हम जो चटखारे लेते हैं, उसी से इस शब्द की उत्पत्ति हुई है, फिर अर्थविस्तार के बल पर यह शब्द धीरे-धीरे किसी भी प्रकार के आनन्द का वाची बन गया। विश्वेश्वर से पूर्व काव्यानन्द के अर्थ में संभवत सर्वप्रथम 'चमत्कार' शब्द का प्रयोग आनन्दवर्धन ने ध्वन्यालोक में किया है, और इनके उपरान्त कुन्तक ने। इनके अतिरिक्त अभिनवगुप्त ने भी ध्वन्यालोक की टीका 'लोचन' में इस शब्द का प्रयोग इसी अर्थ में अनेक स्थलों पर किया है। इनके उपरान्त क्षेमेन्द्र ने तो अपने छोटे से ग्रन्थ कविकण्ठाभरण की तृतीय सधि में चमत्कार के निम्नोक्त दस भेदों का सोदाहरण प्रतिपादन किया है—अविचारितरमणीय, विचार्यमाण-रमणीय, समस्तसूक्तव्यापी, सूक्तैकदेशदृश्य, शब्दगत, अर्थगत, शब्दार्थगत, अलकारगत, रसगत और प्रख्यातवृत्तिगत।

इधर विश्वेश्वर के उपरान्त साहित्यदर्पणकार विश्वनाथ के कथनानुसार धर्मदत्त नामक आचार्य ने 'चमत्कार' को रस का सार बताते हुए सभी रसों में चमत्कार के पर्यायवाची 'अद्भुत रस' की स्थिति स्वीकार की है, तथा विश्वनाथ के प्रपितामह नारायण नामक आचार्य ने इसी कारण अद्भुत को एक मात्र रस माना है—

(क) रसे सारः चमत्कारः सर्वत्राप्यनुभूयते।
तच्चमत्कारसारत्वे सर्वत्राप्यद्भुतो रसः॥

(ख) तस्माद् अद्भुतमेवाह कृती नारायणो रसम्। सा० द० ३.६ वृत्ति

किन्तु अद्भुत रस को चमत्कार का पर्याय मानते हुए उसे सर्वव्यापी अथवा एकमात्र रस स्वीकार करना समुचित नहीं है। 'चमत्कार' अथवा अद्भुत तत्त्व की सत्ता निस्सदेह सभी रसों में रहती है, किन्तु इसे किसी विशिष्ट रस का नाम देकर सर्वोत्कृष्ट स्थान प्रदान करना एक ओर अद्भुत तत्त्व (चमत्कार), और दूसरी ओर अद्भुत रस—इन दोनों के स्वरूप में अव्यवस्था उत्पन्न करना है। सभवत. यही कारण है कि उक्त दोनों उद्धरणों को प्रस्तुत करते हुए भी स्वय विश्वनाथ ने मानो उक्त मान्यता से असहमति प्रकट करते हुए 'चमत्कार' को 'चित्त-विस्तार' और 'विस्मय' का पर्याय माना है—चमत्कार. चित्त-विस्ताररूपो विस्मयापरपर्यायः।[1] (सा०द०३.६, वृत्ति)। इनके उपरान्त पडितराज जगन्नाथ ने अपने काव्य-लक्षण-प्रसग में 'चमत्कार' को 'लोकोत्तर आह्लाद' का पर्याय माना है जो कि हमें काव्य की रमणीयता से प्राप्त होता है।

---

१. विशेष विवरण के लिए देखिए—पृष्ठ २०७-२१०

२. रमणीयार्थप्रतिपादकः शब्दः काव्यम्। रमणीयता च लोकोत्तराह्लादजनकज्ञानगोचरता। लोकोत्तरत्व चाह्लादगतः चमत्कारापरपर्यायः अनुभवसाक्षिको जातिविशेषः। —रसगगाधर, प्रथम आनन, पृष्ठ ६

अब मूल विषय पर आएं। विश्वेश्वर ने सम्भवतः अपने पूर्ववर्ती आनन्दवर्धन और क्षेमेन्द्र दोनों के ग्रन्थों में 'चमत्कार' शब्द का प्रयोग 'काव्य-सौन्दर्य' के अर्थ में देखकर इस तत्त्व को उभारने का प्रयास किया है। साथ ही यह भी प्रतीत होता है, बल्कि स्पष्टतः ज्ञात होता है कि ग्रन्थकार आनन्दवर्धन-सम्मत 'ध्वनि' की तुलना में किसी अन्य काव्यांग—चमत्कार—को काव्य का अनिवार्य तत्त्व स्वीकार करते हुए इस तत्त्व की, और शायद 'चमत्कार-सिद्धान्त' की भी, स्थापना करना चाहते थे, परन्तु प्रतिभा के अभाव में वह यह सब नहीं कर सके। इस प्रकार की क्षमता निस्सन्देह 'वक्रोक्ति-जीवित' के प्रणेता कुन्तक में थी, जिन्होंने वक्रोक्ति के ६ प्रमुख भेदों तथा उनके ४१ उपभेदों के आधार पर समस्त काव्य-वक्रता (काव्य-सौन्दर्य) का ताना-बाना बुना और वक्रोक्ति-सिद्धान्त की स्थापना की। वह सम्भवतः सफल नहीं हो सके, यह एक अलग प्रश्न है। किन्तु इधर विश्वेश्वर ने चमत्कार के सम्बन्ध में कोई नूतन धारणा प्रस्तुत नहीं की। इस ग्रन्थ के नाम से तो ऐसा प्रतीत होने लगता है कि इसमें विश्वेश्वर ने भामह, वामन, आनन्दवर्धन, कुन्तक के समान किसी नूतन सिद्धान्त—चमत्कार-सिद्धान्त—का प्रवर्तन करते हुए नूतन उद्भावनाओं की सृष्टि की होगी, किन्तु इस ग्रन्थ का आद्योपान्त अध्ययन करने के पश्चात् 'चमत्कार' के सम्बन्ध में कोई विशिष्ट सामग्री हाथ नहीं लगती।

अन्य उद्भावक आचार्यों के समान यदि ग्रन्थकार चाहते तो संस्कृत के प्रख्यात काव्यों एवं नाटकों के आधार पर चमत्कार के नूतन भेदोपभेद और उनके उदाहरण प्रस्तुत कर सकते थे, और न सही तो, क्षेमेन्द्र द्वारा स्वीकृत उक्त दस चमत्कार-भेदों के नूतन उदाहरण प्रस्तुत कर सकते थे, किन्तु इन्होंने इन भेदों का उल्लेख तक न करते हुए गुण, रीति, रस आदि ज्ञात तत्त्वों को—जो कि शताब्दियों से प्रतिपादित होते चले आते थे—'चमत्कार का कारण' निर्दिष्ट किया है। स्पष्टतः, इसका कारण यह है कि विश्वेश्वर इन तत्त्वों को लक्ष्य में रखकर, मात्र इन्हीं के आधार पर, अपने ग्रन्थ की रचना करना चाहते थे, अथवा यों कहिए कि वह इन्हीं काव्यांगों का प्रतिपादन इस ग्रन्थ के माध्यम से करना चाहते थे। इस प्रतिपादन में भी वह प्रायः गूढ़ एवं विवादास्पद स्थलों से बचे हैं। इनका सामान्य-सा लक्षण देने के बाद, इन्होंने इनके भेद और उनके उदाहरण प्रस्तुत कर दिये हैं। वृत्ति में इन लक्षणोदाहरणों का समन्वय अवश्य प्रस्तुत किया गया है।

यहां यह भी उल्लेख्य है कि यद्यपि ग्रन्थकार ने काव्य का लक्षण 'चमत्कार' पर आधारित किया है, किन्तु उन्होंने न तो ग्रन्थारम्भ में चमत्कार के स्वरूप-निर्देश में, न उक्त मानों काव्यांगों के निरूपण के बाद, और न ही कहीं अन्यत्र आनन्दवर्धन अथवा वामन के समान स्व-सम्मत 'चमत्कार' को काव्य की आत्मा रूप में घोषित किया है। उनके लगभग साढ़े तीन सौ वर्ष बाद सन् १९२७ में यह संकेत हरिप्रसाद

ने अपने 'काव्यालोक' ग्रन्थ में किया—

विशिष्टशब्दरूपस्य काव्यस्यात्मा चमत्कृतिः ।[1]

इस प्रकार विश्वेश्वर-कविचन्द्र द्वारा प्रणीत 'चमत्कार-चन्द्रिका' ग्रन्थ कुल मिलाकर किसी नूतन सिद्धान्त का प्रवर्तन करने के स्थान पर एक सामान्य कोटि का संग्रह-ग्रन्थ बन गया है, जो कि अधिकांशतः भोजराज-कृत सरस्वतीकण्ठाभरण पर आधारित है। सत्य तो यह है कि इस ग्रन्थ में प्रणेता का प्रमुख उद्देश्य किसी काव्य-शास्त्रीय ग्रन्थ का निर्माण करना था भी नहीं। वस्तुतः उनका प्रमुख उद्देश्य था अपने आश्रयदाता सिंगभूपाल का स्तुति-गान करना, और इसमें विचित्रता एवं विभिन्नता लाने के उद्देश्य से उन्होंने काव्यशास्त्र का आधार ग्रहण किया है—अपने इस उद्देश्य में वे निस्सन्देह सफल हुए हैं।

०००

1. S. C. A Sh , p. 270
[किन्तु 'काव्यालोक' ग्रन्थ को पढ़ने का अवसर इस लेख के लेखक को नहीं मिल सका।]

१४. कश्मीर के कतिपय महान् पण्डित

एक सामान्य अवलोकन

कश्मीर, पृथ्वी का स्वर्ग कश्मीर, केसर की क्यारियो से सजा मनोरम कश्मीर, सुन्दर झीले जिसका बिछोना हैं और रम्य पहाडिया जिसके वस्त्र- ऐसा कश्मीर, तन से उजला कश्मीर, और मन से भी उजला कश्मीर, जहा के कवियो ने प्रकृति की गोद मे बैठकर काव्य रचे, जहा के काव्य-शास्त्रियो ने काव्य के नियम बनाये, जहा के शास्त्रपण्डितो ने व्याकरण, वेदान्त, आदि विषयो पर चर्चाए की । ये सभी कुछ चिर-नवीन और मनोहारी है— कश्मीर की केसर की क्यारी की तरह ताजा और सुगधित, वहा की झीलो की तरह शीतल और स्वच्छ, और वहा की पहाडियो की तरह सुरम्य और मनोहारी ।

काश्मीर के कवियो मे कालक्रम की दृष्टि से सबसे पहले भर्तृमेण्ठ का नाम लिया जाता है और इसके बाद रत्नाकर, शिवस्वामी, क्षेमेन्द्र, मखक, आदि का ।

भर्तृमेण्ठ पाचवी शती के कश्मीर-नरेश मातृगुप्त के दरबारी कवि थे । 'हयग्रीववध' इनकी प्रसिद्ध रचना है, किन्तु वह उपलब्ध नही है । यह नि सन्देह एक सरस रचना रही होगी, तभी तो एक जनश्रुति के अनुसार मातृगुप्त ने इस पुस्तक को बेठन मे बाधते समय इसके नीचे सोने का थाल रखवा दिया था कि कही इसका रस जमीन पर चू न जाय । और आगे चल कर, इसी रचना के आधार पर राजशेखर ने भर्तृमेण्ठ को 'वाल्मीकि का' नया अवतार' माना था ।

रत्नाकर इस माला के दूसरे रत्न हैं । ये आठवी शती के कश्मीर-नरेश चिप्पट जयापीड के सभा-पण्डित थे । रत्नाकर शैव थे । इनकी प्रसिद्धि का आधार-ग्रन्थ है— 'हरविजय' नामक महाकाव्य, जिसकी रचना इन्होने वैष्णव महाकवि माघ की प्रसिद्धि की अपेक्षा अपनी प्रसिद्धि को बढाने के उद्देश्य से की थी । ये काव्य सुन्दर उत्प्रेक्षाओ से भरा पडा है । एक उत्प्रेक्षा लीजिए—अभिसारिकाए रात्रि के घने अन्धकार मे अपने प्रियतमो मे

मिलने जा रही हैं और अन्धकार के प्रति अपनी कृतज्ञता को प्रकट करने के लिए ही मानो उन्होंने अन्धकार को अपने काले केशो के रूप मे अपने सिर पर चढा लिया है—

धम्मिलतलवन्यस्तचिरंरभिसारिकाभि: ।
प्रेम्णा तमश्चिरमितीव शिरोभिरूहे. ॥

कश्मीर के एक अन्य प्रसिद्ध कवि शिवस्वामी हैं। ये भी शैव थे। ये नवी शती के कश्मीर-नरेश अवन्तिवर्मा के राज्यकाल मे विद्यमान थे। उन्होंने 'कप्पिणाभ्युदय' नामक काव्य की रचना अलकृत शैली मे की थी, और इस शैली के कारण ही इन्होंने अपने आपको 'यमक-कवि' कहा है—"यमककविरगण्यश्चारुसन्दानभानो।"

क्षेमेन्द्र ११ वी शती के कश्मीर नरेश अनन्त के राज्यकाल मे विद्यमान थे। इन्होंने अनेक ग्रन्थो की रचना की। इनके 'रामायण-मजरी' और 'भारत-मजरी' ग्रन्थ रामायण और महाभारत से सम्बद्ध हैं। उनका 'बृहत्कथामजरी' ग्रन्थ गुणाढ्य के पैशाची भाषा मे लिखित 'बृहत्कथा' का सस्कृत-रूपान्तर है। 'बोधिसत्त्वावदानकल्पलता' इनका एक और ग्रन्थ है, जिसमें भगवान् बुद्ध के पूर्व-जन्मो की कथा का वर्णन है। इन्होंने अपने ग्रन्थो मे प्राय: सरस भाषा का प्रयोग किया है। 'परनारी-हरण' के अपराध का यह लेखा-जोखा सुनिए, इसमे केवल बस शब्दो के बनाव-सिगार का आनन्द लीजिए—

सर्वप्रकार: सुकृतप्रहार: क्लेशावतार: कुशलापसार: ।
शालापचार: कुयशाभिसार: पापप्रकार: परदारहार: ॥

मंखक बारहवी शती के कश्मीर-नरेश जयसिंह के सभापण्डित थे। 'श्रीकण्ठचरित' नामक महाकाव्य इनकी प्रसिद्ध रचना है। मार्मिक सूक्तियो तथा सुन्दर कल्पनाओ की भाकी स्थान-स्थान पर इस काव्य मे दिखायी देती है। एक स्थान पर वे कहते हैं "रमणीय उक्तियो मे दोष का पता उसी प्रकार जल्दी से चल जाता है जिस प्रकार उजले-धुले वस्त्र पर जरा सा धब्बा—

धौतवस्त्रे चतुर कथं वा विभाव्यते कज्जलबिन्दुपात ।

एक और स्थान पर वे कहते हैं कि 'कठिन परीक्षा के बिना कविता का गुण ठीक उसी प्रकार ज्ञात नही हो सकता, जिस प्रकार आधी के बिना मणि-दीप और साधारण दीप का अन्तर मालूम नहीं होता—

को नाम तीव्रपवनागममन्तरेण ।
भेदेन वेत्ति शिखिदीरमणिप्रदीपं ।

इसी प्रसग मे बारहवी शती के दो अन्य कवियों का नाम भी उल्लेखनीय है— विल्हण और कल्हण । बिल्हण ने एक ऐतिहासिक महाकाव्य की रचना की, जिसका नाम है—'विक्रमाङ्कदेवचरित' । यह थे तो कश्मीर-निवासी, किन्तु किसी उपयुक्त आश्रयदाता की खोज मे दक्षिण भारत जा निकले, और वहा कल्याण नगर के चालुक्य-वंशी नरेश विक्रमादित्य षष्ठ के यहा दरबारी कवि के रूप मे रहने लगे । इनका यह महाकाव्य इस नगर के चालुक्य-वंशी नरेशो का इतिहास जानने के लिए अति उपयोगी है। कल्हण का 'राजतरंगणी' नामक ग्रन्थ कश्मीर के राजनीतिक इतिहास, भौगोलिक विवरण, सामाजिक व्यवस्था और आर्थिक दशा जानने के लिए एक अमूल्य निधि है । इन दोनो कवियों की भाषा सुगम है, और कल्पना सीधी-सादी । उदाहरण के लिए एक ही विषय 'कवि-प्रशसा' पर दोनों कवियों की ये उक्तियां सुनिए । बिल्हण कहते हैं—'कवीश्वरों' के भावो को अन्य कवि कितना भी ग्रहण करते आए, उनमे किसी प्रकार की कमी नही आती । देवों ने असख्य रत्नो को छीन लिया, फिर भी समुद्र आज तक रत्नाकर ही है' -

रत्नेषु लुप्तेषु बहुष्वमर्त्यैरद्यापि रत्नाकर एव सिन्धुः ।

और, इधर कल्हण कहते हैं—'अमृत के पीने से तो केवल पीने वाला ही अमर बन जाता है, परन्तु कवि की वाणी दोनो के—कवि के अपने तथा उसके द्वारा वर्णित पात्रो के—यश रूपी शरीर को अमर बना देती है—

येनाऽऽयाति यशःकायं स्थैर्यं स्वस्य परस्य च ।

इन कवियों के अतिरिक्त प्रवरसेन और जगद्धर भट्ट भी कश्मीर के प्रसिद्ध कवि थे ।

× × ×

कश्मीर के इन कवियों के उपरात काव्यशास्त्रियों एवं काव्यमर्मज्ञों की चर्चा प्रस्तुत है । भामह, वामन, उद्भट, रुद्रट, आनन्दवर्धन, अभिनवगुप्त कुन्तक, महिमभट्ट, मम्मट, क्षेमेन्द्र और रुय्यक— ये सभी दिग्गज पण्डित कश्मीर-निवासी हैं। वस्तुतः इनके ग्रन्थों के बिना भारतीय काव्यशास्त्र की परम्परा मे केवल एक ही महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ शेष रह जाता है, जिस पर इन

ग्रन्थों का प्रभाव नहीं है — भरत का 'नाट्यशास्त्र', और उसके विषय में भी शायद निश्चयपूर्वक नहीं कहा जा सकता कि उसका कुछ भी अंश भामह के बाद नहीं बना है। अस्तु !

उक्त आचार्यों में भामह 'अलङ्कारवाद' के प्रवर्तक हैं, वामन 'रीतिवाद' के, आनन्दवर्धन 'ध्वनिवाद' के, कुन्तक 'वक्रोक्तिवाद' के, महिमभट्ट 'अनुमानवाद' के, और क्षेमेन्द्र औचित्यवाद' के। इनके अतिरिक्त शेष आचार्यों ने भी इस दिशा में अपना महत्त्वपूर्ण योग दिया है। संक्षेप में कह सकते हैं कि भारतीय काव्यशास्त्र के निर्माण में कश्मीर का बहुत बड़ा हाथ है। इसका एक बड़ा कारण यह है कि ये सभी काव्याचार्य एक ही प्रदेश के हैं। इनकी रचनाएं एक के बाद एक सभी आचार्यों को आसानी से मिलती रही हैं। छापेखाने के इस युग में तो आज सभी छपे ग्रन्थ समूचे भारत में थोड़े ही समय में मिल सकते हैं, किन्तु उस युग में यह आसानी सम्भव नहीं थी। अत. यदि काव्यशास्त्र का इतना अधिक विकास हुआ और नये-नये वादों का जन्म कश्मीर में ही हुआ, तो इसका बड़ा कारण इन विद्वान् आचार्यों का एक स्थान पर रहना भी है।

काव्यों और काव्यशास्त्रों के अतिरिक्त कश्मीर में व्याकरण और वेदान्त-सम्बन्धी भाष्य भी लिखे गये। व्याकरण के अद्वितीय ग्रन्थ महाभाष्य के अनुपम भाष्य 'महाभाष्य-प्रदीप' के रचयिता कैयट भी इसी पुण्यभूमि के निवासी थे और वेदान्त के प्रसिद्ध भाष्यकार उवट भी।

निष्कर्षत., कश्मीर प्रकृति के रंग में रंगी, चटकती-महकती काव्य-कल्पनाओं का सुरम्य स्थान है। प्रकृति के पालने में ही ये कल्पनाएं बढ़ीं और फली-फूलीं। कश्मीर काव्यशास्त्र के वादों और प्रतिवादों का भव्य शिक्षायतन है। ये वाद यहीं उत्पन्न हुए और फले-फूले। साथ ही कश्मीर व्याकरण और वेदान्त जैसे शुष्क विषयों का भी भाष्यकार है। इस प्रकार भू का यह सुरम्य स्वर्ग भारतीय अमर वाणी का अद्भुत एवं महान् स्रोत है।

—रेडियो-वार्ता

O

१५. कामशास्त्रीय ग्रन्थ और नायक-नायिका भेद

कामशास्त्रीय ग्रन्थ-परम्परा

संस्कृत के उपलब्ध कामशास्त्रीय ग्रन्थों में से सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ वात्स्यायन-प्रणीत कामसूत्र है। इस ग्रन्थ का महत्त्व इस तथ्य में भी निहित है कि इसमें अपने से पूर्ववर्ती निम्नोक्त अनेक कामशास्त्र-प्रणेताओं तथा उनके द्वारा विवेचित विषयों की सूची प्रस्तुत की गयी है—

१ नन्दी ने, जो कि महादेव का अनुचर था, कामसूत्र ग्रन्थ का निर्माण किया, जिसमें एक सहस्र अध्याय थे।

२ उक्त ग्रन्थ का पाच सौ अध्यायों में संक्षिप्त संस्करण उद्दालक-पुत्र श्वेतकेतु ने प्रस्तुत किया।

३ यही कार्य बाभ्रव्य (बभ्रु के पुत्र) पांचाल ने भी किया। इस संस्करण में १५० अध्याय थे, तथा यह निम्नोक्त सात विषयों से सम्बद्ध था - (१) साधारण अर्थात् कामशास्त्र का सामान्य परिचय, (२) साम्प्रयोगिक, अर्थात् सम्भोग द्वारा ऐन्द्रिय कामना-पूर्ति, (३) कन्या-सम्प्रयुक्तक, अर्थात् कन्याओं को सम्भोग-सम्बन्धी शिक्षा, (४) भार्याधिकारिक, अर्थात् पति-पत्नी सम्बन्ध, (५) 'पारदारिक' अर्थात् परपत्नी-सम्बन्ध, (६) वैशिक अर्थात् वेश्या-सम्बन्ध, और (७) औपनिषदिक अर्थात् सम्भोग-सुख और उसकी वृद्धि के लिए लिए अनेक औषध-सेवन।

४ आगे चलकर बाभ्रव्य के ग्रन्थ के उक्त विषयों में से एक-एक विषय पर पृथक् विवेचन किया गया—चारायण ने साधारण अधिकरण का विवेचन किया, सुवर्णनाभ ने साम्प्रयोगिक का, घोटकमुख ने कन्या-सम्प्रयुक्त का, गोनर्दीय ने भार्याधिकारिक का, गोणिका-पुत्र ने पारदारिक का, दत्तक ने वैशिक का, और कुचुमार ने औपनिषद का।[1]

उक्त सभी ग्रन्थों से सहायता लेकर वात्स्यायन ने अपने ग्रन्थ का प्रणयन किया और अपने ग्रन्थ का कारण यह बताया कि बाभ्रव्य का विशाल ग्रन्थ

---

१. कामसूत्र १ १. ८-१८

दुरध्येय अर्थात् कठिन है, तथा दत्तक, चारायण आदि के ग्रन्थ केवल एक-एक विषय से सम्बद्ध होने के कारण एकदेशीय हैं। अतः समग्र विषयों को लेकर एक संक्षिप्त ग्रन्थ की आवश्यकता का अनुभव कर 'कामसूत्र' का प्रणयन किया गया है—

तत्र दत्तकादिभिः प्रणीतानां शास्त्रावयवानामेकदेशत्वाद्, महदिति च बाभ्रवीयस्य दुरध्येयत्वात् संक्षिप्य सर्वमर्थमल्पेन ग्रन्थेन कामसूत्रमिदं प्रणीतम्।
—का० सू०, १ १. १६

वात्स्यायन से पूर्ववर्ती कामशास्त्र-प्रणेताओं में से केवल दत्तक और कुचुमार के ग्रन्थों के सम्बन्ध में कुछ कहा जा सकता है, शेष आचार्यों के ग्रन्थ अप्राप्य हैं। इधर दत्तक का ग्रन्थ अप्राप्य है, पर इसके नाम पर श्यामिलक ईश्वरदत्त ने अपने नाटकों में निम्नोक्त दो सूत्र उद्धृत किये हैं –

(क) किं ब्रवीषि—वेश्यास्यो यहीयते सन्नव्दं इति बहवो ब्रुवन्ति। तद्दत्तकेनाप्युक्तं, कामोऽर्थनाशः पुंसामिति। धूर्तविटसंवाद

(ख) सा हि तपस्विनी निवृत्तकामतन्त्रा रजोपरोधात् कुटुम्बतन्त्रार्थं दाक्षकाममनुवर्तते। मध्यस्थायमस्या। प्रथमात् दाक्षकाम इति दात्तकीयाः॥
—पादताडितक

इस प्रकार शूद्रक के पद्मप्राभृतक में भी एक स्थान पर दत्तक का नाम उल्लिखित हुआ है। हाँ कुचुमार का ग्रन्थ इन दिनों प्राप्त है, पर यह भी खण्डश ही प्राप्त है। इसके औपनिषदम् (औषधि-विज्ञान) अध्याय के कुछ भाग प्राप्त हुए हैं, और प्रकाशित किये गये हैं। ग्रन्थ का प्रारम्भ इस प्रकार हुआ है—

शंकराय नमस्कृत्य यत्पूर्वैस्समुदाहृतम्।
× × × × नृणां मन्त्रौषधिसमन्वितम्॥
सद्योगाद्दिष्टसंभारादुपपन्नो च तस्वत।
कूचिमारेण तपसा यत्कृत कोडन पुरा॥
यत्प्रवक्ष्यामि चित्रार्थ नानार्थपदनिश्चितम्।
श्रूयतां नामतश्चैव कूचुपनिषदं पुन.॥
बृहण लेपन चैव वश्य बन्धनवृष्यकम्।
पादलेपांजनं तैल रोमनाशनमेव च॥

इस प्रकार इन अख्यात, अनुपलब्ध एवं अंशतः उपलब्ध ग्रन्थों के बाद

सूत्राधार का नामोल्लेख किया है।

पद्मश्री द्वारा रचित नागरसर्वस्व नामक ग्रन्थ के १८ भाग है, जिनमे रसिक एव सौन्दर्य-प्रिय व्यक्ति की आवश्यकताओ तथा नर-नारी की शृगार-जन्य अवस्थाओ का वर्णन किया गया है, तथा कामशास्त्र मे सम्बद्ध औषधियों का भी उल्लेख है। कल्याणमल्ल-प्रणीत अनगरग और कक्कोक-प्रणीत रतिरहस्य मे नायक-नायिका-भेदो का सम्यक् परिगणन है। ख्याति की दृष्टि से कामसूत्र के उपरात रतिरहस्य का स्थान है। इस ग्रन्थ पर भी अनेक टीकाए रची गयी, जिनमे से काचीनाथ, अवच रामचन्द्र और कविप्रभु की टीकाए तथा हरि-हर की टीकाए उल्लेख्य है। अनन्त-प्रणीत कामसमूह मे विभिन्न प्रीतिप्रकार, ऋतु-वर्णन तथा नायिका-भेद का उल्लेख है।

इन ग्रन्थो के अतिरिक्त निम्नोक्त ग्रन्थो मे भी प्राय इन्ही विषयो पर ही न्यूनाधिक रूप मे प्रकाश डाला गया है—प्रौढदेवराय-रचित रतिरत्न-प्रदीपिका, ज्योतिरीश्वर-रचित पचसायक, मिननाथ-रचित समरदीपिका अथवा रतिरत्नप्रदीपिका, कामराजदीक्षित-रचित रसिकबोधिनी अथवा वैद्य-नाथ-रचित रसिकरंजन, कालिदास-रचित शृगारतिलक, विश्वेश्वर-रचित रस-चन्द्रिका मंमदत्तिन्-रचित विटवृत्त, माधव-रचित अडवृत्त, चित्रधर-रचित शृगारतिलक, मूलदेव अथवा रुद्र-रचित समरदीपिका, जयदेव-रचित रति-मजरी, केशव-रचित कामाप्राभृतक, वरदराज-रचित कामानन्द, कौतुकदेव-रचित अनगदीपिका रतिसार, रतिचन्द्रिका, और शृगार-कुतूहल, आदि, आदि। इनके अतिरिक्त कधोरम आदि अन्य ग्रन्थ भी उपलब्ध है, जो विभिन्न चित्रो के द्वारा सम्भोग के विभिन्न आसनो को चित्रित करते हैं।

इस प्रकार सस्कृत मे कामशास्त्रीय ग्रन्थो की यह परम्परा हिन्दी-रीतिकाल से दो-एक शताब्दी पूर्व तक निरतर चलती रही, और समय-समय पर उधर सस्कृत का काव्यशास्त्र तथा इधर हिन्दी का काव्यशास्त्र अपने रस-प्रकरण मे, विशेषत. शृगार रस के आलम्बन-विभाव—(नायक-नायिका-भेद-) प्रसग मे इन ग्रन्थो से किंचित् सामग्री ग्रहण कर उसे अपने विषयानुकूल रूप मे ढाल कर स्वीकार करता रहा।

काव्यशास्त्रीय नायक-नायिका-भेद और कामशास्त्र

काव्यशास्त्र के ग्रन्थों मे निरूपित नायक-नायिका-भेद-निरूपण की यदि काव्य के अन्य अगों—शब्दशक्ति, ध्वनि, रस, गुण, दोष, रीति और अलकार— के निरूपण

के साथ तुलना की जाए, तो यह आपाततः लक्षित हो जाता है कि इन काव्यांगों की विषय-सामग्री को जितने सूक्ष्म, गम्भीर और तर्कपूर्ण खण्डनमण्डनात्मक विमर्श के साथ परिपक्व और सुगठित शैली में प्रतिपादित किया गया है, उसका एक अंश भी नायक-नायिका-भेद-प्रसंग को प्रस्तुत करने में व्यवहृत नहीं हुआ। विषयवस्तु और शैली दोनों की दृष्टि से ये प्रकरण काव्यशास्त्र में पृथक् से दीखते हैं। इसका सहज-मान्य कारण यह कहा जा सकता है कि नायक-नायिका-भेद जैसे अगम्भीर विषय के प्रतिपादन के लिए न तो इतनी विमर्शपूर्ण विवेचना की आवश्यकता थी और न इतनी तर्कबद्ध शास्त्रीय गम्भीर शैली की।

पर इस कारण से मनस्तुष्टि नहीं होती। सहसा एक अन्य प्रश्न सामने आ जाता है—यह विषय अपने आप में इतना अगम्भीर क्यों है? इसका एक ही उत्तर हमारे विचार में सम्भव है कि यह काव्यशास्त्र अथवा नाट्यशास्त्र का विषय न होकर मूल रूप में कामशास्त्र जैसे अपेक्षाकृत अगम्भीर शास्त्र का ही एक अंग है। यही कारण है कि भरत से लेकर भानुमिश्र से पूर्व तक लगभग पन्द्रह सौ वर्षों में इस प्रसंग के प्रतिपादन में न खण्डन-मण्डनात्मक शैली को अपनाया गया, न भेदोपभेदों के स्वरूप पर सूक्ष्म विवेचन प्रस्तुत किया गया, और न कभी इस प्रकरण को रस-प्रकरण से असम्पृक्त एक स्वतन्त्र प्रकरण के रूप में स्वीकृत किया गया।

उपर्युक्त धारणा की पुष्टि भारतीय साहित्य-शास्त्र के प्रथम उपलब्ध ग्रन्थ भरत-प्रणीत नाट्यशास्त्र के नायक-नायिका-भेद-प्रसंग के अन्तर्गत उन स्थलों से हो जाती है, जिन में न केवल कामशास्त्र का आधार स्पष्ट शब्दों में स्वीकृत किया गया है,[१] अपितु कामशास्त्र से सम्बद्ध विषयों पर भी यथेष्ट

---

१. उदाहरणार्थ—

(क) तत्र राजोपभोगं तु व्याख्यास्याम्यनुपूर्वशः।
उपचारविधिं सम्यक् कामसूत्र-समुत्थितम्॥

(ख) भावावस्थासु विज्ञेया नायिका नाटकाश्रया।
एतासां यच्च वक्ष्यामि कामतन्त्रमनेकधा॥

(ग) कुलांगनानामेवायं प्रोक्तः कामाश्रयो विधिः।
—ना० शा० २४. १४१-४२, २१३, २२४

प्रकाश डाला गया है। उदाहरणार्थ प्रेमसूचक इंगित,[1] राजाओं तथा सामान्य पुरुषों द्वारा नारियों को वश में करने के उपाय,[2] वासक (सम्भोग) के कारण,[3] सम्भोग का समय,[4] सम्भोग से पूर्व के आयोजन,[5] सम्भोग के समय स्त्री-पुरुष का पारस्परिक व्यवहार,[6] नायक का स्वागत,[7] अपराधी नायक का व्यंग्य-मिश्रित तिरस्कार-पूर्ण स्वागत,[8] मान-प्रकार,[9] कुपित नारियों को प्रसन्न करने के उपाय[10], आदि, आदि। निस्सन्देह नाट्यशास्त्र का प्रधान लक्ष्य केवल अभिनय-क्रियाकलापों का प्रतिपादन करना है, अतः रंगमंच के लिए त्याज्य दृश्यों के विषय में भी आचार्य भरत स्थान-स्थान पर चेतावनी देते गए हैं,[11] पर इतना तो निश्चित है कि नायक-नायिका-भेद-सम्बन्धी प्रसंग के निर्माण के समय भरत के समक्ष कामशास्त्रीय सिद्धान्तों का पृष्ठाधार विद्यमान है।

(घ) भावाभावौ विदित्वा च ततस्तांस्तानुपक्रमैः।
पुमानुपक्रमेन्नारीं कामतन्त्रं समीक्ष्य तु ॥ ना० शा० २५. ६५

१ ना० शा० २४. १५२-१५८ (क)

२ वही–२४. १६५-१६६, २५. ६५-७२

३. ४. वही—२५ २२२-२२३; २०१

५. राजामन्तःपुरजने दिवसो भोग इष्यते।
वासोपचारो यश्चैव स रात्रौ परिकीर्तितः ॥ ना० शा० २४. २००

६. ना० शा० २४. २२६-२३१

७. ना० शा० २४. २२८

८. ना० शा० २४. २४६-२५०

९ ना० शा० २४. २६५, २८१

१०. ना० शा० २५. ३३-३५

११. यद्वा स्यादेवमंशावेकाकी सहितोऽपि वा।
चुम्बनालिंगनं चैव तथा गुह्यं च यद् भवेत् ॥
दन्तं नखक्षतं छेद्यं नीवीस्रंसनमेव च।
स्तनाधरविमर्दं च रंगमध्ये न कारयेत ॥ ना० शा० २४. २८६, २८७

इसी प्रकार रुद्रट भी जिनका नायक-नायिका-भेद-प्रसंग सर्वप्रथम व्यवस्थित और शताब्दियों पर्यन्त अनुकृत रहा है, अपने ग्रन्थ के इसी प्रसंग में कामशास्त्रीय धारणाओं को उल्लिखित करने के लोभ का संवरण नहीं कर सके—"शय्या पर सुकुमारियाँ सदा ही पुरुषों द्वारा प्रसादनीय हैं। उनकी इच्छा के विरुद्ध आचरण-कर्ता मूर्ख शृंगार [के सारे आनन्द] को नष्ट कर बैठता है। जो कामी और साम-प्रवण नायक अपनी चाटूक्तियों द्वारा [शय्या पर] नारी का प्रसादन करता है, शृंगार के वास्तविक आनंद का भोक्ता और सर्वश्रेष्ठ कामी वही कहाता है।[1] कुपित नारी के प्रसादन के लिए पुरुष को साम, दान, भेद, प्रणति, उपेक्षा और प्रसंग-विभ्रंश में से किसी एक का आश्रय लेना चाहिए, पर दण्ड का कभी नहीं; वह तो 'शृंगार' के आनन्द का घातक है।"[2]

केवल इतना ही नहीं, एक ओर काव्यशास्त्रों और नाट्यशास्त्रों तथा दूसरी ओर कामशास्त्रों में वर्णित नायक-नायिका-सम्बन्धी सामग्री की यदि पारस्परिक तुलना की जाए, तो असन्दिग्ध रूप से हमारे उक्त कथन की पुष्टि हो जाएगी कि इस विषय में काव्यशास्त्री कामशास्त्रियों के अधिकांश रूप से ऋणी हैं। आलोचक की तर्कशील बुद्धि विपरीत दिशा की ओर भी सोच सकती है कहीं कामशास्त्र ने ही काव्यशास्त्र से यह सामग्री ले ली हो। पर इस सम्भावना का निराकरण वात्स्यायन-प्रणीत कामसूत्र ग्रन्थ से हो जाता है, जो कामशास्त्रीय सिद्धान्तों का शताब्दियों की परम्परा से विकसित रूप उपस्थित करता है। एक तो इसी ग्रन्थ में औद्दालकि (श्वेतकेतु), बाभ्रव्य (पांचाल), दत्तक, गोणिकापुत्र, चारायण, सुवर्णनाभ, घोटकमुख, गोनर्दीय कुचुमार आदि[3] अनेक काम-शास्त्रकारों का यथास्थान नामोल्लेख तथा स्वयं

---

१. सुकुमारा. पुरुषाणामाराध्या योषित. सदा तल्पे ।
तदनिच्छया प्रवृत्तः शृंगारं नाशयेन्मूर्खं ॥
कामी सामप्रवणश्चाटुभिराराधयेन्नारीम् ।
तत्कामिनां महीयो यस्माच्छृङ्गारसर्वस्वम् ॥ का० अ० १४. १५,१६

२. का० अ० १४. २७

३. उदाहरणार्थ—कामसूत्र १-१.६-१७; १.५.२, २२, २३, २४, २५, ३३, ३४; ४.४.३१

वात्स्यायन द्वारा ग्रन्थ के अन्त में बाभ्रव्य को आधार रूप में आभार-स्वीकृति[1] कामशास्त्रीय सिद्धांतों की परम्परा को भरत के समय से बहुत पूर्व ले जाती है, और दूसरे, जैसा कि पहले कहा जा चुका है, भरत ने स्वयं ही कई स्थानों पर इस प्रसंग-निरूपण के लिए कामशास्त्र का आधार स्वीकार किया है। अतः कामशास्त्रीय सिद्धांतों को काव्यशास्त्रीय नायक-नायिका-भेद का आधार मान लेने में नितान्त भी आपत्ति नहीं की जा सकती।

वर्तमान काल में सुलभ और अपने विषय के प्रौढ़ ग्रन्थ कामसूत्र में उल्लिखित नायक-नायिका-भेद-सम्बन्धी सामग्री का निम्नोक्त तुलनात्मक परीक्षण अत्यन्त रोचक होने के अतिरिक्त हमारे उक्त कथन का पोषक भी सिद्ध हो जाता है। यह अलग प्रश्न है कि कामसूत्र और काव्यशास्त्रों की पारिभाषिक शब्दावलि में कहीं कहीं अन्तर हो, पर दोनों के वर्ण्यसामग्री-विषयक दृष्टिकोण और स्वरूपाख्यान में विशेष अन्तर नहीं है—

१. नायक-नायिका के साधारण गुण—काव्यशास्त्रीय नायक-नायिका के गुण लगभग वही हैं, जो कामसूत्र में उल्लिखित हैं।[2] नाट्यशास्त्र का वैशिक कामसूत्र के ही 'रसिक' का संक्षिप्त संस्करण-मात्र है।[3]

२. नायक-भेद—वात्स्यायन ने नायक का केवल एक ही प्रधान प्रकार माना है, वह है पति।[4] परदाराके साथ गुप्त रूप में सम्बन्ध रखने वाले 'प्रच्छन्न' नायक को इन्होंने गौण स्थान दिया है।[5] ग्रन्थ के 'वैशिकम्' नामक छठे अधिकरण में वेश्यारत नायक का भी इन्होंने उल्लेख किया है। इस प्रकार काव्यशास्त्रों में वर्णित नायक के तीन प्रमुख भेदों पति, उपपति और वैशिक के संकेत इस ग्रन्थ में उपलब्ध हो जाते है।

संस्कृत-काव्यशास्त्रकारों में सन्त अकबरशाह और हिन्दी-काव्यशास्त्र-कारों में केशवदास ने प्रच्छन्न और प्रकाश नायकों का उल्लेख किया है।[6]

---

१. बाभ्रवीयांश्च सूत्रार्थानागमय्य विमृश्य च।
वात्स्यायनश्चकारेदं कामसूत्रं यथाविधि ॥ का० सू० ७ २ ५६

२. कामसूत्र ६.१.१२, १३, १४

३. ना० शा० २५ १-८, कामसूत्र १.४ (सम्पूर्ण)

४, ५. का० सू० १ ५-२८, २९

६. शृं० म०, पृष्ठ २०, र० प्रि० २ ८, ९, १२, १३, १५, १७

उनका मूल रूप कामसूत्र में वर्णित अन्त पुरगामी प्रच्छन्न और अप्रच्छन्न भोगों के प्रयोक्ता नायकों[1] में मिल जाता है।

काव्यशास्त्र में निरूपित नायक के अनुकूल आदि चार भेदों में से परस्त्री-अभियोग में सिद्ध (दक्षिण) नायक की चर्चा कामसूत्र में स्पष्ट रूप से हुई है,[2] वात्स्यायन-सम्मत 'सम' नायक भी 'दक्षिण' का ही अपर पर्याय है।[3] इसके अतिरिक्त पुरुष के उन व्यवहारों का उल्लेख भी इस ग्रन्थ में यत्र-तत्र हुआ है, जिनके बल पर उन्हें काव्यशास्त्र-सम्मत 'धूर्त' और 'शठ' उपाधियों से 'भूषित' कर लेना चाहिए। शेष रहा चौथा प्रकार 'अनुकूल' नायक। ग्रन्थ की उपसहार-सूचक दो कारिकाएं प्रकारान्तर से 'अनुकूल' नायक की ही गुण-गाथा गाती हैं।[4] वात्स्यायन के मत में वस्तुत अनुकूल नायक ही सर्वश्रेष्ठ है। परिस्थिति के वशीभूत होकर ही पुरुष को प्रच्छन्न (उपपति) नायक के रूप में व्यवहार करना चाहिए, अन्यथा नहीं।[5] ऐसी परिस्थितियों की एक लम्बी सूची[6] प्रस्तुत करके वात्स्यायन ने सिद्ध करना चाहा है कि प्रच्छन्न नायक इतना कामुक और वासना का दास नहीं होता, जितना कूटनीतिक रूप में अवसरवादी बन कर परनारी से कपट प्रेम-व्यवहार करके स्वार्थ सिद्ध करना चाहता है।[7] इनके अतिरिक्त काव्यशास्त्रों में वर्णित गुणानुसार नायक के तीन भेदों – उत्तम, मध्यम और अधम का उल्लेख भी कामसूत्र में हुआ है।[8]

३. नायिका भेद—वात्स्यायन ने प्रमुख नायिकाएं तीन मानी

---

१. का० सू० ५.५.२८, ३१, ५ १.५० २ का० सू० ५.१ ५०

३. पुरुषस्तु बहून्दारान् समाहृत्य समो भवेत्। का० सू० ४ २.८५

४. रक्षन्धर्मार्थकामानां स्थितिं स्वां लोकवर्तिनीम्।
  अस्य शास्त्रस्य तत्त्वज्ञो भवत्येव जितेन्द्रियः॥
  × × ×
  नातिरागात्मक. कामी प्रयुंजानः प्रसिध्यति॥ का० सू० ७ २.५८,५९

५. प्रच्छन्नस्तु द्वितीय. विशेषलाभात्। का० सू० १.५.२६

६. का० सू० १.५.६–२०

७. इति साहसिक्यं न केवलं रागादेवेति परपरिग्रहगमनकारणानि।
—का० सू० १.५.२?

८. का० सू० १.५.३०

है—कन्या, पुनर्भू और वेश्या। गोणिकापुत्र-सम्मत परपरिग्रहीता (पाक्षिकी अथवा परकीया) और अन्य आचार्यों द्वारा सम्मत 'तृतीया-प्रकृति' (क्लीव) नायिकाएं भी इन्हें अस्वीकृत नहीं हैं। चारायण-सम्मत विधवा, सुवर्णनाभ-सम्मत प्रव्रजिता, घोटकमुख-सम्मत गणिका-पुत्री और परिचारिका तथा गोनर्दीय-सम्मत कुलयुवति नामक नायिकाओं का अन्तर्भाव इन्होंने प्रथम चार नायिकाओं में किया है।[१]

वात्स्यायन का 'कन्या' से तात्पर्य शास्त्रानुसार परिणय-योग्य उस सवर्णा बाला से है, जो अन्य-विवाहिता न रही हो।[२] इस प्रकार कामसूत्र में 'कन्या' शब्द प्रकारान्तर से 'स्वकीया' का अपर पर्याय है।

वात्स्यायन-सम्मत उपर्युक्त नायिकाओं का काव्यशास्त्रकारों पर स्पष्ट प्रभाव है। अन्तर केवल यह है कि स्वकीया को काव्यशास्त्रकारों ने अलग माना है, और 'कन्या' को अविवाहिता प्रेयसी के रूप में। परकीया और वेश्या का तो सभी आचार्यों ने उल्लेख किया ही है, 'पुनर्भू' का भी अग्निपुराणकार और भोजराज ने उल्लेख किया है।[३] वात्स्यायन-सम्मत 'तृतीया-प्रकृति' नामक नायिका वस्तुतः नारी ही नहीं है। काव्यशास्त्रकारों ने उसे काव्यवर्णन के लिए अनुपयोगी और उसके कामशास्त्रीय औपरिष्टक (मुख-मैथुन) रूप उपयोग[४] को घृणित और समाज-गर्हित समझ कर छोड़ दिया होगा। वात्स्यायनेतर आचार्यों में से गोनर्दीय की 'कुलयुवति' को भरत की 'कुलजा' का स्रोत माना जा सकता है।[५]

(क) स्वकीया—कामसूत्र के 'कन्या-विस्रम्भणम्' नामक अध्याय[६] में नवोढा को विस्रब्ध करने के उपाय नवविवाहित पुरुष को समझाये गये हैं। इसी प्रसंग को स्वकीया के दो उपभेदों नवोढा और विस्रब्ध-नवोढा का स्रोत मानना चाहिए। इसी प्रकार कामसूत्र के 'सपत्नी-ज्येष्ठा-कनिष्ठा-वृत्त' नामक

---

१. का० सू० १.५.४,५,२७,२२,२३,२४,२५,२६

२ कामश्चतुर्षु वर्णेषु सवर्णतः शास्त्रतश्चानन्यपूर्वायां प्रयुज्यमानः पुत्रीयो यशस्यो लौकिकश्च भवति। का० सू० १.५.१ (वृत्ति)

३. अ० पु० ३३८.४१, स० क० आ० ५.११२

४. का० सू० १.५.२७ (टीकाभाग)

५. का० सू० १.५.२५; ना० शा० २४.१४५

६. का० सू० ३.२

प्रकरणों[1] पर ही स्वकीया के दो उपभेदों—ज्येष्ठा और कनिष्ठा का दायित्व है। वात्स्यायन ने ज्येष्ठा पूर्वविवाहिता को माना है, और कनिष्ठा पश्चाद्-विवाहिता को। इधर भोजराज से पूर्व किसी भी काव्यशास्त्रकार ने इन दोनों भेदों की स्पष्ट परिभाषा नहीं दी। भोज का दृष्टिकोण वात्स्यायन के मतानुसार ही प्रतीत होता है।[2] पर आगे चलकर, सर्वप्रथम भानुमिश्र ने पतिस्नेह की अधिकता एवं न्यूनता के आधार पर इन दो भेदों का स्वरूप निर्धारित करके पूर्वविवाहिता भी बेचारी 'ज्येष्ठा' को विपरीत स्थिति में 'कनिष्ठा' मानने के लिए बाध्य कर दिया है।[3]

(ख) परकीया उद्बुद्धा और उद्बोधिता परकीया नायिकाओं और इन्हीं के अन्तर्गत सुखसाध्या और असाध्या नायिकाओं का मूल स्रोत भी कामसूत्र के अयत्नसाध्य योषित्[4], परिचयसम्पादन-(बाह्य तथा आभ्यन्तर-) विधि[5] और भावपरीक्षा[6] नामक प्रकरणों में सरलतापूर्वक मिल जाता है। परकीया आदि के अन्य कुलटा आदि भेदोपभेदों के मूल रूप भी कामसूत्र में छिपे पड़े हैं। उदाहरणार्थ, उपर्युक्त 'भावपरीक्षा' प्रकरण ही अवेक्षणीय है।

(ग) वेश्या—वेश्या के भोजराज-सम्मत[7] भेदों में से गणिका और विलासिनी का उल्लेख तो स्पष्ट रूप से कामसूत्र के 'वैशिक' नामक अधिकरण में मिल जाता है[8], शेष भेदों के लिए भी यही अधिकरण अधिकांश रूप से उत्तरदायी माना जा सकता है।

४. अगम्य पुरुष और नारियाँ—वात्स्यायन ने अगम्य पुरुषों और नारियों का भी उल्लेख किया है। संस्कृत-काव्यशास्त्रकारों में सर्वप्रथम रुद्रट, और हिन्दी-काव्यशास्त्रकारों में सर्वप्रथम केशव ने अगम्या नारियों की तो सूची प्रस्तुत कर दी है,[9] किन्तु पुरुष के प्रति उनका सम्भवतः अनुचित पक्षपात अगम्य पुरुषों की सूची प्रस्तुत करने में बाधक सिद्ध हुआ है।

५ नायक-सहायक—काव्यशास्त्रों में निरूपित नायक के चार सहायकों

---

१. का० सू० ४.२ (पृष्ठ २०९-२१३)
२. स० क० आ० ५.१११
३. र० मं० पृष्ठ ४४
४, ५. का० सू० ५.१.५१,५२; ५. २.४-१७
६. वही ५.३.१-३०
७. स० क० आ० ५.१११.११३
८. का० सू० ६.५.२५, २६
९. का०अ०, पृष्ठ १५५; र०प्रि०७.४६

में से तीन सहायकों पीठमर्द, विट और विदूषक का स्वरूप वात्स्यायन ने अपने ग्रन्थ के 'नागरिक-वृत्त' नामक अध्याय में प्रस्तुत किया है।[१] अत्यन्त निम्न कोटि का सहायक होने के कारण चेट को ग्रन्थकार ने यथावर्णित सुरुचिपूर्ण नागरिक के इतर सहायकों के मध्य सम्भवत: जान-बूझ कर सम्मिलित नहीं किया।

इधर काव्यशास्त्रकारों में से भरत ने पीठमर्द को छोड़ कर शेष तीनों को नाट्यशास्त्र में स्थान दिया है।[२] भोज ने शृंगारप्रकाश में पीठमर्द और विट के स्वरूप-निर्धारण में वात्स्यायन का अनुकरण किया है,[३] और सरस्वती-कण्ठाभरण में विट के स्वरूपाख्यान में भी उन्होंने वात्स्यायन के ही सूत्र को संक्षिप्त रूप दे दिया है।[४] *वात्स्यायन ने सहायकों का विभाजन स्नेह, जाति* और गुण के दृष्टिकोण से भी किया है[५], पर इसे काव्यशास्त्रों में नहीं अपनाया गया।

६. दूत-दूतियाँ—दूत-दूतियों में जिन आवश्यक गुणों और सम्पाद्य क्रिया-कलापों का उल्लेख कामसूत्र में हुआ है,[६] लगभग वही सब कुछ काव्यशास्त्रों में उल्लिखित हैं। इस ग्रन्थ में दूती के निम्नलिखित आठ भेद हैं—निसृष्टार्था, परिमितार्था, पत्रहारी, स्वयदूती, मूढदूती, भार्यादूती, मूकदूती और वातदूती।[७] इनमें से प्रथम दो का उल्लेख विश्वनाथ ने किया है।[८] इन की तीसरी दूती 'सदेश-हारिका' में वात्स्यायन-सम्मत शेष सभी दूतियों का समावेश हो जाता है।

वात्स्यायन-सम्मत स्वयदूती के दो रूप हैं—(क) नायिका स्वय अपने लिए नायक से दूतीवत् व्यवहार करे, (ख) नायिका द्वारा प्रेषित दूती स्वय ही नायक की नायिका बन जाए।[९] इधर उज्ज्वलनीलमणि में 'स्वयदूती' का भी उल्लेख हुआ है,[१०] तथा अन्य काव्यशास्त्रों में भी ऐसे उदाहरणों का अभाव नहीं है, जिनमें स्वयदूती के उक्त दोनों रूप उपलब्ध हो जाते हैं।

---

१. का० सू० १.४ ४४,४५ २. ना० शा० ३५.५८

३. शृं०प्र०(इण्ट्रो०) पृष्ठ ५० ४. का०सू०१.४.४५;स०कं०आ० ५.१७०

५, ६. का० सू० १ ५ ३५-३७; ५.४.२-२८

७. का० सू० ५.४.४४ ८. सा० द० ३.४७

९. का० सू० ५.४.५३-५५ १०. उ० नी० म०, पृष्ठ १५५-१५६

गिना दी है ।[1]

कामसूत्र के अतिरिक्त रतिरहस्य, अनगरंग और पंचसायक नामक कामशास्त्रीय ग्रन्थों में भी उक्त भेदोपभेदों का उल्लेख किया गया है ।[2] रतिरहस्य और पंचसायक में यह निरूपण कामसूत्र के अनुसार है, पर अनगरंग में थोड़ा अन्तर है । हरिहर-विरचित 'शृंगारदीपिका' में भी प्रमाण के आधार पर नायक के भेदों का उल्लेख है । हिन्दी के काव्यशास्त्रीय ग्रन्थों में इन भेदों को स्थान नहीं मिला ।

नायिका के कामशास्त्रीय प्रसिद्ध चार भेदों—पद्मिनी, चित्रिणी, शंखिनी और हस्तिनी—का उल्लेख कामशास्त्रीय उपलब्ध ग्रन्थों में 'रति-रहस्य' नामक ग्रन्थ में सर्वप्रथम मिलता है ।[3] ग्रन्थकार कक्कोक (कोका) पण्डित ने अपने पूर्ववर्ती आचार्य नन्दिकेश्वर को इन भेदों के प्रवर्तक होने का श्रेय दिया है ।[4] रतिरहस्य के परवर्ती 'अनगरंग', 'पंचसायक' आदि ग्रन्थों में भी इन भेदों की चर्चा की गयी है, जो प्रायः रतिरहस्य पर समाश्रित हैं ।[5]

नायिका के उक्त भेद-चतुष्टय की कल्पना नारी की व्यक्तिगत विशेषता, शारीरिक गठन और अंगविन्यास के अतिरिक्त उसकी रुचि, प्रकृति और यौन-कामना की विभिन्नता को लक्ष्य में रख कर की गयी है । इन ग्रन्थों में वर्णित पद्मिनी आदि नायिकाओं का स्वरूप कामशास्त्रीय नारी-जगत् के बीच निस्सन्देह विभाजक रेखाएँ सी खींच कर उसे चार प्रमुख भागों में विभक्त कर देता है । ये रेखाएं हस्तिनी नायिका को स्पष्ट रूप में अन्य तीन नायिकाओं से पृथक् अवस्थिति में खड़ा कर के उसे चतुर्थ श्रेणी की नायिका घोषित करती हैं, और शंखिनी को प्रथम

---

१. कामसूत्र (जयमंगला टीका) पृष्ठ ७७
२. रतिरहस्य पृष्ठ ३६-३८, अनगरंग १-१-१५
३. रतिरहस्य जात्यधिकार १०-१६
४. तत्र प्रथमं नन्दिकेश्वरगोणिकापुत्रयोर्मतमाद्य संग्रहीष्यामः, परतो वात्स्यायनम् । × × × संक्षेपादिति नन्दिकेश्वरमतासत्त्व किमप्युद्धृतम् । रतिरहस्य
५. तुलनार्थ—अनगरंग १.१०-१६; पंचसायक ६-६ पद्य

दो की अपेक्षा निम्नकोटि की नायिका मानने को बाध्य करती हैं। पर शेष दो नायिकाओ पद्मिनी और चित्रिणी के बीच रेखाएं इतनी क्षीण हैं कि इनमे से किसी एक को किसी विशेष गुण की अधिकता के बल पर प्रथम कोटि मे रख सकना हमारे विचार मे सहज नही हैं। यो, कामशास्त्रीय परम्परा पद्मिनी को सर्वाधिक समादर देती रही है। (अनगरग १.९)

पद्मिनी आदि नायिकाओ का स्वरूप मूल रूप मे इनकी व्यक्तिगत प्रमुख विशिष्टताओं पर समाधृत है। ये विशिष्टताए हैं—पद्मिनी की सुकोमल-हृदयता, चित्रिणी की कलाप्रियता, शंखिनी मे सद्‌गुणो और दुर्गुणो के समान-समावेश के कारण उसकी साधारण स्थिति, और हस्तिनी की चपलविलास और मलिमन्दता। इन मूलभूत अन्तःप्रवृत्तियों को लक्ष्य मे रख कर कक्कोक आदि कामशास्त्रियों ने इन्हे पूर्वोक्त विभिन्न विशेषणो से अन्वित कर दिया है।

संस्कृत-काव्यशास्त्रियो मे श्रीकृष्ण कवि और सन्त अकबरशाह को छोड़ कर किसी भी अन्य प्रसिद्ध अथवा अप्रसिद्ध आचार्य ने इन भेदों को अपने नायिका-भेद-प्रसगो मे स्थान नही दिया। हिन्दी आचार्यों मे भी इने-गिने आचार्यों—केशव, देव, सोमनाथ, दास, तोष आदि—ने इन भेदों की चर्चा-मात्र की है। इस अवहेलना के दो कारण सम्भव हैं। एक यह कि लोक मे ऐसी नारियो का ढूंढ निकालना असम्भव नही तो अत्यन्त कठिन अवश्य है, जिन पर पद्मिनी आदि के सभी गुण पूर्ण रूप से घटित हो सकने के कारण उन्हें इन विशिष्ट नामों से अभिहित किया जा सके; और दूसरा कारण यह है कि काव्य-नाटकादि लक्ष्य-ग्रन्थों मे भी ऐसी नायिकाएं दृष्टिगत नही होती, जिन्हें आचार्यों को अपने लक्षण-ग्रन्थो मे समाविष्ट करने की आवश्यकता पड़ती।

इस प्रकार संस्कृत और हिन्दी के काव्यशास्त्रो मे निरूपित नायक और नायिका के अनेक भेदो के लिए कामशास्त्रीय ग्रन्थों को स्रोत-रूप में स्वीकार करने मे कोई आपत्ति नही की जा सकती। हां, कामशास्त्रो में निरूपित इन प्रसंगों के लिए वैद्यक ग्रन्थो के अतिरिक्त जगद्व्यवहार का सम्यग् अन्वीक्षण तथा अनुशीलन भी उत्तरदायी माना जा सकता है।

O

१६. शृङ्गारमञ्जरी : मूल ग्रन्थ और उसकी हिन्दी छाया

—सन्त अकबरशाह और चिन्तामणि

दतिया के राज-पुस्तकालय मे सुरक्षित 'शृ गारमंजरी' नामक ग्रन्थ को हिन्दी-जगत् के सम्मुख सर्वप्रथम लाने का श्रेय डॉ० भगीरथ मिश्र को है।[1] मूलतः यह ग्रन्थ संस्कृत मे लिखा गया था, जिसके रचयिता सन्त अकबरशाह हैं। इस ग्रन्थ की लिपि तैलगु अथवा देवनागरी थी। डॉ० वी. राघवन ने मैसूर और तंजोर से प्राप्त 'शृ गारमंजरी' की प्रतियों के आधार पर इस ग्रन्थ का सम्पादन किया है।[2] उनके कथनानुसार दोनो प्रतियो की भाषा तो संस्कृत है, परन्तु मैसूर की प्रति की लिपि देवनागरी है और तंजोर की प्रति की लिपि तेलुगु। हिन्दी के रीतिकालीन आचार्य चिन्तामणि (सन् १६५०) ने इस ग्रन्थ की हिन्दी-छाया प्रस्तुत की है।

मूल संस्कृत-ग्रन्थ

मूल ग्रन्थ के प्रारम्भिक दो छन्दो में हिन्दू देवी, देवताओं और गुरु की वन्दना है और अगले चौदह छन्दों में लेखक के पूर्वजों की वंशावली तथा उसके व्यक्तित्व की प्रशंसा है। बन्दे नवाज हजरत (सन् १३२१-१४२२ ई०) के वंश मे उत्पन्न शाहराजा के दूसरे पुत्र शाहनफैजरुल्लाह के पुत्र का नाम भी शाहराजा था। जो अपने समय के बादशाह का गुरु था। इन के ज्येष्ठ पुत्र अकबरशाह उपनाम 'बड़े साहब' (लगभग सन् १६२० ई०) ने स्वयं 'शृ गारमंजरी' ग्रन्थ का निर्माण आन्ध्र (तैलगू) भाषा मे किया और उसी ग्रन्थ का सुरवाणी (संस्कृत) में भी उत्था

१. हि० का० शा० इ० पृष्ठ ७४,८२। इसी ग्रन्थ का परिचय उन्होंने हिन्दी 'अनुशीलन' प्रयाग, वर्ष ७, अंक ४, पौष-चैत्र २०११, में प्रकाशित एक लेख द्वारा भी दिया था। इस ग्रंथ का सम्पादन भी उन्होंने किया है, जो कि प्रकाशित हो चुका है।

२. प्रकाशित पस्तक का नाम—'शृ गारमंजरी ऑफ सन्त अकबरशाह'।

किया गया ।[1] बड़े साहब अकबरशाह एक सफल व्यक्ति तप, यश, ज्ञान और धर्म में अद्वितीय और विद्वान् तथा मतिमान् गुणी व्यक्ति थे। उनका 'अकबर' नाम सार्थक था, वह विष्णु और ब्रह्मा से भी श्रेष्ठ थे : अ=विष्णु, क=ब्रह्मा, वर=श्रेष्ठ ।[2] उनकी गौरव-गरिमा की प्रशंसा करने से कवियों के गौरव में वृद्धि होती थी ।[3] वह स्वयं बादशाह द्वारा पूज्य थे।

१६ वें छन्द के बाद सघन-समास-बद्ध छह पंक्तियों के एक गद्यमय अनुच्छेद से प्रतीत होता है कि अकबर और उसके पिता शाहराजा सुलतान अबुलहसन के दरबार में रहा करते थे और यहीं लेखक ने ग्रन्थ की रचना की ।[4]

इसी अनुच्छेद के बाद वास्तविक ग्रन्थ का आरम्भ हो जाता है कि ग्रन्थकार ने ग्रन्थ-निर्माण के लिए किन-किन ग्रन्थों की सहायता ली और उसकी रचना-नीति क्या है ।[5] तंजोर में प्राप्त प्रति का आरम्भ ही यहां से होता है। उसमें

---

१ शाहनवेसरुस्साहास्समितगुणः शाहराज इत्यभवत् ।
विबुधजनमाननीयो महानुभावः क्षितीन्द्रगुरुः ॥ शृं०मं० ६
इति शाहराजपुत्रोऽप्यकबरशाहो महद्वन्द्य ।
यस्य 'बड़े साहेब' इति नाम महावैभवैकपदम् ॥ वही ७
तेनाग्रभावयायं रचितः शृंगारमंजरीग्रन्थः ।
स्वयमकबरेण भूभृन्मुकुटमणिरंचिताङ्घ्रिकमलेन ॥ वही १५
तद्विरचिताग्रभाषाकलिता शृंगारमंजरीछायाम् ॥
सेवन्ध्व सुरवाणीरचितां रससौधतारसिकभृंगाः ॥ वही १६

२. अो विष्णु को ब्रह्मा ताभ्यां श्रेष्ठस्ततोऽप्यकबरोऽयम् ॥
प्रथमति महेश्वरत्वं यस्स बड़े साहबेति नामभ्याम् ॥ शृं०मं० १३

३. शृ० म० १४-१५ (श्लोक)

४. चतुरब्धिवेष्टितसर्वसहेशानुनशोर्मधर्य........... सुलतान-अबुलहसन्-क्षोणीश-मुकुटतटदेदीप्यमान......किसलयसदृश-चरणगुरुराजशाहराजभक्तिमात्रसगुण-........तत्वज्ञनिधिपाठिकाधितकविबन्धुमित्र-बड़ेसाहबाकबरशाहः शृंगार-मंजरी-ग्रन्थराजं रुचिरं विरचयति।—शृं०मं० पृष्ठ २

५. शृं०मं० पृष्ठ २—[इस ग्रन्थ-सूची में दो हिन्दी-ग्रन्थों, केशवदास-रचित 'रसिकप्रिया' और सुन्दरदास-रचित 'सुन्दरशृंगार', का भी उल्लेख है।]

उपर्युक्त १६ छन्द और एक अनुच्छेद नहीं है।[1]

× × ×

'हदीकुल-उल-आलम', 'औरंगजेब' आदि ग्रन्थों तथा अन्य आधारों के अनुसार डॉ० राघवन का कथन है कि अबुलहसन गोलकुण्डा के सुलतान बनने से पूर्व, यौवनावस्था में गुलबर्गा में स्थित सैयद बन्दे नवाज़ हज़रत (उपनाम गेसू दराज़) की दरगाह में [शृंगारमंजरी के लेखक के पिता और उक्त सैयद की अनवरण १२वीं पीढ़ी के वंशज] हज़रत सैयद शाहराज (शाहराजू) के पास शिष्य रूप में १२ वर्ष तक रहे। अनुमान है कि गोलकुण्डा का अन्तिम कुतबशाही सुलतान यही अबुलहसन कुतबशाह उपनाम तानाशाह होगा, जिसने १४ वर्ष तक राज्य किया, फिर १४ वर्ष तक औरंगजेब की कैद में रहा, और अन्त में सन् १७०० अथवा १७०४ ई० में मृत्यु की गोद में सो गया।

अब यह अनुमान कर लेना सहज प्रतीत होता है कि अबुलहसन और अकबरशाह एक ही गुरु के शिष्य भी रहे हों और परस्पर मित्र भी। इनके सुलतान बन जाने के बाद अबुलहसन ने अपने गुरु-पुत्र एवं चिर-मित्र अकबरशाह को राजगुरु की उपाधि से सम्मानित किया हो, और अपने राज्यकाल में बचपन के साथी अकबर से शृंगार रस से सम्बद्ध नायक-नायिका-भेद पर एक ग्रन्थ लिख देने का आग्रह भी किया हो।[2] ग्रन्थ की समाप्ति-सूचक प्रशस्ति में भी अकबर का नाम बड़े समादर के साथ लेखक के रूप में उपस्थित किया गया है।[3]

× × ×

इस प्रकार ग्रन्थ के प्रारम्भिक और समाप्ति-सूचक अंश अकबर को 'शृंगार-मंजरी' के लेखक के रूप प्रस्तुत करते तो हैं, पर समस्या का अन्त यहीं नहीं हो जाता। अकबर के लेखक न होने के प्रमाण भी इन्हीं अंशों में मिल जाते हैं। प्रारम्भिक अंशों में वंशावली-वर्णन के अतिरिक्त अकबर की इतनी प्रशंसा की गई है, और वह भी प्रथम पुरुष में, जितनी कि कोई भी लेखक स्वयं नहीं कर सकता।

---

१. शृं० मं० (इन्ट्रो०, डॉ० राघवन) पृष्ठ १। (डॉ० राघवन के सम्बन्ध में एक लेख इसी ग्रन्थ में आगे देखिए।)

२. शृं० मं० (इन्ट्रोडक्शन) पृष्ठ ३-६, विशेषतः पृष्ठ ६, ३य अनुच्छेद : पृष्ठ ७, २य, ३य अनु०, पृष्ठ ८, १म अनु०।

३. इति श्री महाराजाधिराजमुकुटतटघटितमणिप्रभाराजिनीराजितचरणराजीव-शाहराजगुरुतनुज-बड़ेसाहेब-अकबर-विरचित-शृंगारमंजरी ग्रन्थः समाप्तः।

उसे प्रकारान्तर से कवियों के आश्रयदाता के रूप में भी उपस्थित किया गया है। 'अकबर ने स्वयं शृंगारमंजरी की रचना की है' इस वाक्य में प्रयुक्त अकेला 'स्वयं' शब्द ही संशय में डाल देने के लिए पर्याप्त है--आखिर इतने बड़े विद्वान् को 'स्वयं' शब्द द्वारा विश्वास दिलाने की आवश्यकता क्यों पड़ी ? कहीं ग्रन्थ का मूल लेखक कोई और विद्वान् तो नहीं है।

इन शंकाओं के समाधान के लिये तंजोर से प्राप्त तेलुगु लिपि में लिखित प्रति से एक संकेत मिल जाता है। उसमें उपर्युक्त १६ छंद और गद्यमय अनुच्छेद नहीं हैं। हमारा अनुमान है कि मूल ग्रन्थ में यह अंश होंगे भी नहीं। आन्ध्र भाषा से संस्कृतच्छाया तैयार करते समय किसी संस्कृतज्ञ विद्वान् ने ही अकबर की वंशावली तथा उसके व्यक्तित्व की प्रशंसा के लिए उक्त अंश का निर्माण किया है। निस्सन्देह अकबर उन दिनों एक महान् प्रभावशाली, ख्याति-लब्ध राजकवि और राजगुरु रहा होगा, जिसके गौरवगान में अन्य कवि अपना ही गौरव समझते होंगे। यों भी, वह एक ऐसे सैयद-वंश का कुलीन था, जो कि पिछले कम से कम ३०० वर्षों से पुजता चला आ रहा था। मरहूतज्ञ विद्वान् ने 'स्वयं' शब्द का प्रयोग करके पाठक को इस भ्रम से भी विमुक्त कर दिया है कि वह स्वयं आन्ध्र भाषा में लिखित मूल पुस्तक का रचयिता नहीं है। हमारा अनुमान यह भी है कि संस्कृत छायाकार विद्वान् हिन्दू ही है जिसने आरम्भिक दो छंदों में हिन्दू देवी-देवता और गुरु की वन्दना की है।

अकबर को ग्रन्थ का लेखक न मानने की एक और शंका तंजोर वाली प्रति के समाप्ति-सूचक वाक्य से उत्पन्न हो जाती है जहाँ अकबर के स्थान पर (तंजोर के मराठा-शासक-सन् : १६८४-१७१०) एकोजि के पुत्र शाहराज का उल्लेख है[1], पर इन्हें स्पष्ट शब्दों में संग्रहकर्ता के रूप में ही उपस्थित किया गया है, लेखक के रूप में नहीं, अतः अब तक के उपलब्ध प्रमाणों के बल पर अकबर को ही आन्ध्र भाषा में लिखित मूल ग्रन्थ का कर्ता मान लेना समुचित होगा। यह अलग प्रश्न है कि अकबर की किन्हीं और विद्वानों ने भी सहायता की हो।[2] हो सकता है

---

१. इति श्रीमन्महाराजाधिराजराजमुकुटतटघटितमणिप्रभाराजिनीराजितचरणयेव-कोजिराजवरसुतसाहराजसण्हं (?) शृंगारमंजरी सम्पूर्णम्।
—शृं०मं० (इन्ट्रो०) पृष्ठ २

२. शृं०मं० (इन्ट्रो०) पृष्ठ ६, २य अनु०।

कि संस्कृत और आन्ध्र भाषा के विद्वानों ने ग्रन्थ की आन्ध्र भाषा में[1] रचना करके अपने समय के राजगुरु, राजकवि, राजमित्र और कुछ अंशों तक अपने आश्रयदाता 'बड़े साहब' अकबर का नाम अमर बनाये रखने के लिए इन्हें ही ग्रन्थकर्त्ता उद्घोषित कर दिया हो। और यही कारण है कि ग्रन्थ में कुछ उदाहरण ऐसे भी हैं, जिनमें स्वयं अकबर को नायक रूप में प्रस्तुत किया गया है;[2] राजगुरु अकबर को 'महाराजाधिराज' आदि विशेषणों से भूषित करने का भी यही कारण प्रतीत होता है।[3] अकेले 'अकबर' को ग्रन्थकार होने का श्रेय दिया जाए अथवा ग्रन्थ-निर्माण में संस्कृत और तेलुगु के विद्वानों की अकबर के सहायक रूप में कल्पना की जाए, अथवा अन्य (एक अथवा अनेक) विद्वानों को मूल-ग्रन्थकार माना जाए—ये सब शंकाएँ समाधान की अपेक्षा रखती हैं। पर इतना निश्चित ही है कि संस्कृत-छाया का कर्त्ता स्वयं ग्रन्थ का मूल लेखक नहीं है। इसी धारणा की पुष्टि के लिए 'शृंगारमंजरी' में सामान्या नायिका के प्रसंग में लिखित निम्न वाक्य उद्धरणीय है

> 'सामान्याप्येकत्रं वानुरागिणी, बहुपुरुषसंगमो वृत्त्यर्थं । प्राचीनाग्रन्थमायोदाहरणादव्ययमर्थः सिद्धः, तत्पार्थो लिख्यते।
>
> शृ० मं० पृष्ठ १३, ७वीं पंक्ति।

"अव्ययमर्थः सिद्ध" शब्दों द्वारा छायाकार पाठक को विश्वास दिलाना चाहता है कि मूल लेखक और इसके अभिप्राय में कोई अन्तर नहीं है। स्पष्ट है कि ये दोनों व्यक्ति अलग-अलग हैं।

---

१ मूल ग्रन्थ 'आन्ध्र (तेलुगु) भाषा में लिखित होगा, अथवा इस ग्रन्थ का लेखक अथवा लेखक-वर्ग 'आन्ध्र' भाषा में अभिज्ञ अवश्य होगा इस अनुमान की पुष्टि शृंगारमंजरी के आरम्भ में प्रस्तुत सहायक ग्रन्थ-सूची में उल्लिखित 'नरस-काव्य' से भी हो जाती है, जो कि डॉ० राघवन के अनुसार भट्टमूर्ति-प्रणीत तेलुगु के ही ग्रन्थ 'नरसभूपालीय' (अपर नाम 'काव्यालंकार-संग्रह') का ही संक्षिप्त नाम है। (शृ०मं० भूमिका, पृष्ठ १०)

२ शृ०मं० ४६, ६२, १०८-६, २८१, २८४, २६८ (श्लोक) उदाहरणार्थ -

> यदवधि मनोजमूर्तिर्विलोकितसखि मयाकबर ।
> तदवधि तमेव सन्ततमात्मन्' सर्वत्र प्रपश्यामि ॥ शृं० मं०— ४६

सम्भव है ऐसे पद्य संस्कृतछायाकारों द्वारा प्रक्षिप्त हों, और मूल आन्ध्र-ग्रन्थ में न हो।

३. उदाहरणार्थ, शृं०मं० का ग्रन्थ-समाप्ति सूचक प्रशस्ति वाक्य।

हिन्दी-छाया

चिन्तामणि द्वारा प्रस्तुत हिन्दी-शृंगारमंजरी को उक्त 'संस्कृत-शृंगारमंजरी' की हिन्दी-छाया माना जाता है।[1] इसी प्रसंग में एक शंका यह की जा सकती है कि क्या मूल शृंगारमंजरी के निर्माण में चिन्तामणि का भी कोई हाथ है। हमारा उत्तर है कि किसी भी रूप में नहीं। न आन्ध्रभाषा में लिखित ग्रन्थ के निर्माण में उनका हाथ है और न ही संस्कृत छाया के निर्माण में। देवनागरी और तेलुगु लिपि-बद्ध दो ग्रन्थों के आधार पर डॉ० राघवन द्वारा संस्कृत-भाषा में सम्पादित शृंगारमंजरी में न चिन्तामणि का कहीं उल्लेख है, और न इनके किसी भी ग्रन्थ का। चिन्तामणि-रचित कविकुलकल्पतरु में शृंगारमंजरी का एक स्थान पर उल्लेख है।[2] अतः 'कविकुलकल्पतरु' का तो शृंगारमंजरी में उल्लेख होना सम्भव नहीं है, पर चिन्तामणि के अन्य 'काव्यप्रकाश', 'काव्यविवेक' आदि ग्रन्थों का भी शृंगारमंजरी में उल्लेख नहीं है।

यहां दो शंकाएं और उपस्थित होती है—पहली यह कि चिन्तामणि ने शृंगारमंजरी में जानबूझ कर अपना अथवा अपने किसी ग्रन्थ का उल्लेख न किया हो। पर प्रश्न है कि उन्होंने मूल लेखक के रूप में रचना किस भाषा में की आन्ध्र में अथवा संस्कृत में ? किसी भी स्रोत से आज तक ज्ञात नहीं हो सका कि वे आन्ध्र भाषा के ज्ञाता थे। अतः मूल लेखक तो वे हैं नहीं। संस्कृतच्छायाकार भी वे नहीं हैं। एक तो वे मूलतः हिन्दी के कवि और आचार्य हैं। दूसरे, जिस प्रकार उन्होंने अपने हिन्दी के शृंगारमंजरी ग्रन्थ के प्रारम्भिक १६ पद्यों में से तीन पद्यों में अपना नाम दिया है,[3] संस्कृत की शृंगारमंजरी में, कहीं भी उनका नाम नहीं है। तीसरे, चिन्तामणि से ऐसी तर्कबद्ध और व्यवस्थित शैली-की, विशेषतः शुद्ध संस्कृत-भाषा में, आशा रखना दुराशामात्र है।

इस प्रसंग में दूसरी शंका यह उपस्थित होती है कि चिन्तामणि ने मूल लेखक के रूप में हिन्दी में ही ग्रन्थ की रचना की हो, फिर उसका अनुवाद आन्ध्र में, और फिर संस्कृत-भाषा में हो गया हो।

पर चिन्तामणि को यह श्रेय भी नहीं दिया जा सकता। इसके तीन कारण हैं –

१. हिन्दी शृंगार-मंजरी की पाण्डुलिपि 'राज पुस्तकालय दतिया' (लिपिकाल सं० १८७१) से प्राप्त है।

२. क० कु० क० त० ५-१८४-१८६

३. हिन्दी-शृंगारमंजरी—पद्य-संख्या १२, १६, १७

एक तो यह कि चिन्तामणि स्वयं भी मान्ध्र भाषा में लिखित ग्रन्थ को मूल ग्रन्थ मान रहे हैं—

सामान्या भेकही ठौर अनुरागवती होति है, बहुत पुरुषन को संगम जो ताको सो वृति में कहे। मान्ध्र देस की भासा में प्राचीन उदाहरन हुते यह ग्रप सिद्ध है।

—हिन्दी शृं० मं० १२३ (पद्य)—वर्षामान

लिखने की आवश्यकता नहीं कि यह अंश संस्कृत-शृंगारमंजरी के उक्त अंश का हिन्दी में अक्षरशः छायानुवाद है।[1]

दूसरा कारण यह कि विद्वत्ता और पाण्डित्य से पूर्ण जो व्यवस्थित शैली शृंगारमंजरी में है, उसकी एक झलक भी 'कविकुलकल्पतरु' के नायक-नायिका-भेद-प्रकरण में [ही क्यों, सारे ग्रन्थ मे] कहीं भी दिखाई नहीं देता।

तीसरा कारण यह कि शृंगारमंजरी ग्रन्थ मे स्थान-स्थान पर भानुमिश्र की रसमंजरी में और उस पर प्रणीत 'आमोद' नामक प्राचीन एवं प्रख्यात टीका में प्रतिपादित सिद्धान्तो और परिभाषाओं का तर्कपूर्ण और सहज-मान्य खण्डन-मण्डन है, पर इनके कविकुलकल्पतरु ग्रन्थ में—जिसे शृंगारमंजरी के बाद की रचना माना जाता है, मूलतः भानुमिश्र की रसमंजरी का ही समाश्रय ग्रहण किया गया है, और कुछ-एक स्थलों पर साहित्यदर्पण और दशरूपक का भी। यदि शृंगारमंजरी चिन्तामणि की रचना होती तो भानुमिश्र के जिन सिद्धान्तो का तर्कपूर्ण खण्डन वे इस ग्रन्थ में कर चुके हैं, उनका यथावत् प्रतिपादन वे अपने बाद वाले ग्रन्थ 'कविकुलकल्पतरु' में क्यों करते ?

अतः यह निश्चित है कि चिन्तामणि 'शृंगारमंजरी' के किसी भी रूप में मूल लेखक नहीं हैं। हमारी इस धारणा की पुष्टि कविकुलकल्पतरु और शृंगार-मंजरी मे निरूपित नायक-नायिका-भेद-सम्बन्धी निम्नांकित साम्य और वैषम्य से भी हो जाएगी कि दोनों ग्रन्थों का लेखक एक व्यक्ति नहीं है—

(क) नायक-भेद

कविकुलकल्पतरु मे साहित्यदर्पण के समान धीरोदात्तादि चार तथा अनु-कूलादि चार नायकों को स्थान मिला है : पर शृंगारमंजरी मे रसमंजरी के समान पति आदि तीन, अनुकूलादि चार, उत्तमादि तीन और प्रोषितादि तीन नायकों को। इस ग्रन्थ में मानी और चतुर नायक को, जिनका भानुमिश्र ने 'शठ' मे

---

१. देखिए पृष्ठ २८४

अन्तर्भाव किया या, पृथक् माना गया है। इस ग्रन्थ में शठ के दो नए भेद वर्णित हैं—प्रच्छन्न और प्रकाश; तथा प्रोषित के दो नए भेद—अभिज्ञित और विरही। इनके अतिरिक्त कामशास्त्रीय भद्रादि नायकों की भी इस ग्रन्थ में चर्चा है।[1]

(ख) नायिका-भेद

चिन्तामणि और अकबरसाहि दोनों ने नायक-नायिका-भेद प्रकरण के लिए प्रमुखतः रसमंजरी का समाश्रय लिया है। अतः रसमंजरी में निरूपित भेद-भेद तो इन दोनों के ग्रन्थों में निरूपित हुए ही हैं; इनके अतिरिक्त चिन्तामणि ने साहित्यदर्पण और दशरूपक के भी कुछ-एक भेदों को अपनाया है—और अकबरसाहि ने इस विषय में मौलिक प्रयास भी किया है। रसमंजरी में निरूपित भेदोपभेदों के अतिरिक्त अन्य भेदों की सूची इस प्रकार है—

कविकुलकल्पतरु

१. मुग्धा नायिका के कोमल-कोपा, अविदितकामा, और विदितकामा भेद।

२. मध्या नायिका के आरूढयौवना, आरूढमदना, विचित्रसुरता और प्रगल्भवचना भेद।

३. प्रौढा नायिका के लोकप्रगल्भा और मदनमत्ता भेद।[2]

शृंगारमंजरी

१. मध्या नायिका के प्रच्छन्न और प्रकाश भेद।

२. प्रगल्भा नायिका के परकीया और सामान्या भेद।

३ परोढा नायिका के उद्बुद्धा और उद्बोधिता भेद।[3] फिर—

(क) उद्बुद्धा नायिका के ७ उपभेदों में से निपुणा (स्वयंदूती), ललिता (प्रच्छन्न, प्रकाश) और साहसिका उपभेद।

(ख) उद्बोधिता नायिका के धीरादि तीन उपभेद।[4]

४. सामान्या नायिका के स्वतन्त्र आदि पाँच भेद।[5]

५. अवस्थानुसार आठ नायिका-भेदों में वक्रोक्तिगर्विता नामक एक अन्य भेद की वृद्धि, तथा इन नौ नायिकाओं के उपभे.।[6]

६. कामशास्त्र के आधार पर नायिका के हस्तिनी आदि चार भेद।[7]

---

१. शृं० मं० पृष्ठ ४६-५१
२. क० कु० क० ५.२-८१, ८७, १०३
३. शृं० मं० पृष्ठ ४, ६, ८
४. शृं० मं० ८, १२
५. शृं० मं० १३
६. शृं० मं० १५,२४
७. शृं० मं० ५४

इस प्रकार उक्त पुष्ट आधारों पर यह विश्वास-पूर्वक स्वीकार किया जा सकता है कि चिन्तामणि ने शृ गारमंजरी की संस्कृतच्छाया की ही अक्षरशः हिन्दी-छाया तैयार की है। बड़े साहब अकबर के जीवन-काल में की है अथवा बाद में, यदि उनके जीवन-काल में की है तो उनके आदेश से की है अथवा स्वतन्त्र रूप से, उनकी ख्याति से प्रभावित होकर की है, अथवा उनके ग्रन्थ की ख्याति से प्रभावित होकर, स्वयं शासक न होते हुए भी अकबर कवियों के आश्रयदाता थे, अतः उन्हें प्रसन्न करने के लिए की है अथवा हिन्दी-साहित्य की श्रीवृद्धि के साथ-साथ अपनी भी ख्याति के उद्देश्य से—इन सभी विकल्पों का उत्तर आगामी गवेषणाएँ देंगी।

कविकुलकल्पतरु में प्रोषित-पतिका और प्रवत्स्यत्-पतिका के प्रसंग में शृ गारमंजरी का उल्लेख हुआ है[1]—केवल इसी एक आधार पर माना जा सकता है कि शृंगारमंजरी की हिन्दी-छाया इनके इस मूल ग्रन्थ से पूर्व निर्मित हुई। पर इस *धारणा के विरुद्ध भी एक प्रबल तर्क विचारणीय है कि कविकुलकल्पतरु के नायक*-नायिका-भेद प्रसंग में शृ गारमंजरी के मूलभूत सिद्धान्तों का कुछ भी प्रभाव लक्षित नहीं होता। कहीं ऐसा तो नहीं कि कविकुलकल्पतरु की रचना पहले हुई, फिर संस्कृत-शृ गारमंजरी की, और फिर शृ गारमंजरी की ख्याति से वशीभूत होकर कविकुलकल्पतरु में उक्त दोनों नायिकाओं के प्रसंग में इस ग्रन्थ का उल्लेख-मात्र कर दिया गया। हमारा विचार है कि यही धारणा अधिक समुचित है—फिर भी, इस समस्या का उत्तर भी आगामी गवेषणाएं ही देंगी।

शृ गारमंजरी की संस्कृत और हिन्दी-छायाओं को देखने से निम्न बातें *स्पष्ट रूप से लक्षित हो जाती हैं—*

(क) मूल-ग्रन्थकार द्वारा प्रतिपादित सिद्धान्तों के गद्यबद्ध खण्डन-मण्डन का चिन्तामणि ने गद्य में ही अक्षरशः अनुवाद किया है। यहां उनका अपना कुछ भी नहीं है।[2] यहां यह उल्लेख्य है कि चिन्तामणि ने शृ गारमंजरी की संस्कृत-छाया के 'गद्य-भाग' का ही अक्षरशः अनुवाद किया है, न कि पद्य-भाग का।

---

१. क० कु० क० त० ५.२.१८८

२. *उदाहरणार्थ—*

शृ गारमंजरी (संस्कृत-छाया), पृष्ठ ५, प्रगल्भा-निरूपणम्।

शृंगारमंजरी (हिन्दी-छाया) ४१वें और ४२वें छन्द के मध्य का गद्यभाग।

(ख) अकबर ने नायक-नायिकाओं की स्वसम्मत परिभाषाएँ और उनके भेदोपभेद भी गद्य में ही प्रस्तुत किये हैं, पर चिन्तामणि ने इन्हें प्राय: पद्य में ही ढाला है।[1]

(ग) उदाहरणों के निर्माण में निस्सन्देह चिन्तामणि का कवित्व झलकता है। अकबर द्वारा प्रस्तुत उदाहरणों का भाव लेकर इन्होंने उन्हें अपनी विस्तृत शैली में ढाला है। यहां वे अक्षरशः अनुवाद करने से प्राय: बचे हैं।[2] कवित्व की दृष्टि से ये छन्द अत्यन्त मनोमोहक हैं, और ऐसे उदाहरणों की भी सख्या निस्सन्देह अधिक है, जिनमें अकबर के स्थान पर चिन्तामणि की मौलिक सूझ का पता चलता है।[3]

(घ) शृंगारमंजरी (संस्कृतच्छाया) में हमारे देखने में एक भी ऐसा उदाहरण नहीं आया, जिसमे स्पष्ट रूप से कृष्ण-गोपी विषयक चर्चा की गयी हो। शृंगारमंजरी की हिन्दी-छाया में भी ऐसे छन्दों की सख्या बहुत ही कम है।[4] वस्तुत:, हिन्दी-छायाकार का उद्देश्य मूल ग्रन्थ को यथावत् रूप में दिखाना है, न कि उसे हिन्दी-रीतिकालीन वातावरण में ढालना। इसके विपरीत अपने मौलिक ग्रन्थ 'कविकुलकल्पतरु' के अधिकाश उदाहरणों में उन्होंने स्पष्ट अथवा संकेत रूप से राधा-कृष्ण को ही आलम्बन बनाया है।

---

१. उदाहरणार्थ—

अकबर—स्वपरिणेतर्यनुरक्ता स्वीया। (पृष्ठ ३)

चिन्तामणि—परिनेता पर होत है जाके मन अनुराग।
स्वीया सज्जन समझ उत्तम लक्षण भाग॥ (पद्य-सख्या २२)

२. उदाहरणार्थ

सख्य कदा भविष्यति मुग्धाया ज्ञानमेतस्याः।
अद्यन्त लालयितुं पत्यु प्रेमापि वेत्ति नेन्दुमुखी॥
शृ० म० (सं० छाया) पद्य १६

जाहि चहे बड़े साहिब प्रम सो, सो पल एक रहे कत न्यारी।
सोने को हूहै सखी दिन सो जब, जानेगी प्यारे के प्यार को प्यारी॥
—शृ० म० (हिन्दी-छाया) पद्य ३०

३. तुलनार्थ—नायिका का उदाहरण :
संस्कृत शृ० म०, १७, हिन्दी शृ० म०, पद्य स० १६

४. उदाहरणार्थ, शृ०म० (हिन्दी-छाया) छन्द-सख्या ११७, १६६ -साहसिका और स्वप्नानुतापिता (विरहोत्कण्ठिता) नायिका के उदाहरण।

(ङ) हिन्दी-अनुवाद की प्रमुख विशेषता है, 'बड़े साहब' के प्रति समादर-भाव। *उन्हें ग्रन्थकार के रूप में 'स्वीकृत' किया गया है।* स्वनिर्मित पद्यबद्ध-परिभाषाओं में भी चिन्तामणि ने स्थान-स्थान पर अकबर के ही नाम का उल्लेख करके प्रकारान्तर से यह संकेत किया गया है जो कुछ है वह मूल-ग्रन्थकार का ही है।[1] संस्कृत-छाया में जिन उदाहरणों में अकबर का नाम प्रयुक्त हुआ है, हिन्दी-अनुवादक ने वहाँ तो प्रायः उसका नाम प्रयुक्त किया ही है,[2] अन्य अनेक स्वनिर्मित उदाहरणों में भी 'अकबर' का नाम किसी न किसी रूप में आ ही गया है।[3] चिन्तामणि मूल-लेखक के प्रति सम्भवतः इतने आभारी हैं कि सारे ग्रन्थ में उन्होंने कवि-रूप में अपना नाम कहीं भी प्रयुक्त नहीं किया। प्रारम्भिक सोलह पद्यों में से — जिन्हें वस्तुतः मूल-ग्रन्थ का भाग नहीं समझना चाहिए—केवल तीन ही पद्यों में चिन्तामणि का नाम आया है,[4] शेष में नहीं। वस्तुतः, इन्हीं तीन स्थलों के पुष्ट आधार पर ही चिन्तामणि को शृंगारमंजरी के हिन्दी-अनुवादक का श्रेय दिया जा रहा है, अन्यथा अनुमान के बल पर न जाने समय-समय पर किस-किस को यह श्रेय दिया जाता।

○○○

---

१ उदाहरणार्थ—शृ०मं० (हिन्दी-छाया) पृष्ठ २०, २१, २३, ४७, ६१

२ तुलनार्थ—शृ०मं० (संस्कृत) १५, १६८ (पद्य)
शृ०मं० (हिन्दी) पृष्ठ १४, ६४

३ उदाहरणार्थ—शृ०मं० (हिन्दी) पृष्ठ ४, ५, २३, २४, २८, ३०, ३४, ३८, ३९, ४६, ५७, ६०

४. उदाहरणार्थ—

(क) चिन्तामनि कवि सों बड़ाई बड़े साहिब की,
एक रसना सो कौन अन्तिम कहाँ धरे ॥

(ख) *सकल प्राचीन ग्रन्थ लिखिन बिचारि कहै,*
'चिन्तामनि' रस के समूहनि सचत है ॥

(ग) समाहराज नन्द बड़े साहिब रसिकराज,
शृंगारमंजरी ग्रन्थ रुचित रचत है ॥

—हिन्दी शृंगारमंजरी, पद्य-संख्या का १२, १७

१७. डॉ० वी० राघवन् की काव्यशास्त्र को देन

संस्कृत के काव्यशास्त्र को आधुनिक युग में जिन मनीषियो ने अंग्रेज़ी-भाषा के माध्यम से काव्यशास्त्र के जिज्ञासुओं एवं अध्येताओं के सम्मुख रखा उसमें से डाक्टर वी० राघवन[1] का योगदान निश्चय ही महत्त्वपूर्ण है। इस विषय से सम्बद्ध उनकी चार कृतियां हैं—'नम्बर ग्रौर रसस्', 'सम कान्सेप्ट्स ग्रॉफ ग्रलंकारशास्त्र', 'भोज'स् शृंगारप्रकाश' और 'शृंगारमंजरी'। प्रथम दो ग्रन्थों का प्रकाशन क्रमशः सन् १९४० और १९४२ में हुआ। तीसरे ग्रन्थ का प्रथम भाग सन् १९४० में ग्रौर द्वितीय भाग सन् १९४५ में प्रकाशित हुआ। फिर ये दोनों भाग तथा शेष भाग सन् १९६३ में समन्वित रूप में प्रकाशित हुए। 'शृंगारमंजरी' का प्रकाशन सन् १९५१ में हुआ। इस प्रकार इन चारों ग्रन्थों में काव्यशास्त्र का समग्र विषय-फलक किसी न किसी रूप में प्रस्तुत हो आता है।

[१]

'नम्बर ग्रौर रस'स्' ग्रन्थ समग्र रूप में प्रकाशित होने से पूर्व 'जरनल ग्रॉफ ग्रोरिएन्टल रिसर्च मद्रास' में लेखों के रूपों में क्रमशः प्रकाशित होता रहा था। इस ग्रन्थ में डॉ० राघवन ने रस-संख्या जैसे महत्त्वपूर्ण एवं विवादास्पद विषय पर काव्यशास्त्र-विषयक प्रचुर सामग्री प्रस्तुत की है, तथा काव्यशास्त्रेतर ग्रन्थों का भी यथाप्रसंग उल्लेख किया है। सर्वाधिक सामग्री शान्त-रस के सम्बन्ध में प्रस्तुत की गयी है और इसकी अस्वीकृति पर विभिन्न मत संगृहीत किये गये हैं।

भरत-प्रणीत नाट्यशास्त्र के जिस संस्करण में शान्त को छोड़कर शेष आठ रसों का उल्लेख हुआ है उसे ही प्रामाणिक मानते हुए इन्होंने ग्रन्य संस्करण के उस प्रसंग को प्रक्षिप्त माना है जिसमें शान्त को मिलाकर रस-संख्या नौ मानी गयी है। सिद्धान्त-रूप में इस रस को स्पष्टतः स्वीकार करने वाले प्रथम ग्राचार्य उद्भट है, और व्यवहार-रूप में इस रस का प्रयोग करने वाले प्रथम कवि—यदि महाभारत के प्रणेता का उल्लेख न भी किया जाए तो—ग्रश्वघोष है, जिनके दो

---

१. इनके परिचय के लिए देखिए पृष्ठ ३५८

ग्रन्थों—'सौन्दरानन्द' काव्य और 'शारिपुत्रप्रकरण' में इस रस का परिपाक हुआ है, तथा जैन-ग्रन्थ 'अनुयोगद्वारसूत्र' में इसका उल्लेख हुआ है। डॉ० राघवन ने इस रस के सम्बन्ध में अन्य काव्याचार्यों का भी उल्लेख किया है इनमें से एक तो अभाववादी हैं जिनकी दृष्टि में किसी भी भाव को इसका स्थायीभाव नहीं ठहराया जा सकता। दूसरे अन्तर्भाववादी हैं, जो इस रस की पृथक् सत्ता नहीं मानते —इसे बीभत्स और वीर रसों में अन्तर्भूत करने के पक्ष में हैं। तीसरे इसे काव्य में तो स्वीकार करते हैं किन्तु इसे नाटक का विषय बनाने के पक्ष में नहीं हैं। डॉ० राघवन ने यद्यपि स्पष्ट शब्दों में अपना मन्तव्य प्रस्तुत नहीं किया, किन्तु प्रतीत ऐसा होता है कि वे उन आचार्यों से सहमत हैं, जिन्हें इस की पृथक् सत्ता स्वीकृत है, और इसका प्रयोग काव्य और नाटक दोनों में मानते हैं। इसी प्रसंग में शान्त रस के स्थायिभाव की समस्या पर यथावत् प्रकाश डालने के उपरान्त कतिपय आचार्यों का यह मन्तव्य भी उल्लिखित किया गया है कि शान्त रस तो सभी रसों का आधार है। डॉ० राघवन इस धारणा से सम्भवतः सहमत प्रतीत नहीं होते।

इस ग्रन्थ में कतिपय अन्य सम्भाव्य रसों को स्वीकृत, अस्वीकृत अथवा अन्य रसों में अन्तर्भूत करने के सम्बन्ध में भी उपलब्ध सामग्री संकलित की गयी है। ये रस हैं— प्रेयान्, वात्सल्य, भक्ति, स्नेह, श्रद्धा, लौल्य, मृगया, अक्ष, व्यसन, दुःख, सुख, माधुर्य, माया और ब्रीडानक। डॉ० राघवन अन्ततः इन्हें रस की कोटि में स्वीकार न करते हुए 'भाव' मानते हैं, अथवा सम्भवतः स्थायिभावों में अन्तर्भूत करने के पक्ष में हैं।

रस-संख्या से सम्बद्ध एक अन्य प्रसंग है केवल एक रस—उदाहरणार्थ, शृंगार अथवा करुण अथवा अद्भुत रस—की स्वीकृति और इसी के व्यापक परिवेश में अन्य रसों का साक्षात् रूप से अथवा प्रकारान्तर से अन्तर्भाव। इस प्रश्न पर भी डॉ० राघवन ने इस ग्रन्थ में पर्याप्त दिशा-निर्देश किया है। वे केवल एक रस की परिकल्पना से असहमत प्रतीत होते हैं; यह अलग बात है कि सब रसों को उनकी आनन्द-रूपता की दृष्टि से (जिस पर इस ग्रन्थ में पृथक् परिच्छेद के रूप में प्रकाश डाला गया है) 'एक' ही मान लिया जाए।

[२]

'सम कॉन्सेप्ट्स ऑफ् अलंकारशास्त्र' विषय से सम्बन्धित नौ लेखों का संग्रह है, जो कि जरनल ऑफ् ओरिएण्टल रिसर्च मद्रास, जरनल ऑफ् मद्रास यूनिवर्सिटी मद्रास, इण्डियन हिस्टोरिकल क्वार्टरली कलकत्ता और इण्डियन कल्चर कलकत्ता में समय-समय पर प्रकाशित होते रहे थे। इसी बीच 'भोज'स् शृंगार-

प्रकाश' ग्रन्थ का प्रणयन भी हो चुका था। इन लेखों को, स्वयं लेखक के अनुसार 'भोज'स् शृगारप्रकाश' का परिशिष्ट अथवा पूरक मानना चाहिए।

इस ग्रन्थ का प्रथम लेख 'लक्षण' नामक काव्य-तत्त्व है, जिस पर लेखक ने विस्तृत सामग्री प्रस्तुत की है। भरत, अभिनवगुप्त, दण्डी, धनञ्जय एव धनिक, भोजराज, शारदातनय, जयदेव, शिंगभूपाल, विश्वनाथ, जगन्नाथ आदि आचार्यों के ग्रन्थों से एतद्विषयक सामग्री सकलन कर इस काव्य-तत्त्व का विशद विवेचन किया गया है। भरत ने ३६ लक्षण स्वतन्त्र रूप से स्वीकार किये थे—परवर्ती सभी आचार्यों ने इन्हें किसी न किसी तत्त्व में अन्तर्भूत करने का निर्देश किया है—इसे किसी ने 'अलकार', किसी ने 'भाव' और किसी ने 'प्रबन्धाग' मात्र माना है। लक्षण' के अन्य दो नाम भी रहे है—भूषण और नाट्यालकार। अन्त में विभिन्न आचार्यों द्वारा स्वीकृत लक्षणों की तालिका प्रस्तुत की गयी है। इतनी विशद एव व्यवस्थित सामग्री प्रस्तुत करते हुए भी लेखक ने इनके स्वरूप के सम्बन्ध में अपना कोई मन्तव्य प्रस्तुत नहीं किया।

'सस्कृत साहित्य में अलकार का सुप्रयोग एव दुष्प्रयोग' ग्रन्थ का दूसरा लेख है, जो लेखक की गहन अध्ययनशीलता, व्यवस्थित सयमन-प्रवृत्ति का द्योतक तो है ही, साथ ही उनकी कविहृद-मर्मज्ञता का भी सूचक है। वे कोरी पद्य-रचना को काव्य नहीं मानते, उसमें काव्य-चमत्कृति अनिवार्यतः अपेक्षित है, अन्यथा 'गोरपत्यं बलीवर्दः तृणान्यत्ति मुखेन सः' इस पद्यबद्ध कथन को काव्य स्वीकार करना होगा। इसी चमत्कृति के बल पर कालिदास का स्वभावोक्ति-द्योतक यह कथन काव्य का एक निदर्शन स्वीकार किया गया है—निष्कम्पवृक्षं निभृतद्विरेफं मूकाण्डजं शान्तमृगप्रचारम्। (कु० स० ३ ४२)। इस लेख में भामह, दण्डी, आनन्द-वर्धन, अभिनवगुप्त, कुन्तक, महिमभट्ट, भोजराज, क्षेमेन्द्र तथा अप्पय्यदीक्षित के एतद्विषयक उद्धरणों को प्रस्तुत करते हुए डॉ० राघवन अलकार के यथावत् प्रयोग पर बल देते है। अलकार-प्रयोग रसाक्षिप्त होना चाहिए, अलकृति तभी शोभनीय बन पाती है जब वह उचित रूप से विन्यस्त हो, अलंकार 'ध्वनि' के अग बनकर ही परम छाया को प्राप्त होते हैं, इनका प्रयोग यत्न-साध्य नहीं होना चाहिए, महाकवियों को तो इनके लिए कोई प्रयास नहीं करना पडता, उनकी वाणी में ये एक-दूसरे के साथ होड़ लगाते हुए स्वयं चले आते हैं—इत्यादि अनेक मन्तव्यों को इन्होंने वाल्मीकि, कालिदास, भवभूति, विशाखदत्त, श्रीहर्ष आदि के ग्रन्थों के पद्यों से उदाहृत एव पुष्ट किया है। इस लेख में रमण्ड, लेवार्न और वेन नामक पाश्चात्य चिन्तकों के कथन भी यथास्थान उद्धृत किये गये हैं। लेख की समाप्ति टैगोर के एक कथन से की गयी है जिसका आशय है कि इस चित्र-टबल

नानावर्ण-संयोजित एवं सुरम्य सृष्टि के सम्बन्ध में यदि विधाता गर्वपूर्वक कहता है कि मैं इस जगद्-रचना में आह्लाद का अनुभव करता हूँ तो कवि भी अपनी यथावत् अलंकार-नियोजित काव्य-रचना के सम्बन्ध में गर्वपूर्वक कह उठता है कि मुझे इसमें आह्लाद मिलता है।

ग्रन्थ के तीसरे और चौथे लेख क्रमशः स्वभावोक्ति और भाविक अलंकारों से सम्बद्ध हैं। स्वभावोक्ति अलंकार की स्थिति काव्यशास्त्र में बहुत विचित्र रही है। भामह से पूर्व यह एक अलंकार के रूप में स्वीकृत काव्य-तत्त्व रहा होगा। सम्भावना है कि भामह इसे अलंकार के रूप में स्वीकृत नहीं करते, अन्यथा ऐसे कथन भी काव्य मान लिये जाएंगे—

आक्रोशन्नाह्वयन्नन्यान् आधावन्मण्डलं रुदन्[1] ।
गा वारयति दण्डेन गोपः सस्यावतारिणीः ॥ का०अ० २.९४

(ग्वाला आक्रोश करता हुआ, पुकारता हुआ, भागता हुआ, घास खाने वाली गौओं को अपने डण्डे से रोकता है।)

किन्तु दण्डी इसे अलंकार मानते हैं और इसके चार प्रकारों का उल्लेख करते हुए 'जाति' नामक भेद का उदाहरण प्रस्तुत करते हैं। इसी प्रसंग में डॉ० राघवन ने 'समुदायाभिधान' अथवा 'वार्ता' एवं 'वक्रोक्ति' नामक अपातत्त्वों की चर्चा की है। भट्टिकाव्य पर 'जयमंगला' टीका से एक कथन उद्धृत करते हुए वे इस निष्कर्ष पर पहुँचे हैं कि विशिष्ट वार्ता (न कि निर्विशिष्ट वार्ता) ही वस्तुतः स्वभावोक्ति अथवा जाति है। स्वभावोक्ति का सर्वप्रथम स्वच्छ लक्षण एवं उदाहरण देने वाले उद्भट हैं। भोज का अर्थव्यक्ति अलंकार स्वभावोक्ति अलंकार है, इसे अग्निपुराण में 'स्वरूप' अलंकार नाम से अभिहित किया गया है। भोज के समय तक आते-आते यह भी स्पष्ट संकेत मिलने लगता है कि इस नाम का तो अलंकार स्वीकार्य है ही, साथ ही समग्र वाङ्मय को जिन तीन प्रकारों[2] में विभक्त किया गया है उनमें से स्वभावोक्ति भी एक है। महिमभट्ट द्वारा प्रस्तुत 'अवाच्यवचन' नामक दोष के स्वरूप-निर्देश से डॉ० राघवन इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि स्वभावोक्ति अलंकार की सत्ता वहाँ माननी चाहिए जहाँ उक्त दोष न हो। यह दोष कवि की प्रतिभा (कल्पना-शक्ति) के अभाव से काव्य में आ जाता है, परिणामस्वरूप वह पाठक के सम्मुख प्रत्यक्ष चित्र प्रस्तुत नहीं कर पाता। किन्तु इनसे पूर्व

---

१ 'नुदन्' पाठ भी मिलता है।
२. स्वभावोक्ति, वक्रोक्ति और रसोक्ति।

कुन्तक स्वभावोक्ति अलंकार का खण्डन कर आये थे। उनका तर्क यह है कि किसी भी वर्ण्य विषय की अपने स्वभाव से भिन्न सत्ता सम्भव ही नहीं है ; स्वभावोक्ति — वर्ण्य विषय के 'स्व-भाव' का कथन हो तो 'अलंकार्य' अर्थात् काव्य की वर्णनीय वस्तु होती है। उसे ही यदि 'अलंकार मान लें तो फिर वर्णनीय क्या बच रहेगा।

मम्मट के अनुसार स्वभावोक्ति का वर्ण्य विषय वर्तमान काल से सम्बद्ध होता है और भाविक का भूत और भविष्यत्काल से। किन्तु रुय्यक के अनुसार एक अन्तर और भी है—भाविक में सहृदय एक योगी के समान भूत एवं भविष्य को देख रहा होता है, पर स्वभावोक्ति में प्रतीति साधारण होती है, और इसी आधार पर सहृदय अपना व्यक्तित्व खो बैठता है। इधर डॉ० राघवन को यह साधारणीकरण नामक तत्त्व भाविक में भी अभीष्ट है, जिसकी उत्तरकालिक स्थिति स्वयं रुय्यक को भी अभीष्ट थी।

प्रस्तुत ग्रन्थ के अगले दो लेख रीति और वृत्ति से सम्बन्धित हैं, जिन पर उन्होंने अपने अन्य ग्रन्थ 'भोज'ज़ शृंगारप्रकाश' में सविस्तर प्रकाश डाला है। ग्रन्थ का सातवां लेख है—औचित्य। क्षेमेन्द्र का 'औचित्य' नामक काव्य-तत्त्व का व्याख्याता माना जाता है, जिन्होंने पूर्ववर्ती आचार्यों के ग्रन्थों के आधार पर इस तत्त्व के स्वरूप से अवगत होकर २७ भेदों का सोदाहरण निरूपण किया है। आगे चल कर इनमें परवर्ती आचार्यों ने भी इस तत्त्व का यथास्थान उल्लेख किया है। डॉ० राघवन ने इस लेख में भरत, रुद्रट, आनन्दवर्धन, कुन्तक, राजशेखर, क्षेमेन्द्र, अग्निपुराणकार, भोजराज, हेमचन्द्र के अतिरिक्त अभिनवगुप्त, लोल्लट, नमिसाधु आदि टीकाकारों के भी मन्तव्यों एवं धारणाओं का यथावत् उद्धृत करते हुए प्रो० एस कुप्पुस्वामी शास्त्री का एतद्विषयक प्रसिद्ध 'मण्डल-चित्र' (ग्राफ) प्रस्तुत किया है। इसके अनुसार (क) 'औचित्य' को एक वृत्त के रूप में सर्वत्र व्याप्त दिखाया गया है, (ख) अन्तवर्ती त्रिकोण रस, ध्वनि और अनुमान का द्योतक है, (ग) उसका भीतरी वृत्त वक्रोक्ति का सूचक है, और (घ) भीतरी त्रिकोण रीति, गुण और अलंकार का। इस लेख में प्रसंगवश अनौचित्य की भी चर्चा है। हास्य रस का रहस्य ही अनौचित्य है; पर वह चारु अवश्य होना चाहिए। रसाभास का तो जीवित ही अनौचित्य है। अनौचित्य जिन स्थितियों में औचित्य का रूप ग्रहण कर लेता है, इस पर भी प्रस्तुत प्रसंग में संकेत किया गया है।

इससे अगला लेख है—संस्कृत-काव्यशास्त्र के विभिन्न नामों का विकास। इस शास्त्र के अलंकारशास्त्र, क्रियाविधि, क्रियाकल्प, काव्यालंकार, साहित्यशास्त्र आदि अनेक अभिधान हैं। इस ग्रन्थ का अन्तिम लघु लेख 'चमत्कार' है।

इसके दश भेद 'कविकण्ठाभरण' से उद्धृत किये गये हैं और इसके सात कारण 'इण्डिया ग्राफिस' की पाण्डुलिपि क्रमांक ३६६६ से उद्धृत किये गये हैं।

[३]

डॉ० राघवन का सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ है—'भोज'स् शृंगारप्रकाश' जो इनकी अनवरत, गम्भीर एवं व्यापक अध्ययनशीलता का परिचायक है। भोज का 'सरस्वतीकण्ठाभरण' और 'शृंगारप्रकाश'—ये दोनों मिलकर यदि संस्कृत-काव्यशास्त्र के 'विश्वकोश' का रूप धारण कर लेते हैं तो इन्हीं के गौरव के अनुरूप डॉ० राघवन का एक सहस्र से भी अधिक पृष्ठों का यह ग्रन्थ संस्कृत-काव्यशास्त्र का एक प्रकार से 'विश्वकोश' ही बन गया है। विशेषतः, उसके खण्डित पाठों से भोज की साहित्यिक मान्यताओं और धारणाओं को, और साथ ही साथ, पाठानुसन्धान की शास्त्रीय पद्धति के आधार पर ग्रन्थ के मूल भाग को, यथाविधि प्रस्तुत कर डॉ० राघवन एक अमूल्य कृति को प्रकाश में लाये हैं।

प्रस्तुत ग्रन्थ में काव्यशास्त्र से सम्बद्ध इन विषयों पर विशद अध्ययन प्रस्तुत हुआ है—काव्य और नाट्य, साहित्य, उक्ति, वक्रोक्ति, स्वभावोक्ति, ध्वनि, औचित्य, रीति, वृत्ति और प्रवृत्ति, दोष, गुण, अलंकार, रस और नाट्य-शास्त्र। इनके अतिरिक्त काव्यविधाएं, निरुक्ति-शास्त्र, प्रणय-पर्व, चौसठ कलाएं, उपमा-सौन्दर्य पर भी इसमें लेख हैं। बाद के दो अध्यायों में 'भोज से पूर्व और परवर्ती आचार्यों' पर और 'शृंगारप्रकाश' में प्रसंगवश चर्चित अन्य ग्रन्थों के विभिन्न सिद्धान्तों' पर प्रकाश डाला गया है। ग्रन्थ के अन्तिम अध्याय में शृंगारप्रकाश में उद्धृत लेखकों तथा उनकी कृतियों का सविस्तर परिचय दिया गया है। लगभग सवा सौ पृष्ठों की टिप्पणियां एवं विवरणात्मक परिशिष्ट संस्कृत-काव्यशास्त्र का एक अमूल्य सूची-संकलन है।

डॉ० राघवन ने उक्त काव्य-तत्त्वों के सम्बन्ध में भोज-प्रणीत शृंगारप्रकाश से तो सामग्री-संकलन किया ही है, साथ ही इससे पूर्ववर्ती एवं परवर्ती काव्य-शास्त्रीय ग्रन्थों से भी यथेष्ट सामग्री प्रचुर मात्रा में ग्रहण की है। कहीं स्रोत-निर्देश के उद्देश्य से और कहीं समानान्तर विचारधारा प्रस्तुत करने के लिए दर्शन-ग्रन्थों से भी उद्धरण प्रस्तुत किये गये हैं, और कहीं-कहीं काव्य एवं नाट्य-ग्रन्थों के स्थलों द्वारा भी विवेच्य सिद्धान्त का स्रोत-निर्देश अथवा स्पष्टीकरण किया गया है। यह सब सामग्री इतने व्यवस्थित, तर्कसम्मत, पूर्वापर-निर्देशपूर्वक और व्याख्यात्मक रूप में सजो दी गयी है कि हर अध्याय अपने-आप में विवेच्य काव्य-तत्त्व का सुघटित इतिहास-सा बन गया है।

उक्त काव्य-तत्त्वों से सम्बद्ध लेखों के सारभूत निष्कर्ष इस प्रकार हैं—

(१) 'काव्य और नाट्य' लेख में ग्रन्थकार का यह सारभूत कथन उल्लेख्य है कि नाट्य भी काव्य ही है, क्योंकि वह भी कवि की कला है, हाँ नटों की अभिनय-कला को काव्य नहीं कह सकते।

(२) 'साहित्य' लेख का सारभूत वाक्य है—शब्द और अर्थ के निसर्ग-सिद्ध सम्बन्ध को साहित्य कहते हैं।

(३) 'उक्ति' से भोज का तात्पर्य है कवि की अभिव्यञ्जना, इसे इन्होंने अलंकार भी कहा है, अतः उक्ति से तात्पर्य है कवि की सौन्दर्यपूर्ण अभिव्यंजना।

(४) भोज की 'वक्रोक्ति' उक्ति का एक प्रकार है, जिसके अन्य दो प्रकार हैं—स्वभावोक्ति और रसोक्ति। किन्तु उधर कुन्तक ने केवल वक्रोक्ति को ही काव्यत्व का बीज स्वीकार किया था।

(५) भोज के अनुसार वक्रोक्ति में उपमादि अर्थालंकारों की प्रधानता होती है, जबकि स्वभावोक्ति में गुणों की।

(६) आनन्दवर्धन ने प्रतीयमानता और ध्वनि दोनों को परस्पर पर्याय शब्द माना है, किन्तु भोज ध्वनि (व्यंग्यमानता) की स्थिति प्रतीयमानता के बाद मानते हैं। डॉ० राघवन के शब्दों में भोज का 'प्रतीयमानता' से आशय है—अवान्तर-गम्यमान अर्थ, और ध्वनि से आशय है—परम-तात्पर्य, यद्यपि वे स्वयं इस अन्तर को बहुत अधिक महत्त्व नहीं देते।

(७) 'औचित्य' से भोज का तात्पर्य है—पात्रों की उचितता, तथा उनकी ही वाणी में उनकी प्रकृति का अनुकरण, परिणामतः, यथावसर रस की पुष्टि।

(८) वामन की रीति को भोज ने अस्वीकृत करते हुए उसे [आनन्दवर्धन की 'संघटना' के अनुरूप] समास-रचना का प्रकार माना है।

(९) दोष के सम्बन्ध में भोज की धारणा है कि यह सहृदय का उद्वेजक होता है।

(१०) वामन-स्वीकृत शब्दगत और अर्थगत कुल बीस गुणों की संख्या भोज के यहाँ आकर ४८ तक पहुँच गयी—२४ शब्दगत और २४ अर्थगत।

(११) भोज के अनुसार अलंकार ७२ हैं—२४ शब्दालंकार, २४ अर्थालंकार और २४ उभयालंकार। 'व्युत्पत्ति' द्वारा जहाँ अर्थ-सौन्दर्य नहीं होता, वहाँ शब्दालंकार होता है, जहाँ हो जाता है वहाँ अर्थालंकार। शब्द और उनके अर्थ

द्वारा जहां विशिष्ट अर्थ ज्ञात होता है वहां उभयालंकार होता है। यमक, श्लेष आदि शब्दालंकार हैं, विभावना, हेतु, सूक्ष्म आदि अर्थालंकार हैं, और उपमा, रूपक, उत्प्रेक्षा, दीपक आदि उभयालंकार। स्पष्टतः, भोज द्वारा स्वीकृत उभयालंकारों को अन्य आचार्यों ने अर्थालंकार माना है। इस प्रकरण में 'प्रबन्धालंकार' की स्वीकृति भी भोज की अन्यतम विशेषता है, जिसके उन्होंने तीन भेद किये हैं: शब्द, अर्थ और उभयगत। उनके इस समग्र प्रसंग का अन्तर्भाव महाकाव्य के स्वरूप में हो जाता है।

(१२) भोज ने 'शृंगार' शब्द की व्युत्पत्ति 'येन शृंगं रीयते गम्यते इति शृंगारः' के आधार पर इसे रस का पर्यायवाची माना है। वे इसे 'अभिमान' से उद्भूत मानते हैं, और रस का पर्याय होने के कारण सभी रसों को ही नहीं, सभी स्थायीभावों एवं संचारीभावों को भी 'शृंगार' के ही भेद मान लेते हैं।

[४]

काव्यशास्त्र से सम्बन्धित डॉ० राघवन का एक अन्य ग्रन्थ है 'शृंगार-मंजरी', जो कि वस्तुतः सम्पादित है, और इसकी विद्वत्तापूर्ण भूमिका ग्रन्थ के प्रतिपाद्य विषय नायक-नायिका-भेद पर सविस्तर प्रकाश डालती है। हिन्दी-काव्यशास्त्र की दृष्टि से इस भूमिका का निजी महत्त्व है। हिन्दी का 'शृंगार-मंजरी' ग्रन्थ रीतिकालीन आचार्य चिन्तामणि द्वारा प्रणीत माना जाता रहा है। इधर इस भूमिका से ज्ञात होता है कि आन्ध्र भाषा में अन्त अकबरशाह-रचित 'शृंगारमंजरी' का संस्कृत-रूपान्तर तत्कालीन किसी विद्वान् ने प्रस्तुत किया था, जिसका हिन्दी-रूपान्तर आगे चलकर चिन्तामणि ने किया, यद्यपि अधिकांश उदाहरण उनके अपने हैं। इस प्रकार, डॉ० राघवन की भूमिका-स्वरूप यह वस्तु-तथ्य हिन्दी-जगत् के सम्मुख आ गया कि हिन्दी की 'शृंगारमंजरी' चिन्तामणि की मौलिक रचना नहीं है।

[५]

उपर्युक्त सर्वेक्षण के आधार पर यह बड़े विश्वास के साथ कहा जा सकता है कि डॉ० राघवन की अन्य रचनाओं को छोड़ कर यदि केवल इनके काव्य-शास्त्रीय ग्रन्थों को ही लें तो कलेवर की दृष्टि से इन्होंने इस विषय पर सर्वाधिक सामग्री प्रस्तुत की है और इसके लिए इन्होंने देश-विदेश में उपलब्ध प्रकाशित ग्रन्थों और अप्रकाशित पाण्डुलिपियों का सदुपयोग किया है।

विषय की व्यापकता, कथ्य की पुष्टि के लिए तर्कसंगत उद्धरणों का यथा-स्थान एवं पूर्वापर-विवेकानुरूप व्यवस्थापन, विश्लेषणात्मक शैली में प्रतिपाद्य

विषय का स्पष्टीकरण— ये सभी गुण डॉ० राघवन की विशद विवेचन-पद्धति के द्योतक हैं। इसका एक सुपरिणाम तो यह हुआ है कि जिज्ञासु अध्येता के सम्मुख काव्यशास्त्र के अंग-प्रत्यंग का इतिहास उपस्थित हो गया है, और दूसरा सुपरिणाम यह कि भावी अनुसन्धान का द्वार उन्मुक्त हो गया है। डेढ़-दो सहस्र वर्ष की अत्यन्त महत्त्वपूर्ण एवं पुष्ट काव्यशास्त्रीय सामग्री का यह संकलन अनुसंधित्सुओं के लिए एक वरदान बन गया है। इसका सबल प्रमाण यह है कि डॉ० पी. वी. काणे और डॉ० डे जैसे मनीषी विद्वानों ने भी, जिन्होंने डॉ० राघवन से पूर्व काव्यशास्त्र पर कार्य किया था, अपने ग्रन्थों के परवर्ती संस्करणों में इन्हीं के ग्रन्थों से अनेक रूपों में सहायता ली है।

इनके ग्रन्थों की एक अन्य विशेषता है—सहज शैली। काव्य-शास्त्र का जिज्ञासु अध्येता जिस वैशद्य का अनुभव इन ग्रन्थों में करता है वह प्रायः अन्यत्र दुर्लभ है—वस्तुतः कोई सिद्धहस्त लेखक ही शास्त्र की दुरूहता को सुगम रूप में प्रस्तुत कर सकता है।

डॉ० राघवन ने अपने ग्रन्थों में कतिपय स्थलों पर भारतीय काव्य-सिद्धान्तों से तुलना करने के उद्देश्य से पाश्चात्य काव्यशास्त्र के सिद्धान्तों का भी उल्लेख किया है। यद्यपि ऐसे स्थल बहुत कम हैं, और अधिक महत्त्वपूर्ण भी नहीं हैं, फिर भी तुलनात्मक पद्धति का आरम्भ कर इन्होंने अनुसंधान-प्रक्रिया की एक आवश्यक एवं उपादेय दिशा की ओर इंगित अवश्य किया है।

इनके विवेचन में प्रायः आलोचना की अपेक्षा अनुसन्धान का प्राधान्य रहता है। अनुसन्धान के दो मूल भेद हैं—एक तथ्य-शोध और दूसरा मर्म-बोध। यद्यपि डाक्टर राघवन स्वयं कलासिक कृतिकार हैं, फिर भी अनुसन्धान के क्षेत्र में इनकी दृष्टि तथ्य-शोध पर ही केंद्रित रहती है। ऐतिहासिक पद्धति का अवलम्बन कर विषय के विकास क्रम का व्यवस्थित निरूपण करना इनके लेखन का वैशिष्ट्य है। ये वस्तुतः उन गवेषकों की कोटि में आते हैं जिन्होंने प्राचीन वाङ्मय का मन्थन कर वैज्ञानिक रीति से भारतीय काव्यशास्त्र के विविध प्रसंग का ऐतिहासिक निरूपण किया है और उस वर्ग के विद्वानों में इनका स्थान अन्यतम है, इसमें संदेह नहीं।

OOO

डा० वी. राघवन का परिचय

डॉ० वी. राघवन एम. ए., पी-एच. डी. (भूतपूर्व प्रोफेसर तथा अध्यक्ष संस्कृत-विभाग, मद्रास विश्वविद्यालय, मद्रास) को संस्कृत-साहित्य से संबंधित इनकी

महत्त्वपूर्ण रचनाओं के, और उनके माध्यम से भारतीय संस्कृति को प्रकाश में लाने के, उपलक्ष्य में भारत सरकार ने सन् १९६२ में 'गणतन्त्र दिवस' के राष्ट्रीय पर्व पर 'पद्मभूषण' की उपाधि से अलंकृत किया था। बम्बई एशियाटिक सोसाइटी बम्बई ने इन्हे उक्त सेवाओं के फल-स्वरूप 'काणे गोल्ड मेडल' प्रदान किया, और सन् १९६६ मे इनकी प्रसिद्ध रचना 'भोज'स् शृंगारप्रकाश' पर साहित्य एकादमी ने संस्कृत का सर्वश्रेष्ठ पुरस्कार प्रदान किया। इन्होंने अनेक अन्तर-राष्ट्रीय साहित्य-सम्मेलनों में भारत का प्रतिनिधित्व करके देश को गौरवान्वित किया। आपका जन्म सन् १९०८ में तिरुवरूर, जिला तन्जोर मे हुआ था।

डॉ० वी राघवन ने संस्कृत-भाषा से सम्बद्ध अंग्रेजी भाषा के माध्यम से चालीस से भी अधिक ग्रन्थो का प्रणयन एवं सम्पादन कर प्रथित यश का उपार्जन किया है। काव्यशास्त्र के अतिरिक्त इन्होंने अन्य अनेक क्षेत्रों में अपनी अध्ययन-शीलता का परिचय दिया है। 'दि न्यू कैटे लोगस कैटेलोगम' (४ भाग) ग्रन्थ इनकी कर्मठता का द्योतक है। भारत के अतिरिक्त विदेश के अनेक साहित्यिक विश्व-कोषो तथा पत्रिकाओं मे इनके महत्त्वपूर्ण एवं शोधपरक लेख प्रकाशित हुए हैं। उक्त लेख मे इनके चार काव्यशास्त्रीय ग्रन्थों का उल्लेख कर आये हैं। इनके काव्यशास्त्रेतर ग्रन्थो में से कतिपय उल्लेख्य ग्रन्थ ये हैं—

1. The Indian Heritage · An Anthology of Sanskrit Literature in Translations.
2. Manuscripts, Catalogues, Editions.
3. Indological Studies in India.
4. YANVRAS or Mechanical contrivances in Ancient India
5. Sanskrit and Allied Indological Studies in Europe
6. Love in the Poems and Plays of Kalidasa
7. The Present Position of Vedic Recitation and Shakhas

OOO

१८. प्राकृत-काव्य में अलंकार-सौन्दर्य

यहां 'प्राकृत काव्य' शब्द से तात्पर्य है अर्ध-मागधी तथा अन्य प्राकृतों में प्रणीत महाकाव्य, खण्डकाव्य और मुक्तक रचनाएं। इनके रचयिताओं में काल-क्रम की दृष्टि से सर्वप्रथम स्वयम्भू का नाम उल्लेखनीय है और इनके उपरान्त प्रख्यात कवियो मे पुष्पदन्त, धनपाल धक्कड़, नयनन्दी, कनकामर, यश.कीर्ति, हेमचन्द्र, सोमप्रभ सूरि आदि का। इनके प्रबन्ध-काव्यों में कथा-विकास और प्रबन्ध-काव्यत्व के अतिरिक्त विभिन्न धर्मों, विशेषत. जैन धर्म, के सिद्धान्तो की अनुस्यूति आदि का निर्वहण किस प्रकार हुआ है, अथवा उनके मुक्तको में धार्मिक एव लौकिक चर्चाओं को किस रूप में स्थान मिला है, प्रस्तुत निबन्ध में इन सब का उल्लेख न कर केवल कल्पना-सौन्दर्य पर ही प्रकाश डाला जाएगा, जिसके अभाव में कोई रचना केवल पद्यात्मक बन कर रह जाती है, और जिसके सद्भाव पर ही कविकर्म प्रमुखतः आधारित रहता है। इसका ही अपर नाम भामह-सम्मत 'वक्रोक्ति' है जिसे वह लोकवार्ता से विभिन्न मानता है, और जिसे दण्डी 'स्व-भावोक्ति' से पृथक् मानता है। यही कल्पना ही ध्वनि-काव्य एव गुणीभूतव्यग्य-काव्य तथा रस का आधारभूत तत्त्व है।

प्राकृत-काव्यो में कल्पना-सौन्दर्य अधिकांशतः संस्कृत के गद्यात्मक एवं पद्यात्मक काव्यो में प्रयुक्त अलकारो द्वारा प्रस्तुत हुआ है। इनमें से कुछ ऐसे हैं जो मूलतः बाह्य चमत्कार पर आश्रित हैं। जैसे —अपह्नुति, परिसंख्या, विरोधाभास, सहोक्ति आदि। कतिपय उदाहरण लीजिए—

—अयोध्या के अन्तःपुर की नारियो के अगो का वर्णन करते हुए स्वयम्भू कहता है—क्या यह उनका मुख है ? नही, नहीं, यह तो चन्द्रबिम्ब है, क्या ये उनके अधर हैं ? नही, नहीं, यह तो पक्व बिम्बफल हैं—

कि आणणु णं ण चदबिंबु।
कि अहरउ ण ण पक्क-बिंबु॥ पउमचरिउ ६९.२१

—भविसयत्त कहा की एक नारी पात्रा का रूप-चित्रण करते हुए धनपाल धक्कड़ बाणभट्ट की शैली में विरोधाभास के आधार पर उस सदोषा को भी सद्गुण-सम्पन्ना बताते चले जा रहे हैं—

असिरि सिरिवत्त सअल वरंग वरंगणवि ।
मुद्धवि सवियार रंजण सोह निरंजणवि ॥
—भ० क० ११.६ १२

'असिरि' (अश्री अर्थात् निर्धन) होते हुए भी वह सिरिवत्त अर्थात् श्रीमती—थी। 'वारांगना' (वेश्या, पक्ष—श्रेष्ठ स्त्री) होते हुए भी वह सजल वरांग थी, अर्थात् उसके सुन्दर अंग स्वेद-समुज्ज्वल थे। वह मुग्धा (मूर्खा) होते हुए भी सुविचार-शीला मुग्धा नायिका थी। निरंजन होते हुए भी रंजन (शोभा-युक्त) थी, अर्थात् उसने आखों में अंजन नहीं लगाया हुआ था, तो भी वह मनमोहक सौन्दर्य-युक्त थी। इसी प्रकार परिसंख्या अलंकार के निर्वाह में भी कवि को शैलीगत विशेषता की ही शरण में जाना पड़ता है—करकंड का हाथ धणु (धन) देने के लिए फैलता है, न कि प्राणि-वधार्थ धनुष द्वारा बाण चलाने के लिए—

धणु देवइ पसरइ जासु करु णउ पाणि हैरवइ रइ सरु ।
—करकंडचरिउ १.५.५

—इसी प्रसंग में बाणभट्ट की ही एक अन्य शैली का अवलोकन कीजिए। पुष्पदन्त किसी वियोगिनी की हृदय-दशा का वर्णन करते हैं कि 'उस वियोगिनी को मलयानिल प्रलयानल के समान लगता था, भूषण सण के बन्धन के समान प्रतीत होते थे, × × × वसन को वह व्यसन समझती थी और चन्दन उसके लिए विरहाग्नि के ईंधन के समान था।'[1]

—इसी प्रकार सहोक्ति अलंकार के चमत्कार में भी कवि को कल्पना की अपेक्षा शब्द-चयन की आवश्यकता अधिक रहती है। युद्धभूमि का यह दृश्य देखिए—इधर रणभूमि में सूरों (शूरवीरों) का अस्त हुआ और उधर सूर्य का। इधर गजों का काला मद फैला और उधर अन्धकार। इधर गजों के गण्डस्थलों से मोती विकीर्ण हुए और उधर नक्षत्र उदित हुए। इधर विजयी राजा का धवल यश बढ़ा और उधर शुभ्र चन्द्र।[2]

---

१. तिसट्ठिमहापुरिसगुणालंकार २२.६
२. वही २८.३४ १-५

इन उदाहरणों द्वारा स्पष्ट है कि इन अलंकारों का सौन्दर्य अधिकांशतः शब्दचयन पर निर्भर है और कल्पना-तत्त्व इसी सघन शब्दजाल के नीचे दब कर रह जाता है, किन्तु जितना भी वह इस जाल से बाहर फूटता-सा अभिव्यक्त होता है, वह एक ओर कवि की कल्पना-शक्ति का परिचायक होता है और दूसरी ओर इस प्रकार की शैलियों द्वारा चमत्कृत होने वाले पाठकों की मुविज्ञता का।

× × ×

इन अलंकारों के उपरान्त दूसरी कोटि में वे अलंकार आने चाहिएँ, जिनमें उक्त अलंकारों की तुलना में शब्द-चयन की अपेक्षा इतनी नहीं रहती, जितनी कि कवि-कल्पना की रहती है। यद्यपि ऐसे प्रयोगों में भी कवि को खींचतान करनी पड़ती है, किन्तु वह स्थूल कम होती है और आन्तरिक अधिक। भ्रान्तिमान् और रूपक अलंकारों के निम्नोक्त निदर्शनों से इस कथन की पुष्टि हो जाएगी —

– चन्द्रमा छिटका हुआ है किन्तु सघन वृक्षों के तले घना अन्धकार है। वृक्षों के छिद्रों में से फिर भी चन्द्र-किरणें छनी पड़ रही हैं और उस भू-भाग को श्वेत बना रही हैं। पुष्पदन्त 'भ्रान्तिमान्' अलंकार का आधार लेते हुए कल्पना करते हैं कि इसी श्वेतता को एक ओर बिल्ली दूध समझ कर पीना चाहती है, और दूसरी ओर मयूर इसे श्वेत सर्प समझ कर कई बार झपट कर पकड़ना चाहता है[1]—

रंधागय चियउ संघारइ, दुद्धसंक पयणइ मज्जारइ।
....
मोरें पंडुर सप्पु वियाण्पिवि, मुद्धें बहु वण गहिउ झडप्पिवि ॥
—वही १६.२४, ६-१२

—इसी प्रकार रूपक अलंकार के आधार पर स्वयम्भू मर्मदा नदी का वस्त्राभूषण-सज्जिता नारी के रूप में प्रस्तुत करते हुए कहते हैं कि इसका सनाद जल-प्रवाह नूपुर-झंकार के सदृश है, इसका स्खलित और उच्छलित जल रशनादाम की भ्रान्ति उत्पन्न करता है, इसके आवर्त शरीर की त्रिवलि के समान हैं, और इसका आन्दोलित फेनपुंज लहराते हुए हार के समान प्रतीत होता है।[2]

सांग रूपक की तो प्रायः यही स्थिति होती ही है कि इसमें कवि को अधिक खींचतान करनी पड़ती है, कभी-कभी उपमा अलंकार के निर्वहण में भी, जिसमें इस खींचतान का अवकाश कम रहता है, ऐसी स्थिति उत्पन्न हो जाती है, और वह रचना सामान्यतः अधिक हृदयहारी नहीं बन पाती। धनेश्वर का यह पद्य लीजिए—

---

१. तुलनार्थ—काव्यप्रकाश (मम्मट) १०.५५२ २. पउम चरिउ १४.३

एयस्स वयण-पंकय पलोयणं मोत्तु मह इमा दिट्ठी।
पंक-निबुड्डा दुब्बल गाइव्व न सक्कए गंतु ॥ सरसुन्दरीचरित

अर्थात् जिस प्रकार कीचड़ में फसी हुई कोई दुर्बल गाय अपने स्थान से हटने के लिए असमर्थ होती है, उसी प्रकार उसके मुख-कमल पर गड़ी हुई मेरी दृष्टि वापिस नहीं लौटती।

× × ×

कुछ अलंकार ऐसे भी होते हैं जिनका काव्य-सौन्दर्य कवि की कल्पना की ही अपेक्षा रखता है, उसे विशिष्ट शब्दावली पर निर्भर नहीं रहना पड़ता। कवि की कल्पना जितनी उर्वरा होगी, उनका सौन्दर्य उतना अधिक होगा। उपमा उत्प्रेक्षा, अतिशयोक्ति आदि ऐसे अलंकार हैं। दो स्थल लीजिए —

गंगा का वर्णन करते हुए कवि कनकामर कल्पना करता है कि शुभ्र-सलिला तथा कुटिल-गामिनी गंगा दूर से ऐसी दिखायी देती है मानो शेषनाग की स्त्री चली जा रही हो। × × × × दोनों कूलों पर लोग स्नान करते समय आदित्य को अर्घ्य दे रहे हैं, मानो स्वयं गंगा नदी दोनों हाथ ऊपर उठाए करकंड से प्रार्थना कर रही है कि मुझ पर क्रोध न करना।[1]

पुष्पदन्त सीता के सौन्दर्य के सम्बन्ध में कहता है कि उसकी शुभ्रदन्त पंक्ति की दीप्ति से मोती परास्त हो गये और तिरस्कृत हो गये, अन्यथा वे क्यों बींधे जाते। उसकी मुखचन्द्र-चन्द्रिका से दिशाएं धवलित हो गई, अन्यथा शशि क्यों क्षीण होता —

दिय दित्तिइ जित्तइं धत्तियाइं, इयरह कह विद्धइं मोत्तियाइं।
मुह ससि जोण्हइ दिस धवल, थाइ इयरह कह्नु ससि खिज्जंतु थाइ ॥[2]

किन्तु जब इस प्रकार की कल्पनाओं में भी सीमा की अतिशयता हो जाती है, तो रंग इतने गहरे हो जाते हैं कि इनसे व्यामोह-सा होने लगता है — रेवा नदी में सहस्रार्जुन की रानियों द्वारा जल-क्रीडा करते समय उन्होंने कहीं तो अपने चन्द्र एवं कुन्द सम धवल हीरों से जल को धवलित कर दिया, और कहीं अपने समुज्ज्वल कुण्डलों से उसे समुज्ज्वल बना दिया, कहीं सरस ताम्बूल से उसे रक्तिम कर दिया, तो कहीं घुले हुए कज्जल से काला कर दिया और कहीं अपने कुंकुम से पिंजरित कर दिया।[3]

---

१. करकंडचरिउ ३.१२.२–१०

२. ति० महापुरिसगुणालंकार ७०.११   ३. पउमचरिउ १४६

कभी इस प्रकार की कल्पनाएं उपहासास्पद भी बन जाती हैं—नागकुमार जब कश्मीर पहुँचे तो पुरनारियों की दर्शनोत्कण्ठा इतनी अधिक बढ़ गयी कि एक नारी न केवल घर में आये अपने जामाता के पैरों पर जा पड़ी अपितु उसके पैर जल के स्थान पर घी से धोने लगी। एक नारी [दही के स्थान पर] पानी को ही मथने लगी, और दूसरी सूत्र के बिना ही माला गूंथने लगी। एक अन्य की घबराहट तो यहाँ तक बढ़ी कि अपने बच्चे को साथ ले जाने के लिए सोचती हुई वह बिल्ली के बच्चे को ही अपने साथ लेकर चल पड़ी —

> पाएं पडइ मूढ आमायहो, धोयइ पाय घएं घर आयहो।
> . . . .
> अइ घण्णमण डिंभु विर्मेल्लिणु, गय मज्जायर पिल्लउ लेप्पिणु।
> घूवइ खीरु कवि जलु मंथइ, कावि असुत्तउ मालउ गुंथइ।
>
> —णायकुमारचरिउ ५.२

इस उपहास्यता का एकमात्र कारण है—अस्वाभाविकता। वस्तुतः कल्पना का उदय अनायास होता है, स्वाभाविक रूप से होता है, और ऐसी कल्पना स्वीकार्य, मनस्तोषक एवं मनोहर होती है। कल्पना न सूझने पर जब इसके लिये आयास किया जाता है, दूसरे शब्दों में, उसे कृत्रिम उपाय से ग्रहण किया जाता है तो निस्सन्देह वह मनोहारी तो नहीं हो पाती, प्रायः अस्वीकार्य तथा उपहासास्पद भी बन जाती है। और ठीक इसी प्रकार, जब उपमानों की झड़ी स्वाभाविक कल्पना पर आधारित न रह कर व्यावहारिक अथवा नैतिक उपदेश देने लगती है तो एक ओर न तो वह उपमेय का सौन्दर्य-बोध करा सकने में सक्षम होती है, न सहृदय के मन को आकृष्ट कर सकती है, और न कवि-कल्पना के प्रति पाठक के मन में समादर जगा पाती है। मेघजाल आकाश में सहसा फैल गया, इसी को स्वयम्भू ने उपमानों द्वारा सुन्दर रूप देना चाहा, किन्तु वह प्रकारान्तर से उपदेश देने में तो सफल हो गया, पर उपमेय के प्रति न्याय न कर सका—'जैसे सुकवि का काव्य, अज्ञानी का अन्धकार, पापिष्ठ का पाप, धनहीन की चिन्ता, वन में दावाग्नि आदि सहसा फैल जाते हैं, उसी प्रकार मेघजाल आकाश में सहसा फैल गया।'[1]

× × ×

आइए, अब कुछ स्वाभाविक एवं मनोरम कल्पनाओं की मृदु-कोमल छटा का अवलोकन करें—

---

१. पउमचरिउ २८.१

—वनगमन की वेला में सीता ने राम-लक्ष्मण का साथ दिया। उस समय वह अपने मन्दिर (भवन-कक्ष) से ऐसे निकलीं मानो हिमालय से गंगा निकल पड़ी हो, छन्दस् से गायत्री निकली हो, अथवा शब्द से विभक्ति—

णिय मन्दिर हो विणिग्गय जाणइ। णं हिमवन्तहो गंग महाणइ॥
णं छन्दहो णिग्गय गायत्ती। णं सद्दहो णीसरिय विहत्ती॥

—पउमचरिउ २.२३.६

—सीता अग्निपरीक्षा के उपरान्त अयोध्या लौटीं, उनका भव्य स्वागत हुआ, और इतने लम्बे व्यवधान के उपरान्त हलधर (राम) ने सीता की ओर निहारा, उनका यह प्रथम दर्शन मानो ऐसा था जैसे कोई सागर शुक्ल पक्ष की प्रथम चन्द्रलेखा को देखे—

परमेसरि पढम-समागमे झत्ति णिहालिया हलहरेण।
सिय-पक्खहो दिवसे पहिल्लए चंद-लेह णं सायरेण॥ पउमचरिउ

—भविष्यदत्त धनधान्य-परिपूर्ण किन्तु जनशून्य तिलक द्वीप में अकेला घूम रहा है, वह सकल ऐश्वर्य-सामग्री को देखता चला जाता है। आगे वह देखता है कि गवाक्ष आधा खुला पड़ा है। कवि कल्पना करता है मानो वे किसी नव वधू की अधखुली आँखें हैं—आगे फलक पर उसे गुह्य अन्तर्देश दिखायी देता है—मानो वे वनिताओं के आधे खुले उर-प्रदेश हों—

पिक्खइ मेहिराइं फल-अद्धुग्घाडिय-जाल-गवक्खइं।
अद्ध-पलोहराइं णं णाव-वहु-णायण-कडक्खइं॥
अह फल हंतरेण दरिसिय-गुज्झंतर-देसइं।
अद्ध पयं थियाइं विलयाण व उर-पएसइं॥ भविस्सयत्त-कहा

—नायिका से सखी ने नायक की लम्पटता की चर्चा करनी चाही तो वह बोल उठी—सखी ! जो कुछ तुझे मेरे प्रिय की सदोषता के सम्बन्ध में कहना हो वह निस्संकोच कहो, किन्तु धीरे से कहो। इतना धीरे कि मेरा मन भी न जान पाए, क्योंकि वह तो उसी का पक्षपाती है—

भण सहि, निहुअउं तेवं मइं, जइ पिउ दिट्ठ सदोसु।
जेवं न जाणइ मज्झु मणु पक्खावडिअं तासु॥

—प्राकृत-व्याकरण (हेमचन्द्र)

—मिलनोत्सुका नायिका मन ही मन नये नये सकल्प कर रही है। अब की बार जब मिलन होगा तो एक अभूतपूर्व क्रीड़ा करूंगी। जैसे मिट्टी के [नये]

बर्तन में पानी उसके कण-कण मे समा जाता है, वैसे मै भी उसके सर्वांग में प्रवेश कर जाऊँगी—

जइ केवइं पावीसु पिउ अकिया कुड्डु करीसु।
पाणिउ नवइ सरावि जिव सव्वंगे पइसीसु ॥

—प्राकृत-व्याकरण (हेमचन्द्र)

—नायक अनेक लालसाएं लेकर [चादनी रात में] नव-वधू के मुखदर्शन के लिए गया, [उसने घू घट हटाया ही था कि] गौरी के मुखमण्डल की दीप्ति से निर्जित चन्द्रमा बदली के पीछे जा छिपा, और इस बेचारे का मनोरथ धरा का धरा रह गया। इस अन्धकार में वह दर्शन करता भी तो कैसे—

नव-वहु-दसण लालसउ वहइ मणोरह सोइ ।
ओ गोरी-मुह-निज्जिअउ बद्दलि लुक्कु मियंकु ॥

—प्राकृत-व्याकरण (हेमचन्द्र)

इस प्रकार जैन-कवियो ने मूलतः धर्म-प्रधान काव्यो की रचना करते हुए इन्हे कोरा धर्मोपदेश ग्रन्थ नही बना दिया। काव्य-धर्म की सुरक्षा करते हुए इन्हें वाग्वैदग्ध्य के बल पर चमत्कृत किया है यह अलग प्रश्न है कि ऐसे स्थल बहुत अधिक नही है। वस्तुतः, यह समुचित ही हुआ है, अन्यथा मूल विषय के प्रति अनर्थ होने का भय रहता। बाणभट्ट आधुनिक आलोचक की दृष्टि मे इसी दोष का ही भागी है। जैन-काव्य में अलकार-बहुलता को स्थान न देने अथवा न मिल पाने के कारण अनेक हो सकते हैं। उनमें से एक यह कि जैन-कवियो ने धार्मिक सिद्धान्तो के सरल-प्रतिपादनार्थ लौकिक गाथाओ का वर्णन करने केलिए, अथवा यो कहिए, लौकिक गाथाओ को धार्मिक रग मे रग कर प्रस्तुत करने केलिए, लेखनी उठायी तो उनका कवि-हृदय यत्र-तत्र मचल उठा, और अनेक स्थल कल्पना का स्पर्श पाकर मुकुलित हो गये। कारण जो भी हो, ये कल्पना-रञ्जित स्थल हृदयग्राही हैं। इनमे सस्कृत-काव्यो की परम्परागत शैली का चमत्कार भी मिलता है, और स्वच्छ कवि-हृदय से निस्सृत मर्मस्पर्शी उक्तियाँ भी।

OOO

१६. रवीन्द्रनाथ ठाकुर की साहित्य-विषयक कतिपय धारणाएँ

[१]

बहुमुखी प्रतिभा-सम्पन्न गुरुदेव रवीन्द्र ठाकुर की ख्याति का मूलाधार ग्रन्थ गीताञ्जलि है। इस गद्यगीतात्मक ग्रन्थ के पश्चात् इस दिशा में उनका अमर कथा-साहित्य उल्लेखनीय है। उनकी कहानियाँ और उपन्यास अनूदित रूप में हिन्दी-पाठकों को काव्य-रसास्वाद प्रदान करती रही हैं। उनकी कविताएँ हिन्दी के माध्यम से भी यद्यपि इन पाठकों द्वारा बहु-पठित नहीं रही हैं, तथापि उनकी भावगरिमा से आधुनिक हिन्दी-कविता ने निस्सन्देह प्रभाव ग्रहण किया है। हाँ, उनके नाटकों से हिन्दी-पाठक अधिक परिचित नहीं हैं। उनके साहित्य का एक अन्य उल्लेखनीय अंग है—निबन्ध-साहित्य, जो सम्भवतः निम्नोक्त सात ग्रन्थों में प्रकाशित है—(१) साहित्य, (२) प्राचीन साहित्य, (३) राजा और प्रजा, (४) शिक्षा, (५) स्वदेश, (६) समाज, और (७) साधना। इन ग्रन्थों में इन्हीं नामों के विषयानुरूप निबन्ध संग्रहीत हैं। शायद उनके अन्य निबन्ध-संग्रह भी हों, परन्तु प्रस्तुत लेख का लेखक उनसे अनभिज्ञ है। उक्त सभी संग्रह हिन्दी में अनूदित हो चुके हैं।

इस लेख में केवल प्रथम ग्रन्थ 'साहित्य' के निम्नोक्त प्रथम तीन निबन्धों पर संक्षिप्त प्रकाश डाला जाएगा—(क) साहित्य का तात्पर्य, (ख) साहित्य की सामग्री, (ग) साहित्य के विचारक।

ये तीनों निबन्ध साहित्य-विषयक गम्भीर एवं विभिन्न धारणाओं को अधिकांशतः स्वच्छ रूप में प्रस्तुत करते हैं, किन्तु उनके शीर्षक विषय-सामग्री के ठीक अनुकूल प्रतीत नहीं होते। निबन्धों की भावधारा इन शीर्षकों के अभिप्रेत अर्थ को स्पष्ट नहीं कर पाती, और न ही इनकी रचना इन शीर्षकों को लक्ष्य में रखकर की गयी जान पड़ती है। ऐसा प्रतीत होता है कि गुरुदेव ने ये निबन्ध लिखकर बिना शीर्षक छोड़ दिये होंगे, और बाद में किसी सज्जन ने उक्त शीर्षक दे दिये। हिन्दी-अनुवादक (श्रद्धेय पं० वंशीधर विद्यालंकार) को भी पुनः उन्हीं शीर्षकों का ही हिन्दी-अनुवाद प्रस्तुत करना पड़ा। फिर भी, यथार्थ-वस्तु-स्थिति क्या है इस सम्बन्ध में निश्चय-पूर्वक कहना सकना कठिन है। मुझे ये शीर्षक उपयुक्त प्रतीत नहीं हुए, पर

२. उत्कृष्ट कोटि का साहित्य वह होता है जिससे यह प्रकट हो कि लेखक के हृदय का संसार के साथ बहुत गहरा सम्बन्ध है, किन्तु इस सम्बन्ध-निर्वाह की अभिव्यक्ति भी सुन्दर रूप में की गयी हो—तभी वह 'साहित्य' जैसे गौरवपूर्ण पद से अभिहित होगी, अन्यथा नहीं। सौन्दर्य लाने के लिए साहित्य को अलंकार और छन्द के अतिरिक्त 'इंगित' (प्रतीयमानता, व्यञ्जनता अथवा ध्वनि) का सहारा लेना पड़ता है।

स्पष्टतः, इस धारणा से काव्य-चमत्कार के दोनों पक्षों—बाह्य और आन्तरिक—को स्थान मिला है। एक ओर अलंकार इसका बाह्य प्रसाधक है तथा छन्द बाह्य आधार फलक है, और दूसरी ओर 'इंगित' इसका आन्तरिक साधन है। इन दोनों तथ्यों को भारतीय एवं पाश्चात्य काव्याचार्यों ने निर्विवाद स्वीकृत किया है।

३. चित्र और संगीत साहित्य के प्रधान उपकरण हैं। चित्र साहित्य का देह है और संगीत उसका प्राण है। 'चित्र' से तात्पर्य है—उपमा, रूपक आदि अलकार जिनके द्वारा भावों को प्रत्यक्ष रूप देने का प्रयास किया जाता है। 'देखि बारे आँखि-पाय' (देखने के लिए आम्र-पक्षी दौड़ता है) यहाँ रूपक अलकार द्वारा हमारे-सम्मुख अत्यन्त व्याकुल दृष्टि का चित्र उपस्थित हो जाता है। संगीत से सम्भवतः गुरुदेव का तात्पर्य है—छन्दों, शब्दों एवं वाक्य-विन्यास में समाविष्ट लय।

उपर्युक्त धारणा में 'चित्र' शब्द व्याख्यापेक्ष्य है। भारतीय काव्यशास्त्र में अलकार को चित्र-काव्य कहा गया है। किन्तु इस प्रसंग के 'चित्र' में और वहां के 'चित्र' में अन्तर है। यहाँ 'चित्र' शब्द मानसिक दृश्य का पर्याय है, और वहाँ 'चित्र' का अर्थ है जहाँ 'व्यंग्य' प्रधान अथवा गुणीभूत न होकर अस्फुट हो। यहाँ चित्र से अभिप्राय है वह बिम्ब जिसे हमारा मन शब्दार्थ के चमत्कार द्वारा अनायास ग्रहण कर लेता है, किन्तु उधर शब्द और अर्थ के चमत्कार के बल पर उत्पन्न काव्य-कौशल —शब्दालंकार और अर्थालंकार का दूसरा नाम 'चित्र' है। उक्त प्रसंग में *गुरुदेव द्वारा 'चित्र' शब्द का प्रयोग भारतीय काव्यशास्त्र के आधार पर किया गया* प्रतीत नहीं होता, स्वतन्त्र रूप से ही किया गया है, किन्तु इनका 'चित्र' शब्द भी अनायास उसी अर्थ का—अलंकार का—ही द्योतक बन गया है। अस्तु ! फिर भी, गुरुदेव का यह *'चित्र, सभी अलंकारों के स्वरूप एवं उदाहरणों पर शायद ही* घटित हो सके। यदि केवल दृश्य-प्रस्तुति ही 'चित्र' का उद्देश्य समझ लिया जाए, तो इसका विषय सीमित और संकीर्ण बन जाएगा।

४. साहित्य के दो विषय हैं—मानव-हृदय और मानव-चरित्र। 'मानव-हृदय' से सम्भवतः गुरुदेव का तात्पर्य कवि के हृदय से है, जो बाह्य जगत् से प्रभाव ग्रहण करता है। 'मानव-चरित्र' से सम्भवतः उनका तात्पर्य सांसारिक व्यक्तियों के सामान्य व्यवहार से है। यदि उन्हें यही अभिप्रेत है तो 'मानव-चरित्र' तो निस्सन्देह साहित्य का विषय है, किन्तु मानव-हृदय उसका विषय न होकर उसका साधन है। अस्तु !

[३]

दूसरा निबन्ध है —'साहित्य की सामग्री'। इसमें तीन धारणाएं प्रस्तुत की गयी हैं—

१ "यह मानना अत्यन्त निरर्थक है कि कवि आत्मगत भावोच्छ्वास के लिए अर्थात् एकमात्र अपने लिए ही भावों का प्रकाशन करता है।" मानव की शायद केवल मानव की ही क्यों, प्राणिमात्र की- यह सहज प्रवृत्ति है कि वह अपने भावों को अनेक हृदयों में अनुभव कराना चाहता है, जिसका प्रमाण है अनेक प्रकार की भाषाओं और लिपियों के अतिरिक्त मूर्तियों, बुद्ध-स्तूपों, स्तूपों, स्तम्भों, शिलालेख, कागज आदि बहुविध लेखन-सामग्री का चिरकाल से सद्भाव। केवल इतना ही क्यों, चित्रकारी, पच्चीकारी, प्रासादों एवं मन्दिरों के निर्माण का भी तो यही कारण रहा है कि एक हृदय के भावों का अनुभव दूसरे हृदय भी करें। यही सहज अभिलाषा ही साहित्य-निर्माण का मूल कारण है।

उपर्युक्त धारणा का निष्कर्ष यह है कि कोई भी रचना केवल स्वान्तःसुखाय निर्मित नहीं की जा सकती। यह धारणा अधिकांशतः सत्य है। वाल्मीकि और व्यास, चन्द और होमर, कालिदास और शेक्सपीयर आदि सभी महान् कवियों की रचना के मूल में स्वाभिव्यक्ति की भावना निस्सन्देह कार्य कर रही है—स्वयं तुलसीदास जैसे निःस्पृह भक्त कवियों की रचना पर भी यही सिद्धान्त लागू हो सकता है - यद्यपि अपेक्षाकृत बहुत ही कम। किन्तु यदि उनकी रचना को 'स्वान्तःसुखाय' के आधार पर निर्मित स्वीकार कर लिया जाता है तो केवल इसी सिद्धान्त के आधार पर कि 'आत्मनस्तु कामाय सर्वं प्रियं भवति', अन्यथा स्वाभिव्यक्ति की प्राकृतिक अभिलाषा से भला कोई मानव सर्वथा विमुक्त कैसे हो सकता है ?

२. "साहित्य का मुख्य अवलम्बन 'भाव' है, 'ज्ञान' (सत्य अथवा तथ्य) नहीं। हाँ, ज्ञान इसकी विषय-सामग्री अवश्य है। 'सूर्य पूर्व दिशा से निकलता है' यह 'ज्ञान' (तथ्य) विज्ञान का विषय है, किन्तु इसी तथ्य का भावपूर्ण निरूपण -- अनेक भंगिमाओं तथा कल्पनाओं से समुज्ज्वल वर्णन —साहित्य का विषय है।"

निस्सन्देह साहित्य, संगीत, चित्र आदि भाव-प्रधान अभिव्यक्तियां हैं, और इतिहास, विज्ञान आदि ज्ञान-प्रधान। इसका तात्पर्य यह है कि ये दूसरे साधन की अपेक्षा रखती अवश्य है, किन्तु अपेक्षाकृत बहुत ही कम। कितनी अपेक्षा रखती हैं यह भी प्रत्येक अभिव्यक्ति की निजी प्रकृति एवं आवश्यकता पर निर्भर है।

३. "सर्वसाधारण की वस्तु को विशेष रूप में अपनी बना कर फिर उसी प्रकार उसको सर्वसाधारण की बना देना साहित्य का कार्य है।" प्रत्येक भाव (विषय अथवा तत्त्व) मनुष्य मात्र का होता है, किन्तु उसका प्रभाव प्रत्येक व्यक्ति पर विभिन्न रूप से पड़ता है। जब कवि उसी विशेष प्रभाव को अभिव्यक्त करता है तो वही अभिव्यक्ति साहित्य कहाती है, और अब वे विशेष भाव व्यक्तिनिष्ठ न रह कर समष्टिनिष्ठ बन जाते हैं। इस अभिव्यक्ति का एकान्तिक साधन है—प्रत्येक कवि की अपनी-अपनी शैली। यही कारण है कि किसी रचना को हम दूसरी भाषा में रूपान्तरित करके उससे मूल रचना जैसा काव्यास्वाद प्रायः प्राप्त नहीं कर सकते।

यह धारणा लगभग वही है जिस पर 'साहित्य का तात्पर्य' के अन्तर्गत पहले प्रकाश डाल आये हैं।

[४]

तीसरा निबन्ध है—'साहित्य के विचारक'। इसमें निम्नोक्त मान्यताएं स्थापित की गयी है—

१– 'बाह्य जगत् के 'सत्य' को जब अतिशयता का पुट दे दिया जाता है तो वह साहित्य बन जाता है। पुत्र-विच्छेद-विह्वला माता जब अन्दर ही अन्दर विसूर रही होती है तो उसका दुःख केवल उसी तक सीमित होता है, किन्तु जब वह धाड़ें मार-मार कर जोर-जोर से रो रही होती है, तो वह केवल पुत्र-विच्छेद के लिए नहीं रो रही होती, अपितु वह पुत्र-विच्छेद को, अथवा यों कहिए स्वयं पुत्र को, महत्ता को भी प्रदर्शित करना चाहती है। यही जोर-जोर से चीखना ही दूसरों की सहानुभूति का कारण बनता है। यद्यपि इसमें सीमा का उल्लंघन रहता है, किन्तु दूसरों तक अपने सन्देश को पहुंचाने के लिए इस अतिशयता का आश्रय लेना अनिवार्य है—दूरस्थित व्यक्ति को कोई वस्तु दिखानी अभीष्ट हो तो उसे बड़ा करके ही दिखाना होगा। अतः इस अतिशयता को कृत्रिम अथवा आडम्बर-युक्त नहीं कहना चाहिए। ठीक इसी प्रकार साहित्य में भी इसी अतिशयता का—अतिशयित अथवा कल्पनामिश्रित उक्ति—का आश्रय लेना पड़ता है।

उक्त धारणा में 'अतिशयोक्ति' को प्राकृतिक सत्य और साहित्यिक सत्य का व्यावर्तक धर्म बताया गया है। पहला सत्य प्रत्यक्ष और यथावत् होता है, और दूसरा सत्य परोक्ष एवं अतिशयित होता है। पहला सत्य तो 'सत्य' है ही, दूसरा 'सत्य' भी सत्य है, क्योंकि उसका मूलाधार तथ्यपरक 'सत्य' होता है। दूसरे, उस तथ्यपरक सत्य को पहुँचाने के लिए उसे बड़ा बना कर दिखाना अनिवार्य होता है। यही कारण है कि साहित्य किसी भी स्थिति में प्रकृति का ठीक प्रतिबिम्ब नहीं बन सकता। साहित्य में इसी अतिशयोक्ति को—लोकातिक्रान्तगोचर वचन को—भामह ने 'वक्रोक्ति' का पर्याय मानते हुए सभी काव्यालंकारों का मूलाधार माना है, और कवि को इसी में प्रयत्नशील होने का आदेश दिया है—

> निमित्ततो वचो यत्तु लोकातिक्रान्तगोचरम् ।
> मन्यन्तेऽतिशयोक्तिं तामलंकारतया यथा ॥
> सैषा सर्वैव वक्रोक्तिरनयाऽर्थो विभाव्यते ।
> यत्नोऽस्यां कविना कार्यः कोऽलंकारोऽनया विना ॥

- काव्यालंकार २.८१,८५

उपर्युक्त प्रसंग में भारतीय काव्यशास्त्र के एक प्रख्यात एवं बहुचर्चित विषय पर भी अनायास प्रकाश पड़ गया है। शोकविह्वला माता का पुत्र लोक में भले ही उसका पुत्र हो, किन्तु काव्य में वर्णित होने पर वह सब सहृदयों का पुत्र बन जाता है - इस अवधारणा के बिना काव्य-रस का आस्वाद सम्भव नहीं है, और इसी पूर्वस्थिति को काव्याचार्यों ने 'साधारणीकरण' की व्याख्या करते हुए समझाया है। इसके अनुसार लौकिक राम-सीतादि व्यक्ति अपनी विशिष्टता को छोड़कर साधारण मानवमात्र बन जाते हैं—"तत्र सीतादिशब्दाः परित्यक्त-जनकतनयादि-विशेषाः स्त्रीमात्रवाचिनः।" (दशरूपक ४.४० वृत्ति), और ठीक यही तात्पर्य आध्यात्मिक क्षेत्र में ख्यात सिद्धान्त 'मधुमती भूमिका' का भी है।

२—"मन प्राकृतिक वस्तु को मानसिक बना लेता है और साहित्य उसी मानसिक व्यक्ति को साहित्यिक वस्तु बना लेता है।" साहित्य प्रकृति का अनुकरण नहीं, है अपितु कवि-मन की भावनाओं से निर्मित है। बाह्य प्रकृति को प्रत्येक व्यक्ति का मन अपने-अपने रूप में ग्रहण करता है, और जब ये विभिन्न रूप सुन्दर रूप में अभिव्यक्त होते हैं तो 'साहित्य' नाम से अभिहित होते हैं।

इस प्रकार ये तीन सोपान हुए : (क) बाह्य प्रकृति, जो सबके लिए एक-समान होती है। (ख) प्रकृति का प्रत्येक व्यक्ति के मन पर पड़ा हुआ प्रभाव, जो प्रत्येक मन की निजी स्थिति के अनुरूप भिन्न रूपों में स्वतः पड़ा जाकर केवल

व्यक्तिपरक रहता है। (ग) इस प्रभाव की सुन्दर अभिव्यक्ति अब व्यक्ति-निष्ठ न रह कर समष्टिनिष्ठ बन जाती है। अतः इस अभिव्यक्ति के सर्जक कवि की प्रतिभा को 'विश्वमानव-मन' भी कह सकते हैं।

गुरुदेव की इस धारणा में भी 'साधारणीकरण' सिद्धान्त का यह मूलभूत तत्त्व निहित है कि कवि की सृष्टि तभी काव्य का विषय बन सकती है जब वह सर्वसाधारण द्वारा ग्राह्य बन जाती है, तथा एक देश एवं काल तक सीमित न रह कर सार्वदेशिक एवं सार्वकालिक बन जाती है--

(क) ततः एव न परिमितमेव साधारण्यम्, अपितु विततम्।

(ख) यस्मां (नटादि-सामग्र्यां वस्तुसतां काव्यार्पितानां च देशकाल-प्रमाणादीनाम् × × × अपसारणे, स एवं साधारणीभावः सुतरां पुष्यति।

(२) जिस व्यक्ति को यह पहचान हो जाती है कि अमुक रचना 'विश्व-मानव-मन' से निःसृत हो कर देशकाल-निरपेक्ष बन गयी है, और अमुक ऐसी नहीं बन पायी तो वही सच्चा समालोचक कहलाता है। केवल बाह्य रूप-रंग तक जिनकी परख रहती है वे सच्चे समालोचक नहीं होते, व्यवसायी समालोचक होते हैं।

[५]

उक्त तीनों निबन्धों की ये सभी धारणाएं, माना कि, आज अत्यधिक चमत्कार-पूर्ण एवं नवीन प्रतीत नहीं होतीं, क्योंकि पाश्चात्य एवं भारतीय काव्यशास्त्र के आलोक में हिन्दी के अतिरिक्त बंगला, मराठी आदि अन्य आधुनिक भाषाओं में भी सैद्धान्तिक समालोचना-शास्त्र विविधता एवं मौलिकता की दृष्टि से प्रचुर मात्रा में उपलब्ध होने लगा है, किन्तु गुरुदेव रवीन्द्र के समय में इस प्रकार की धारणाएं प्रस्तुत करना निस्सन्देह चमत्कारपूर्ण तो था ही, साथ ही लेखक के गम्भीर चिन्तन का भी परिचायक था, और इन्हीं धारणाओं के ही बल पर हमें यह स्वीकार करने में तनिक संकोच नहीं है कि जिस युग में हिन्दी-काव्यशास्त्र अपने नूतन रूप में अभी प्रवेश तक न कर पाया था, उस युग में काव्यशास्त्रीय अभिरुचि को बनाये रखने में जिन काव्याचार्यों ने सहयोग प्रदान किया, उनके मध्य गुरुदेव रवीन्द्र का नाम भी अत्यन्त श्रद्धा एवं समादर के साथ लिया जाएगा।

ooo

२१. काव्यसृजन की प्रक्रिया : कवि, पाठक और समीक्षक का पारस्परिक सम्बन्ध

समीक्षक समीक्षण-कार्य करते समय कवि के मन की थाह भी लेता चलता है, और उसका प्रयास यह रहता है कि वह कवि के भावों के अनुरूप ही भावों का अनुभव अपने पाठकों को कराए।—और इसी प्रक्रिया के साथ—सीधे रूप से तो नहीं, पर विलोम रूप में—एक और समस्या जुड़ी हुई है कि काव्य का सृजन[1] करते समय कवि की स्थिति किस प्रकार की होती है। सामान्यतः, ऐसा प्रतीत होता है कि समीक्षण-कार्य करते समय समीक्षक का ध्यान कवि की रचना-प्रक्रिया पर नहीं जाता। उसे यह ज्ञात करने की आवश्यकता ही नहीं रहती कि रचना करते समय कवि की मनःस्थिति कैसी रही होगी—उसे तो बस 'रचित' रचना में ही आस्वादन प्राप्त करने के बाद उसका समीक्षण करना होता है, पर वास्तविक स्थिति यह नहीं है। माना कि बाह्य रूप में वह कवि की रचना से ही जुड़ा होता है, पर आन्तरिक रूप से वह कवि के हृदय से भी जुड़ा होता है—वह उसकी अनुभूतियों को समझ-परख रहा होता है, उसके मानसिक सुख-दुःख और राग-विराग की थाह पा रहा होता है, और इसी स्थिति के साथ-ही-साथ समीक्षक के मन में यह प्रक्रिया भी प्रकारान्तर से सम्बद्ध रहती है कि रचना करते समय कवि की मनःस्थिति किस प्रकार की रही होगी, तभी वह किसी कवि के सम्बन्ध में इस प्रकार के निर्णय दे पाने में समर्थ होता है कि वह किन-किन प्रसंगों में भाव-प्रवण हो उठा है और उसकी भाव-प्रवणता रचना में कितनी सीमा तक सार्थक सिद्ध हुई है,अथवा वह किसी अन्य कवि के सम्बन्ध में यह निर्णय देता है कि यह एक सामान्य कोटि का कवि है, जो मात्र घटना को ही लेखनी के बल पर प्रकट करना जानता है, मार्मिकता के क्षणों को वह अपनी कल्पना और अपने कवित्व-कौशल के बल पर उभार सकने में समर्थ नहीं हो पाता। अस्तु ! अब आइए, भारतीय काव्यशास्त्र की दृष्टि से काव्य-सृजन की प्रक्रिया जैसे महत्त्वपूर्ण विषय पर विचार-विमर्श करें।

---

१ संस्कृत में 'सर्जन' शब्द है, किन्तु हिन्दी में 'सृजन' प्रचलित हो गया है।

[१]

भारतीय काव्यशास्त्र में 'काव्य-सृजन' की प्रक्रिया के सम्बन्ध में विवेचन एक-साथ नहीं मिलता। हाँ, काव्यहेतु-प्रसंग के अन्तर्गत शक्ति अथवा प्रतिभा से सम्बन्धित विवेचन से विशेषतः, और काव्यप्रयोजन-प्रसंग तथा अन्य स्थलों से सामान्यतः, काव्य-सृजन की प्रक्रिया पर प्रकारान्तर से प्रकाश पड़ जाता है।

पहले काव्यहेतु-प्रसंग लीजिए। सर्वप्रथम भामह ने 'प्रतिभा' को काव्य का हेतु माना,[1] तथा साथ ही कवि से यह अपेक्षा रखी कि वह विभिन्न शास्त्रों का ज्ञाता हो।[2] भामह के बाद दण्डी ने तीन काव्य-हेतु माने—नैसर्गिक प्रतिभा, निर्मल शास्त्रज्ञान और अमन्द अभियोग (अभ्यास),[3] तथा रुद्रट और कुन्तक ने भी विभिन्न नामों से यही तीन काव्य-हेतु स्वीकार किये—शक्ति,व्युत्पत्ति और अभ्यास।[4] वामन ने भी तीन हेतु गिनाये—लोक (लोक-व्यवहार-ज्ञान), विद्या (विभिन्न शास्त्रज्ञान), और प्रकीर्ण। 'प्रकीर्ण' के अन्तर्गत उन्होंने छह हेतुओं को सम्मिलित किया—लक्ष्यज्ञता (काव्यों का अनुशीलन), अभियोग (अभ्यास) वृद्धसेवा (गुरु द्वारा शिक्षा-प्राप्ति), अवेक्षण (उपयुक्त शब्दों का चयन), प्रतिभान (प्रतिभा) और अवधान (चित्त की एकाग्रता)।[5] इस प्रकार वामन के अनुसार आठ काव्य हेतु हुए। सारग्राही मम्मट ने उपर्युक्त सभी काव्यहेतुओं को निम्नोक्त कारिका में प्रस्तुत किया है—

शक्तिर्निपुणता लोकशास्त्रकाव्याद्यवेक्षणात्।
काव्यज्ञशिक्षयाभ्यास इति हेतुस्तदुद्भवे ॥ का०प्र० १.३

अर्थात् (१) शक्ति, (२) लोक, काव्य, काव्यशास्त्र, व्याकरण आदि के अवेक्षण के द्वारा प्राप्त निपुणता, तथा (३) काव्य के मर्मज्ञ व्यक्तियों से प्राप्त शिक्षा के द्वारा अभ्यास—*इन तीनों का समन्वित रूप—काव्य-रचना का हेतु है।* स्पष्ट है कि मम्मट ने इन तीन काव्य-हेतुओं में पूर्ववर्ती आचार्यों द्वारा सम्मत सभी काव्य-हेतुओं को समाविष्ट कर दिया है, तथा इन तीनों की सत्ता को पृथक्-पृथक् स्वीकार न करते हुए इनके समन्वित रूप को ही काव्य का 'हेतु' माना है—हेतुर्न तु हेतवः।

---

१ गुरूपदेशादध्येतु शास्त्रं जडधियोऽप्यलम्।
काव्यं तु जायते जातु कस्यचित्प्रतिभावतः। का०अ० (भामह) १ ५

२. काव्यालंकार (भामह) १-९,१०

३. काव्यादर्श १ १०३

४ (क) काव्यालंकार (रुद्रट) १.४ (ख) वक्रोक्तिजीवित १. २४ वृत्ति

५. काव्यालंकारसूत्रवृत्ति १ ३ १,१-३ ११

अब काव्य-सृजन की पृष्ठभूमि में प्रतिभा पर प्रकाश डालना अपेक्षित है। शक्ति अथवा प्रतिभा के स्वरूप-विवेचन में विभिन्न काव्याचार्यों द्वारा प्रस्तुत निम्न परिभाषाएं प्रवेक्षणीय हैं—

रुद्रट—जिसके बल पर कवि अपने एकाग्र मन में विस्फुरित विभिन्न अभिधेय (वर्ण्य विषय) को अनुकूल शब्दों में अनायास अभिव्यक्त करता जाता है, उसे शक्ति (प्रतिभा) कहते हैं।[1]

भट्ट तौत—[वर्ण्य विषय को] नये-नये [रूपों] में उद्घाटित करने वाली प्रज्ञा को प्रतिभा कहते हैं—प्रज्ञा नवनवोन्मेषशालिनी प्रतिभा मता।

अभिनवगुप्त—अपूर्व वस्तु के निर्माण में समर्थ प्रज्ञा को प्रतिभा कहते हैं—प्रतिभाऽपूर्ववस्तुनिर्माणक्षमा प्रज्ञा।

मम्मट—कवित्व-निर्माण के बीज-रूप विशिष्ट संस्कार को शक्ति कहते हैं—शक्तिः कवित्वबीजरूपः संस्कारविशेषः। (काव्यप्रकाश १ ३ वृत्ति)

जगन्नाथ—काव्य की रचना के अनुकूल शब्दार्थ को प्रस्तुत कर देने की क्षमता प्रतिभा कहाती है—सा (प्रतिभा) काव्यघटनानुकूलशब्दार्थोपस्थितिः। (रसगंगाधर, १म भा०, पृष्ठ ६)

उक्त सभी परिभाषाओं का निष्कर्ष यह है कि काव्य-रचना के समय कवि वर्णनीय विषय को अपनी कल्पना-शक्ति के बल पर उसके अनुकूल शब्दार्थ के माध्यम से इस रूप में प्रस्तुत करते हैं कि वह पाठक के लिए हृदयहारी बन जाता है—और यह सब कर सकने की क्षमता—राजशेखर के शब्दों में—कवि की 'कारयित्री' प्रतिभा में होती है,[2] रुद्रट ने इसे 'सहजा प्रतिभा' कहा है,[3] और कारयित्री अथवा सहजा प्रतिभा को हम संक्षेप में 'प्रतिभा' कह देते हैं।

---

१. देखिए पृष्ठ ३५१ 'मनसि सदा···'

२. राजशेखर के अनुसार प्रतिभा दो प्रकार की होती है—कारयित्री (Creative) और भावयित्री (Contemplative)। सहृदय में केवल भावयित्री प्रतिभा होती है, जिसके आधार पर वह काव्य का आस्वाद प्राप्त करता है, और कवि में दोनों प्रतिभाएं होती हैं—सहृदय-रूप में वह काव्यास्वाद प्राप्त करता है तो कवि-रूप में काव्य का निर्माण करता है।

३. रुद्रट ने प्रतिभा के दो रूप किये हैं—सहजा और उत्पाद्या। उत्पाद्या प्रतिभा से उनका तात्पर्य है—व्युत्पत्ति और अभ्यास से 'उत्पन्ना' अथवा 'पोष्या' प्रतिभा।

काव्य-रचना करते समय प्रतिभा ही कवि का एक मात्र सबल होती है। केवल व्युत्पत्ति अथवा केवल अभ्यास अथवा केवल इन दोनों के बल पर काव्य-रचना सम्भव नहीं है। छन्द शास्त्र के आधार पर किसी इतिवृत्तात्मक कथन को पद्य में बाँध देने मात्र से वह रचना 'काव्य' नहीं कहाती, और न ही उस पद्य में किसी अलकार अथवा गुण के समावेश से उसे काव्य कहेंगे। प्रतिभा के अभाव में केवल 'अभ्यास' को भी काव्य-हेतु मानना संगत नहीं है,[1] क्योंकि विश्व में ऐसे अनेक कवि हैं, जिनकी पहली रचना ही अमर हो गयी है। वाल्मीकि का प्रथम श्लोक 'मा निषाद प्रतिष्ठां त्वमगम.....' इस तथ्य का सबल प्रमाण है। दण्डी ने यो तो उक्त तीन काव्य-हेतु माने, तथा साथ ही यह भी संकेत किया है कि 'प्रतिभा के अभाव में श्रुत (शास्त्र) और यत्न (अभ्यास) के द्वारा उपासिता सरस्वती किसी-किसी पर अनुग्रह कर ही देती है,'[2] पर उनके इस कथन का ही मानो आनन्दवर्धन ने खण्डन करते हुए कहा है कि 'किसी रचना में कवि की शक्ति (प्रतिभा) के अभाव से जन्य दोष तो तुरन्त और अनायास ही स्पष्ट रूप से दिखायी दे जाता है, पर व्युत्पत्ति के अभाव से जन्य दोष को कवि की प्रतिभा आच्छादित कर देती है।'[3] दूसरे शब्दों में, व्युत्पत्ति में अशक्ति-जन्य दोष को आच्छादित करने की क्षमता नहीं है। अतः प्रतिभा (शक्ति) ही काव्य-रचना का अनिवार्य हेतु है।

काव्य-रचना करते समय प्रतिभा के अतिरिक्त व्युत्पत्ति और अभ्यास की क्या स्थिति रहती है?—मम्मट ने प्रतिभा को कवित्व का बीज स्वीकार करते हुए भी शेष दोनों की अनिवार्यता की ओर भी स्पष्ट संकेत किया है—हेतुर्न तु हेतवः, और इस मान्यता की पुष्टि जयदेव ने इस प्रकार से की है कि 'जिस प्रकार लता की उत्पत्ति का हेतु मिट्टी और जल से युक्त बीज है, उसी प्रकार काव्य-रचना का कारण व्युत्पत्ति और अभ्यास से युक्त प्रतिभा है।'[4] किन्तु वस्तुतः, जयदेव का यह उदाहरण सुघटित

---

१. राजशेखर के अनुसार मंगल नामक किसी आचार्य ने केवल अभ्यास को काव्यहेतु माना है—'अभ्यास इति मंगलः।'

२. न विद्यते यद्यपि पूर्ववासनागुणानुबन्धि प्रतिभानमद्भुतम्।
श्रुतेन यत्नेन च वागुपासिताऽपि करोत्येव कमप्यनुग्रहम्॥ का० मा० १.१०४

३. अव्युत्पत्तिकृतो दोषः शक्त्या संव्रियते कवेः।
यस्त्वशक्तिकृतस्तस्य झगित्येवावभासते॥ ध्वन्या० ३.६ वृत्ति

४. प्रतिभैव श्रुताभ्याससहिता कवितां प्रति।
हेतुर्मृदम्बुसम्बद्धबीजोत्पत्तिर्लतामिव॥ चन्द्रालोक १.६

कुन्तक के कथनानुसार कवियों में प्रतिभा उनके स्वभाव के अनुरूप होती है—सुकुमार-स्वभाव-युक्त कवियों की प्रतिभा 'सहजा' (सुकुमार) होती है, विचित्र-स्वभाव-युक्त कवियों की प्रतिभा 'विचित्रा, और उभय-स्वभाव-युक्त कवियों की प्रतिभा 'मिश्रिता' शोभाशालिनी होती है।[1] कुन्तक की इस धारणा को काव्य-सृजन के प्रसंग में कहना चाहें तो यह सकते हैं कि रचना करते समय कवि की निजी प्रकृति भी उसका साथ देती चलती है, और यही कारण है कि कुछ कवि शृंगार, करुण, हास्य जैसे कोमल रसों से सम्बन्धित रचनाओं के प्रणयन में जितने सफल होते हैं, वीर, रौद्र, भयानक जैसे कठोर रसों के प्रणयन में वे उतना सफल नहीं होते। भवभूति उत्तररामचरित के माध्यम से करुण रस का (अथवा करुण-विप्रलम्भ शृंगार रस[2]) का उद्रेक करने में जितना सफल हुए हैं, उतना मालतीमाधव और महावीरचरित के माध्यम से क्रमशः शृंगार रस और और वीर रस के उद्रेक में सफल नहीं हुए।

कुन्तक-सम्मत काव्य के छह गुण—(क) औचित्य और सौभाग्य, तथा (ख) माधुर्य, प्रसाद, लावण्य और आभिजात्य—भी कवि के स्वभाव के द्योतक हैं। इनमें से प्रथम दो गुण साधारण कहाते हैं, क्योंकि ये दोनों कवि-स्वभाव पर आधृत उक्त तीनों मार्गों—सुकुमार, विचित्र और मध्यम—में समान रूप से और अनिवार्यतः रहते हैं। शेष रहे अन्तिम चार गुण। कुन्तक ने इनकी स्थिति सुकुमार और विचित्र मार्गों में भिन्न-भिन्न रूप से मानी है, तथा मध्यम मार्ग में यथाभिलाषित रूप में। अतः इन चार गुणों को हम उपर्युक्त दो 'साधारण' गुणों की तुलना में 'विशेष' गुण कह सकते हैं।

[३]

काव्य-रचना करते समय कवि की मन:स्थिति कैसी रहती है ? इस विषय पर भारतीय काव्यशास्त्र में स्पष्ट कथन नहीं मिलते, पर प्रकारान्तर से इधर-उधर बिखरे हुए संकेत अवश्य मिल जाते हैं। काव्य-प्रयोजन-प्रसंग में छह प्रयोजनों में से यश, अर्थ और अनर्थ-निवृत्ति का साक्षात् अधिकारी कवि को माना गया है, और व्यवहार-ज्ञान और कान्ता-सम्मित उपदेश का साक्षात् अधिकारी सहृदय को। किन्तु यह पाँचों प्रयोजन गौण हैं, छठा प्रयोजन इन सबसे उत्कृष्ट है, और वह है—सद्यःपरनिर्वृति, अर्थात् त्वरित आह्लाद-प्राप्ति अथवा रसास्वादन,[3] जिसका अधिकारी सहृदय तो है ही,

---

१. वक्रोक्ति-जीवित १.२४ वृत्ति

२ देखिए भारतीय काव्यशास्त्र पृष्ठ २४५-२५०

३. सकलप्रयोजनमौलिभूतं समनन्तरमेव रसास्वादनसमुद्भूतं विगलितवेद्यान्तरमानन्दम्। (का० प्र० १.२ वृत्ति)

साथ ही इसका अधिकारी कवि को भी माना गया है, किन्तु तत्क्षण के लिए कवि को भी सहृदय मान लिया जाता है।[2]

वस्तुत, इसी मान्यता मे ही उक्त प्रश्न के कि—'रचना-निर्मिति के समय कवि की मन स्थिति क्या होती है?'—विविध सकेत छिपे पडे है। रोहिताश्व के मृत शरीर पर हरिश्चन्द्र के विलाप को देख-सुनकर किसी भी व्यक्ति का शोकाकुल अथवा करुणार्द्र हो जाना नितान्त सम्भव था, किन्तु रस-सिद्धान्त के अनुसार काव्य-निर्माण के समय कवि के लिए यह समस्त घटना विशिष्ट न रहकर सधारण बन जाती है, और अब लौकिक कारण, कार्य और सहकारिकारण क्रमश विभाव, अनुभाव और सचारिभाव मे परिवर्तित हो जाते हैं—किसी भी दर्शक के समान कवि के लिए भी हरिश्चन्द्र अब पुत्र-विरह से सन्तप्त कोई पिता बन जाता है, और रोहिताश्व एक विशिष्ट पुत्र न रहकर कोई पुत्र बन जाता है। इस प्रकार यह घटना कवि के लिए देश-काल की सीमा से अनालिंगित हो जाती है। परिणामत., कवि 'निजत्व' और 'परत्व' तथा यहा तक कि 'उदासीनत्व' के बन्धन से मुक्त हो जाता है—उसकी यह स्थिति पूर्ववर्ती राग-द्वेष से मुक्त होती है, उसे किसी भी अन्य ज्ञान से वास्ता नही रहता—उसे अपने किसी सगे-सम्बन्धी के मृत पुत्र की—यहा तक कि यदि वह स्वय ऐसा दुर्भाग्यशाली व्यक्ति है तो अपने मृत पुत्र की—स्मृति नही आती, और यही उसकी रसास्वादन की स्थिति है, क्योकि इसी स्थिति मे उसका 'शोक' स्थायीभाव, विभाव आदि का संयोग पाकर करुण रस मे निष्पन्न हो जाता है। इसी स्थिति को 'वेद्यान्तरस्पर्शशून्य' माना गया है—और केवल इसी स्थिति मे ही वह समस्त साधारणीभूत घटना-चक्र को अपनी वाणी अथवा लेखनी की नोक पर लाने मे समर्थ हो सकता है—इसी क्षण उसका दोहरा व्यक्तित्व होता है—रसास्वादन के कारण वह सहृदय कहाता है, और काव्य-निर्मिति के कारण कवि।

लेखन-कार्य तो वस्तुतः रसानुभूति के साथ-साथ चलने वाली बाह्य क्रियामात्र है, रसानुभूति का सम्बन्ध तो कवि के आन्तरिक उद्वेगो और अन्तस्तल में उथल-पुथल मचा रहे भावावेशो के साथ है, जो काव्य-लेखन के रूप मे साथ ही साथ अभिव्यक्त हो रहे होते हैं। किन्तु जब कवि को भावानुकूल कोई समुचित शब्द नही मिल रहा होता, अथवा कोई नूतन वाग्विलास (अलकार) नही सूझ रहा होता, अथवा कथानक को कोई नया मोड देने के लिए उसे कोई सूत्र नहीं मिल रहा होता तो कवि की रसानुभूति

---

२. (क) कविर्हि सामाजिकतुल्य एव। अ० भा०, १म भाग, पृष्ठ २९५,
(ख) नायकस्य कवेः श्रोतुः समानोऽनुभवस्ततः। ध्व० लोचन, पृष्ठ ९२,
(ग) रसास्वादनकाले कवेरपि स्=न्ान्त-पातित्वात्। का० प्र० (बा०बो० पृष्ठ १०

मे बाधा भी पडती है, पर प्रथम तो सफल महान् कवियो के मार्ग मे ऐसी बाधाएं यदा-कदा ही आती है। जब वे समाधिस्थ होकर लिख रहे होते है तो इन्हें शब्द-चयन की आवश्यकता नही रहती, विषयानुकूल वाक्य-विन्यास स्वत. एव अनायास होता रहता है, फिर भी, उक्त बाधाए उसी प्रकार उपस्थित होती हैं, जिस प्रकार किसी पाठक को काव्य का कोई स्थल और किसी दर्शक को नाटक का कोई दृश्य समझ मे नही आ रहा होता, और इन बाधाओ के दूर होते ही कवि भी सामान्य सहृदय के समान, रसानुभूति की तरगो मे फिर से आप्लावित होकर रचना-कार्य मे लीन हो जाता है। अस्तु ! इस प्रकार हमने देखा कि काव्यप्रयोजन-प्रसग के अन्तर्गत रचना-प्रक्रिया का एक बहुमूल्य तत्त्व निहित है, और वह है—रसानुभूति के माध्यम से लेखन-कार्य में तल्लीनता।

तल्लीनता, चित्त की एकाग्रता अथवा समाधिस्थता काव्य-सृजन-प्रक्रिया की एक अनिवार्य शर्त है। कवि कालिदास ने अपनी रचनाओ मे इस तथ्य को अनेक स्थलो पर प्रकारान्तर से अभिव्यक्त किया है। केवल एक स्थल लीजिए—राजा अग्निमित्र ने मालविका का चित्र देखा तो उस पर मोहित हो गया, किन्तु साथ ही, उसके मन मे यह सन्देह भी बना रहा कि चित्रकार ने उसकी कान्ति का कही अधिक अंकन न कर दिया हो, पर जब उसे साक्षात् देखा तो उसे लगा कि चित्रकार उसके वास्तविक सौन्दर्य को अकित करने मे असमर्थ रहा है—यह तो चित्र की अपेक्षा भी कही अधिक कान्तिमती है, और कवि की इस असमर्थता का एक मात्र कारण है—चित्र-निर्माण के समय उसकी 'समाधि मे शिथिलता'—

> चित्रगतायामस्यां कान्तिविसंवादि मे हृदयम्।
> सम्प्रति शिथिलसमाधि मन्ये येनेयमालिखिता ॥[1] मालविकाग्निमित्र २.२

[४]

यो तो कवि प्राय. जगत् में घटित विषयो को अपनी कल्पना के बल पर काव्य का रूप दे देता है, किन्तु कुछ विषय ऐसे भी होते हैं जिन्हें कवि स्वयं गढ लेता है,[2] और इस दूसरी स्थिति मे इन्हें वह या तो स्वय कहता है या किसी पात्र के मुख से कहलवाता है। ध्वनि-काव्य के अनेक भेदो मे ये तीन भेद भी स्वीकार किये गये हैं। इनमे से अन्तिम

---

१. इसी प्रकार—'त्वामालिख्य प्रणयकुपितां···।' (मेघदूत, उत्तर० ४५) में भी कालिदास ने इसी आशय को प्रकट किया है।

२ ऐसे स्थलो मे जहा कवि कल्पना के बल पर किसी नूतन अथवा मौलिक उपमान का प्रयोग करता है, वहा वामन ने कान्ति गुण माना है। कान्ति कहते हैं—'उज्ज्वलता' को, और उज्ज्वलता से आशय है—नवीनता अथवा मौलिकता, और इसका अभाव 'पुराणच्छाया' कहाता है। (काव्यालंकारसूत्रवृत्ति ३ १.२५)

दो (१) कविप्रौढोक्ति-सिद्ध तथा (२) कविनिबद्धवस्तु-प्रौढोक्ति-सिद्ध भी प्रकारान्तर से 'सृजन-प्रक्रिया' की ओर निर्देश करते हैं। एक उदाहरण लीजिए—मानिनी मान किये बैठी है, किन्तु ज्यों ही उसका प्रियतम उसका गाढ आलिंगन करने के लिए उद्यत हुआ कि मानिनी का मान उसके हृदय से डर के मारे झट से निकल भागा कि कहीं वह इनके गाढालिंगन के बीच भिच न जाए—

गाढालिंगनरभसोद्यते दयिते लघु समपसरति।
मनस्विन्या मानः पीडनभीत इव हृदयात्॥ काव्यप्रकाश ४.६६

कवि की अभिव्यक्ति वही सफल मानी जाती है जिसमें सौन्दर्यजनक उपकरण सायास न भरे जाकर सहज भाव से प्रयुक्त हों। किसी महान् कवि की सृजन-प्रक्रिया पर ही मानो प्रकाश डालते हुए उपर्युक्त आशय को संस्कृत के काव्य-समीक्षक ने निम्नोक्त रूप में प्रस्तुत किया है—अलंकार का स्वरूप प्रयोग कवि के आयास पर निर्भर नहीं है। ये तो रस में दत्तचित प्रतिभावान् कवि के सामने एक के बाद एक, किसी प्रकार के आयास के बिना—हाथ बाँधे—चले आते हैं'—**अलंकरणान्तराणि हिनिरूप्यमाण-दुर्घटनान्यपि रससमाहितचेतसः प्रतिभावतः कवेरहम्पूर्विकया परापतन्ति।** (ध्वन्यालोक २.१६ वृत्ति)

कवि की सृजन-प्रक्रिया के सम्बन्ध में उक्त सभी प्रसंगों से बढ़कर एक प्रसंग और है। काव्य का आधार है—'भाव', अर्थात् स्थायिभाव एवं संचारिभाव, और इसे 'भाव' इसलिए कहा जाता है कि यह कवि की मूल अन्तःप्रवृत्ति को प्रकाशित करते हैं, **कवेरन्तर्गतं भावं भावयन् भाव उच्यते।** अर्थात्, जो उसके मन में है, वही शब्दार्थ (अर्थात् अभिव्यक्ति) के माध्यम से काव्य बन जाता है। यही कारण है कि किसी एक ही कथानक पर आधारित विभिन्न कवियों की रचनाओं में उस कथा के पात्र, कवि के मानसिक धरातल पर निर्मित होने के कारण, मूलतः एक होते हुए भी, अलग-अलग से दीखते हैं—वाल्मीकि, कालिदास, और इधर तुलसी और मैथिलीशरण गुप्त के राम स्पष्टतः अलग-अलग हैं। काव्य में वर्णित हो जाने पर राम-सीता, महादेव-पार्वती, दुष्यन्त-शकुन्तला आदि पात्र अब ऐतिहासिक अथवा पौराणिक पात्र न रहकर कवि के मानस पुत्र एवं पुत्रियां बन जाते हैं।[1]

---

१. इसी प्रश्न को रस-निष्पत्ति के प्रसंग में बहुविध रूपों में उठाकर अन्ततः यही स्वीकार किया गया है कि दर्शक और अभिनेता का सम्बन्ध ऐतिहासिक पात्रों से न होकर कवि-निर्मित पात्रों—कवि के मानस पुत्र-पुत्रियों—के साथ होता है, और फिर यह सम्बन्ध भी, साधारणीकरण-व्यापार के माध्यम से मिटकर रसानुभूति में सहायक बनता है।

[५]

काव्य-सृजन-प्रक्रिया के सम्बन्ध में, आइए, अब एक और दृष्टि से विचार करें। समीक्षक किसी काव्य-स्थल में सौन्दर्यजनक उपकरण के निर्णय करने के लिए, प्रायः सहृदय की दृष्टि से विचार करता है, किन्तु कभी-कभी वह कवि की विवक्षा का ही आधार ग्रहण कर लेता है। उदाहरणार्थ दो स्थल लीजिए—

(१) सकलकलं पुरमेतज्जातं सम्प्रति सुधांशुबिम्बमिव।[1]

इस पद्यांश में मम्मट और विश्वनाथ के अनुसार कवि की विवक्षा श्लेष के माध्यम से उपमा अलंकार को पुष्ट करना है। हमारे विचार में सहृदय वस्तुतः श्लेष चमत्कृत होता है, न कि उपमा से। अतः यहां श्लेष अलंकार मानना चाहिए, न कि उपमा अलंकार—क्योंकि कवि की विवक्षा से बढ़कर सहृदय के भावोद्वेलन को ही काव्यगत सौन्दर्य का निर्णायक मानना चाहिए। किन्तु इसके विपरीत निम्नोक्त पद्य में कवि की विवक्षा को ही आधार मानकर उत्प्रेक्षा अलंकार का चमत्कार माना गया है, न कि वीर रस का—

(२) विनिर्गतं मानदमात्ममन्दिराद् भवत्युपश्रुत्य यदृच्छयापि यम्।
ससम्भ्रमेन्द्रद्रुतपातितार्गला निमीलिताक्षीव भियामरावती ।।[2] का० प्र० १.५

[हयग्रीव के डर के मारे इन्द्र ने अपनी राजधानी अमरावती नगरी की अर्गला बन्द करली तो ऐसा प्रतीत हुआ मानो अमरावती-रूपी नायिका ने डर के मारे द्वार-रूपी अपने नेत्र बन्द कर लिये हों।]

इस स्थल में वीर रस की उद्भावना होने पर भी समीक्षक कहते हैं कि यहां कवि की विवक्षा, उत्प्रेक्षा अलंकार को ही प्रस्तुत करने में अधिक है न कि वीर रस को—उत्प्रेक्षायां कवेः तात्पर्यात् सतोऽपि वीर-रसादयो व्यंग्या: तिरोभीयन्ते। (काव्यप्रकाश, बा० बो० टीका, पृष्ठ २४)। टीकाकार का तात्पर्य यह है कि कवि को काव्य-रचना करते समय अमरावती को नायिका उत्प्रेक्षित करना जितना अभीष्ट रहा होगा उतना वीर रस का वर्णन नहीं।[1]

---

१. विशेष विवरण के लिए देखिए पृष्ठ २३४

२ शत्रुओं के अभिमान को चूर्ण-चूर्ण करने वाले जिस [हयग्रीव] को यों ही [घूमने के लिए, न कि अमरावती पर विजय प्राप्त करने के लिए] अपने महल से निकला हुआ सुनकर भी घबराये हुए इन्द्र के द्वारा जिसकी अर्गला डाल दी गयी है, ऐसी [इन्द्र की राजधानी] अमरावती ने मानो डर के मारे अपनी आंखें बन्द-सी कर ली हैं।

इस प्रकार के समीक्षण-संकेतों से हम यह निष्कर्ष निकाल सकते हैं कि काव्य-रचना के समय कवि का लक्ष्य वर्ण्य विषय के अनुरूप पदावली को प्रस्तुत करने का तो होता ही है, साथ ही, अपने वर्ण्य विषय को प्रभावशाली बनाने के उद्देश्य से वह उसे सामान्यतया प्रचलित अभिव्यक्ति में प्रस्तुत न कर उससे अतिशयित किसी विशिष्ट अभिव्यक्ति में प्रस्तुत करता चलता है, किन्तु उस समय उसे यह जानने की नितान्त चिन्ता नहीं रहती कि उसकी यह विशिष्ट अभिव्यक्ति काव्यशास्त्र के किस तत्त्व के अन्तर्गत आती है—और इस सब सृजनप्रक्रिया का मूल कारण है—प्रतिभा अथवा शक्ति, जिसकी सर्वश्रेष्ठ परिभाषा, हमारी दृष्टि में, रुद्रट ने निम्नोक्त रूप में प्रस्तुत की है—

मनसि सदा सुसमाधिनि विस्फुरणमनेकधाऽभिधेयस्य ।
अक्लिष्टानि पदानि च विभान्ति यस्यामसौ शक्तिः[1] ॥ का० अ० (रुद्रट) १.५५

अर्थात् जगत् के बहुविध विषय कवि के सुसमाधिस्थ मन में पैठकर जब सहज शब्दावली के माध्यम से प्रस्फुटित हो उठते हैं तो वे काव्य का रूप ग्रहण कर लेते हैं—और इस प्रक्रिया का मूलभूत हेतु है—रचयिता की प्रतिभा।

प्रसंगतः, यह उल्लेख्य है कि पाश्चात्य काव्यशास्त्री काव्य-सृजन की प्रेरणा आत्माभिव्यक्ति को स्वीकार करता है। 'यह प्रेरणा व्यक्ति के अन्तरंग, अर्थात् उसके भीतर होने वाले आत्म और अनात्म संघर्ष से उद्भूत होती है।'[2] इस शब्दावली से उक्त कथन से तुलना करने पर निम्नोक्त साम्य प्रकारान्तर से परिलक्षित होते हैं—

सुसमाधिस्थ मन = मनोजगत् (आत्मा)
अभिधेय = बाह्य जगत् अथवा वर्ण्य विषय (अनात्मा)
विस्फुरण = अभिव्यक्ति की अदम्य इच्छा
अक्लिष्ट पद = सुन्दर अभिव्यक्ति।

उपर्युक्त परिभाषा को समझने के लिए अब कालिदास का एक पद्य लीजिए, जिसमें काव्य-सृजन-प्रक्रिया पर ही मानो प्रकारान्तर से प्रकाश डाला गया है—

चित्ते निवेश्य परिकल्पितसत्त्वयोगाद्,
रूपोच्चयेन मनसा विधिना कृता नु ।
स्त्रीरत्नसृष्टिरपरा प्रतिभाति सा मे,
धातुर्विभुत्वमनुचिन्त्य वपुश्च तस्याः ॥ अभिज्ञान० २.९

---

१. देखिए पृष्ठ ३४४ (रुद्रट)

२. आस्था के चरण (डॉ० नगेन्द्र) में 'साहित्य की प्रेरणा' नामक लेख के आधार पर।

[राजा दुष्यन्त ने शकुन्तला के अपूर्व रूप को देखा तो विदूषक से बोला—एक ओर मैं शकुन्तला के अद्भुत रूप को देखता हूं, और दूसरी ओर विधाता की अद्भुत सृजन-क्षमता को देखता हूं तो मुझे ऐसा प्रतीत होता है कि शकुन्तला को गढ़ने के लिए विधाता ने पूर्णतः सत्वस्थ या समाहित होकर पहले इसे अपने चित्त में बिठाया होगा। उस समय उसके मन में रूप-सौन्दर्य का उफान उठ रहा होगा। और फिर, उसने एक ऐसा स्त्री-रत्न बनाया होगा जो—पुराने चौदह रत्नों से—नितान्त भिन्न बन गया।]

कवि भी ठीक ऐसा ही करता है। जगत् के किसी एक आकर्षक पदार्थ को देखकर पहले उसका मन उसके अपूर्व सौन्दर्य से अभिभूत हो उठता है, फिर सत्वस्थ अथवा समाहित होकर वह उसे अपने चित्त में बिठाता है, और फिर अन्ततः, उपयुक्त शब्दों के माध्यम से वह उसे एक ऐसा रूप दे देता है कि वह पदार्थ अब एक नूतन एवं विलक्षण रूप ग्रहण कर लेता है। और, इस कवि-रचना को पढ़-सुनकर हम लोग ऐसे चमत्कृत हो उठते हैं, जैसे दुष्यन्त विधि की रचना 'शकुन्तला' को देख आत्मविभोर हो उठे थे।

'चित्ते निवेश्य परिकल्पित सत्त्वयोगाद्' के स्थान पर 'चित्रे निवेश्य परिकल्पित-सत्त्वयोगा' यह पाठ भी मिलता है—'विधाता ने पहले शकुन्तला के रूप को अपने मानसिक चित्र में बिठाया, और फिर उसमें सत्त्व (प्राणों) का संचार कर दिया।' इधर, कवि भी तो अपने वर्ण्य विषय का एक चित्र अपने मन में अंकित करता है, और फिर अपनी कल्पना के माध्यम से उसमें प्राण का संचार कर उसे प्रमाता के लिए हृदयहारी बना देता है।

इसी प्रसंग में कालिदास का ही एक और कथन उल्लेख्य है जिसमें यह संकेत मिलता है कि कवि लेखन-कार्य के समय यथेष्ट मन:स्थितियों से भरा-पूरा होकर अभीष्ट वर्ण्य विषय को अपने मन में गढ़ लेता है, ऐसे, जैसे दिलीप की रचना करते समय विधाता सभी प्रकार की सामग्रियों से समाहित होकर ही यह कार्य सम्पन्न करने बैठा था—

तं वेधा विदधे नूनं महाभूतसमाधिना।[1] रघुवंश १.२९

[जिस सामग्री [redacted] ब्रह्मा ने पंचभूतों की रचना की थी, उसी सम्पूर्ण सामग्री[1] से उसने दिलीप की रचना की।]

---

१. समाधीयतेऽनेनेति समाधिः कारण-सामग्री। (मल्लिनाथ)
पूर्ण सामग्री की समाहिति के सम्बन्ध में यह घटना उल्लेख्य है—कहते हैं कि एक बार व्यासजी अपने विशाल तथा सर्वज्ञान-प्रदायक ग्रन्थ महाभारत की रचना से

[६]

इस प्रकार भारतीय काव्यशास्त्र की दृष्टि से काव्य-सृजन-प्रक्रिया के सम्बन्ध में समग्रत. कह सकते हैं कि—

कवि, रचना के क्षणों में, समाधिस्थ रहकर—परिणामत., जगत् के विभिन्न नियमों-उपनियमों, ऐतिहासिक तथ्यों और शास्त्रीय प्रतिमानों से नितान्त निरपेक्ष रहते हुए[1]—अपनी विषयवस्तु को, तदनुकूल पदावली के माध्यम से, नूतन, सर्वांग-पूर्ण एवं हृदयहारी रूप में अनायास अभिव्यक्त करता चलता है, और इस सब प्रक्रिया का आधारभूत एक मात्र कारण है—उसकी कारयित्री प्रतिभा, अथवा संक्षेप में कहें तो प्रतिभा अथवा शक्ति।

अन्तत, यह उल्लेख्य है कि कभी-कभी कवि काव्यशास्त्रीय अथवा छन्दःशास्त्रीय नियमों से निरपेक्ष न रहकर अनुप्रास, यमक, श्लेष, चित्र आदि शब्दालकारों को लक्ष्य में रखकर रचना करने लग जाता है, और कभी-कभी किसी इतिवृत्तात्मक तथ्य मात्र को बद्ध कर देता है। किन्तु इस प्रकार की रचनाओं को 'काव्य' न कहकर 'पद्यबद्ध इतिवृत्त' कहना चाहिए, अन्यथा वैद्यक शास्त्र, विधि-शास्त्र से सम्बन्धित रचनाओं को भी काव्य कहना पड़ेगा। पर वस्तुत, इस प्रकार की रचनाए वास्तविक काव्य कहाने की अधिकारिणी नहीं होतीं।

□□□

असन्तुष्ट होकर ब्रह्मा जी के पास पहुँचे तो उन्हें सुझाव दिया गया कि यदि आप पूर्ण पुरुष श्रीकृष्ण को चरित-नायक बनाकर कोई ग्रन्थ लिखेंगे तो आप को परम शान्ति एवं सन्तुष्टि मिलेगी—श्रीमद्भागवत इसी सुझाव का ही सुपरिणाम है, जो कि व्यास जी की शान्ति एवं सन्तुष्टि का कारण बना।]

१. (क) अपारे काव्यसंसारे कविरेकः प्रजापतिः।
यथास्मै रोचते विश्वं तथेदं परिवर्तते॥

(ख) नियतिकृतनियमरहिताम् ह्लादैकमयीमनन्यपरतन्त्राम्।
नवरसरुचिरां निर्मितिमादधती भारती कवेर्जयति॥ का०प्र० १-१


LIBRARY
GOVT. COLLEGE, KOTA
117571

सहायक-ग्रन्थ-सूची

[संस्कृत]

काल-क्रमानुसार

भरत	२री शती ई० पू० से २री शती ई० के बीच (अनुमानतः)	नाट्यशास्त्र
भामह	६ठी शती (मध्यकाल)	काव्यालंकार
दण्डी	७वीं शती (उत्तरार्द्ध)	काव्यादर्श
उद्भट	९वीं शती (पूर्वार्द्ध)	काव्यालंकारसारसंग्रह
वामन	८वीं-९वीं शती के बीच	काव्यालंकारसूत्रवृत्ति
रुद्रट	९वीं शती (प्रारम्भ)	काव्यालंकार
आनन्दवर्धन	९वीं शती (मध्यभाग)	ध्वन्यालोक
राजशेखर	८८०-९२० के बीच	काव्यमीमांसा
धनञ्जय	१०वीं शती	दशरूपक
अभिनवगुप्त	१०वीं-११वीं शती	अभिनवभारती, ध्वन्यालोकलोचन
कुन्तक	१०वीं-११वीं शती	वक्रोक्तिजीवित
भोजराज	११वीं शती (पूर्वार्द्ध)	सरस्वतीकण्ठाभरण, शृंगारप्रकाश
महिमभट्ट	११वीं शती (मध्यकाल)	व्यक्तिविवेक
क्षेमेन्द्र	११वीं शती (उत्तरार्द्ध)	औचित्यविचारचर्चा
मम्मट	११वीं शती (उत्तरार्द्ध)	काव्यप्रकाश
अग्निपुराण के काव्यशास्त्रीय भाग का कर्ता (?)	१२वीं शती के निकट (अनुमानतः)	अग्निपुराण
हेमचन्द्र	१२वीं शती	काव्यानुशासन

रामचन्द्र-गुणचन्द्र	१२वीं शती का पूर्वार्द्ध	नाट्यदर्पण
रुय्यक	१२वीं शती का मध्यकाल	अलंकारसर्वस्व
अमरचन्द्र	,, ,,	काव्यकल्पलतावृत्ति
जयदेव	१३वीं शती (मध्यकाल)	चन्द्रालोक
भानुमिश्र	१३वीं-१४वीं शती	रसमंजरी रसतरंगिणी
विश्वनाथ	१४वीं शती	साहित्यदर्पण
विश्वेश्वर कविचन्द्र	१४वीं शती	चमत्कार-चन्द्रिका
अप्पय्यदीक्षित	१६वीं-१७वीं शती	कुवलयानन्द
जगन्नाथ	१७वीं शती (मध्यभाग)	रसगंगाधर
अकबर शाह	,,	शृंगारमंजरी

[हिन्दी]

चिन्तामणि	शृंगारमंजरी
रामचन्द्र शुक्ल	रसमीमांसा, चिन्तामणि [दो भाग]
रामदहिन मिश्र	काव्यदर्पण
बलदेव उपाध्याय	भारतीय साहित्यशास्त्र [दो खण्ड]
नगेन्द्र	भारतीय काव्यशास्त्र की भूमिका, रस-सिद्धान्त, आस्था के चरण
भगीरथ मिश्र	हिन्दी-काव्यशास्त्र का इतिहास

[इंगलिश]

वी राघवन	नम्बर आफ रसे'स् सम कॉन्सैप्ट्स आफ अलंकारशास्त्र भोज'स् शृंगारप्रकाश शृंगारमंजरी आफ सन्त अकबरशाह

ooo